देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्।। ऋ० १/८९/२

ISSN : 2395-7115
Vol. 16, Issue 5
November 2022

Impact Factor
5.642

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

विशेषांक सम्पादक :
डॉ. सुलक्षणा अहलावत

सम्पादक :
डॉ. नरेश सिहाग, एडवोकेट

Publisher :
Gugan Ram Educational & Social Welfare Society (Regd.)
202, Old Housing Board, Bhiwani, Haryana-127021

स्व. चौ. गुगनराम सिहाग व उनकी छोटी बहन स्व. श्रीमती गीना देवी के शुभाशीर्वाद से प्रकाशित

JOURNAL OF HUMANITIES, COMMERECE, SCIENCE, MANAGEMENT & LAW

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

Vol. 16 ISSUE- 5 (नवम्बर 2022) ISSN : 2395-7115

प्रेरणा :

चौ. एम. सिहाग

सम्पादक :

विकास

प

सम्पादक :

डॉ. नरेश सिहाग 'बोहल', एडवोकेट

एम.ए. (समाजशास्त्र, लोक प्रशासन, हिन्दी शिक्षा शास्त्र, पत्रकारिता),
एम.फिल (समाजशास्त्र, हिन्दी) एम. लिब., एल–एल.बी. (ऑनर्स),
डिप्लोमा पंचायती राज (रजत पदक विजेता), पी.एच.डी. (हिन्दी)
डी.लिट् (मानद उपाधि), काठमांडू, नेपाल
विभागाध्यक्ष हिन्दी एवं शोध निर्देशक
टांटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर–335001 (राज.)

प्रकाशक :

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.)

202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड, भिवानी–127021 (हरियाणा)

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL REFEREED/REVIEWED AND INDEXED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL
ISSN 2395-7115

सम्पादकीय सम्पर्क :
डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट
202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड,
भिवानी–127021 (हरियाणा)
Email : nksihag202@gmail.com
मो. 09466532152

Published by :
Gugan Ram Educational & Social Welfare Society (Regd.)
202, Old Housing Board,
Bhiwani-127021 (Haryana) INDIA
Email : grsbohal@gmail.com
Facebook.com/bohalshodhmanjusha
Website : www.bohalsm.blogspot.com
WhatsApp : 9466532152

All Right Reserved by Publisher & Editor

Price

Individual/Institutional : 1100/-

Disclaimer :
1. Printing, Editing, Selling and distribution of this Journal is absolutely honorary and non-commercial.
2. All the Cheque/Bank Draft/IPO should be sent in the name of Gugan Ram Educational & Social Welfare Society payable at Bhiwani.
3. Articles in this journal do not reflect the Views or Policies of the Editor's or the Publisher's. Respective authors are responsible for the originally of their views/opinions expressed in their articles.
4. All dispute will be Subject to Bhiwani, Hry. Jurisdication only.

Printed by : Manbhawan Printers, Old Bus Stand Road, Naya Bazar, Bhiwani (Hry.)

बोहल शोध मंजूषा परिवार*

मानद संरक्षक

प्रो. राधेमोहन राय
पूर्व उप प्राचार्य,
राजकीय स्नातकोत्तर महा.,
अलवर, राजस्थान।

डॉ. राजेन्द्र गोदारा
परीक्षा नियंत्रक,
टांटिया विश्वविद्यालय,
श्रीगंगानगर, राजस्थान।

डॉ. विनोद तनेजा
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरूनानक वि.वि. अमृतसर
पंजाब।

सम्पादक मण्डल

सह सम्पादिका :
डॉ. रेखा सोनी
उप प्राचार्या, शिक्षा विभाग
टाटिया वि.वि. श्रीगंगानगर।

सह सम्पादिका :
डॉ. सुशीला आर्या
हिन्दी विभाग, चौ. बंसीलाल
विश्वविद्यालय, भिवानी।

प्रबंध सम्पादक :
समुद्र सिंह
भिवानी, हरियाणा।

विधि विशेषज्ञ

डॉ. रामफल दलाल, एडवोकेट
जिला न्यायालय
भिवानी, हरियाणा।

अजीत सिहाग, एडवोकेट
पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट,
चंडीगढ़।

चरणवीर सिंह, एडवोकेट
जिला न्यायालय
पटियाला, पंजाब।

विषय विशेषज्ञ/परामर्शदात्री/शोधपत्र निरीक्षण समिति

माई मनीषा महंत
किन्नर अधिकार ट्रस्ट
भूना, जिला कैथल, हरियाणा

डॉ. विश्वबंधु शर्मा
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बाबा मस्तनाथ वि.वि. रोहतक

डॉ. संजय एल. मादार
विभागाध्यक्ष, पी.जी. केन्द्र
द.भा.हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद।

डॉ. गीता दहिया, प्राचार्या,
नैशनल टीटी कॉलेज फॉर गर्ल्स
अलवर, राजस्थान

डॉ. विनोद कुमार
हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल
यूनिवर्सिटी, पंजाब

डॉ. कुसुम कुंज मालाकार
हिन्दी विभाग,कॉटन विश्वविद्यालय
गुवाहाटी, असम

डॉ. कैलाशचन्द्र शर्मा 'शंकी'
पूर्व जि.शि.अधिकारी, च. दादरी

श्री सहदेव समर्पित
सम्पादक, शान्तिधर्मी, जीन्द

डॉ. अंजली उपाध्याय
उत्तर प्रदेश

डॉ. लता एस. पाटिल
राजीव गांधी बीएड कालेज
धारवाड़, कर्नाटक

प्रो. अमनप्रीत कौर
गुरू तेग बहादुर खालसा कॉलेज
फॉर वूमैन, दसूहा, पंजाब

डॉ. राजपाल
राजकीय पी.जी. महाविद्यालय
हिसार, हरियाणा

प्रो. कमलेश चौधरी
राजकीय रणबीर महाविद्यालय
संगरूर, पंजाब

डॉ. परमजीत कौर
बरेली कॉलेज बरेली,
उत्तर प्रदेश।

डॉ. बी. संतोषी कुमारी
पी.जी.विभाग, दक्षिण भारत हिन्दी
प्रचार सभा, मद्रास

डॉ. पार्वती गोंसाई
सरदार पटेल वि.वि.,
गुजरात।

डॉ. मनमीत कौर
राधा गोविन्द वि.वि.,
रामगढ़, झारखण्ड।

डॉ. शबाना हबीब
त्रिवन्तपुरम, केरल

डॉ. मानसिंह दहिया
हरियाणा

प्रो. नरेन्द्र सोनी
डी.एन. कॉलेज, हिसार।

डॉ. इस्पाक अली
प्राचार्य, लाल बहादुर शास्त्री
शिक्षा महाविद्यालय, बेंगलूरू

डॉ. किरण गिल
दीनदयाल टी.टी. महाविद्यालय
बारी, जिला सीकर, राज.

डॉ. राजकुमारी शर्मा
नेपाल

श्री राकेश ग्रेवाल
सन जॉस,
कैलिफोर्निया, यू.एस.ए.

श्री राकेश शंकर भारती
यूक्रेन।

डॉ. विनोद कुमार शर्मा
टांटिया विश्वविद्यालय,
श्रीगंगानगर, राजस्थान।

डॉ. शिवकरण निमल
राजस्थान

डॉ. नीलम आर्या
उत्तर प्रदेश

प्रो. रोहतास
डी.एन. कॉलेज, हिसार।

प्रो. रेखा रानी
गवर्नमेंट कॉलेज
संगरूर, पंजाब

डॉ. सविता घुड़केवार
पीजी विभाग, दक्षिण भारत
हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

डॉ. श्रीविद्या एन.टी.
श्री शंकराचार्य संस्कृत वि.वि.
केरल।

डॉ. पंडित बन्ने
भारत महाविद्यालय,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

डॉ. उमा सैनी
आई.ए.एस.ई. विश्वविद्यालय
सरदारशहर, राजस्थान

डॉ. सुरजीत सिंह कस्वां
टांटिया विश्वविद्यालय,
श्रीगंगानगर, राजस्थान।

डॉ. राधाकृष्णन गणेशन
वाराणसी

डॉ. रवि सुण्डयाल
जम्मू कश्मीर

प्रो. सत्यबीर कालोहिया
पूर्व प्राचार्य

डॉ. के.के. मल्होत्रा
पूर्व विभागाध्यक्ष
गवर्नमेंट कॉलेज, गुरदासपुर

***सम्पूर्ण बोहल शोध मञ्जूषा परिवार/सम्पादक मण्डल अवैतनिक है।**

शोध–पत्र प्रकाशन के लिए निर्देश मंजूषा

गुगनराम सोसायटी (पंजीकृत) द्वारा शोधार्थियों व अध्येताओं के शोध/अनुसंधान की गतिविधियों को प्रोत्साहित करने हेतू बोहल शोध मंजूषा ISSN 2395-7115 नामक बहुभाषिक अंतर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। कला, संस्कृति, विज्ञान, वाणिज्य, मानविकी, प्रबंध, प्रौद्योगिकी, विधि, भूगोल, शिक्षा, पत्रकारिता पर केन्द्रीत इस शोध पत्रिका को विषय विशेषज्ञों तथा मनीषी विद्वानों की सक्रिय सहभागिता प्राप्त है। पत्रिका का वार्षिक शुल्क 1100 रु. है।

आप अपना शोध पत्र कम्प्यूटर से मुद्रित फोन्ट साईज 14, कृतिदेव–10, कृतिदेव–21 में व अंग्रेजी के Arial, Times New Roman में पेज मेकर या माइक्रोसोफ्ट वर्ल्ड में हमारी Email ID : grsbohal@gmail.com पर भेजें। शोध पत्र प्रेषित करने से पूर्व दिये गये सन्दर्भ, मात्रा आदि की पूर्णतया जाँच कर लें।

नोट :– उर्दू, पंजाबी आदि भाषा के शोध पत्र पेपर साईज 7x9.5 पर टाईप कराकर JPG या PDF फाईल हमारी ईमेल आई.डी. पर भेज सकते हैं।

हमारी पत्रिका में शोध पत्र लेखक के फोटो सहित प्रकाशित किये जाते हैं। इसलिए आप अपने शोध पत्र के साथ पासपोर्ट साईज फोटोग्राफ, सम्पर्क सूत्र; टेलीफोन, मोबाईल नं., ई–मेल तथा पिनकोड सहित पत्र व्यवहार का पूरा पता (हिन्दी व अंग्रेजी) कम्प्यूटर द्वारा टाईप करवाकर भेजें।

शोध पत्र 2000–2500 शब्दों (4–6 पेज) से अधिक नहीं होनी चाहिए, यदि शब्द सीमा अधिक होती है तो सम्पादक को अधिकार होगा यथा स्थान संक्षिप्तीकरण कर दें। अस्वीकृत शोध पत्र की वापसी संभव नहीं है।

पत्रिका में प्रकाशित श्रेष्ठ शोध पत्र को हमारी सोसायटी/पत्रिका की ओर से बहुउपयोगी श्रीमती गिना देवी शोधश्री सम्मान प्रदान किया जायेगा।

शोध पत्र में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है। शोध पत्र में प्रयुक्त किए गए तथ्यों के प्रति संबंधित लेखक उत्तरदायी होगा। पत्रिका में शोध आलेख प्रकाशन के लिए भेजने से पहले सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना लेखक का दायित्व है। प्रत्येक विवाद का न्यायक्षेत्र भिवानी (हरियाणा) होगा।

सम्पादकीय पद अव्यावसायिक और अवैतनिक हैं। पत्रिका में केवल शोध पत्र ही प्रकाशनार्थ भेजें। शोध पत्र का प्रकाशन योजना एवं व्यवस्था के अनुसार यथा समय व प्रकाशित समस्त शोध पत्रों का सर्वाधिकार समिति/सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

नोट :

सहयोग/सदस्यता राशि 1100/– रू. का ड्राफ्ट/चैक/आई.पी.ओ. 'गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी' के नाम भेजें तथा ऑनलाईन बैंक में सहयोग जमा राशि की रसीद की फोटोप्रति अपने आलेख के साथ हमें मेल कर सूचित करने का कष्ट करें ताकि समय पर रसीद भेजी जा सके। ऑनलाईन सहयोग राशि के साथ 50/– रू. अतिरिक्त अवश्य जमा करवायें। प्रकाशन सहयोग शुल्क वापिस देय नहीं।

बैंक का नाम	:	**पंजाब नैशनल बैंक, हालु बाजार, भिवानी (हरियाणा)**
खाता धारक का नाम	:	**गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी**
बैंक खाता संख्या	:	**1182000109078119**
IFSC Code	:	PUNB0118200
MICR CODE	:	127024003

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय	विकास	10–10
2.	शुभकामना संदेश	प्रो. ऋतु सिंह	11–11
3.	भारतीय संगीत कला का विकासात्मक परिदृश्य और महत्ता	अभिषेक कुमार यादव	12–16
4.	चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'गिलिगडु' में सांस्कृतिक मूल्य	अमनदीप कौर	17–20
5.	रामफल चहल की रचनाओं में सामाजिक संस्कार : एक संदर्भ	Anil Kumar, Dr. Sanjay Kumar	20-24
6.	भारतीय लोक संस्कृति की अवधारणा	अंजलि	25–29
7.	मैत्रेयी पुष्पा के कथा-साहित्य में सामाजिक जीवन का वर्णन	अनु, डॉ. ज्ञानी देवी	30–34
8.	संस्कृति एवं विरासत	अरविन्द कुमार	35–40
9.	The Characters of the Mahabharata are Symbols : A Study	Dr. Avijit Mandal	41-45
10.	भक्तिकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति और प्रकृति	डॉ. अवधेश कुमार	46–53
11.	संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा	दीपक कुमार, डॉ. अनिल कुमार	54–59
12.	संस्कृति एवं परम्परा 'छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति एवं परम्पराओं के संदर्भ में'	धनेश्वरी पटेल	60–63
13.	कुमाउँनी संस्कृति-विविध आयाम	दिनेशराम	64–69
14.	स्वयंप्रकाश के कथा साहित्य में निम्नवर्गीय जीवन का सांस्कृतिक अवलोकन	फुरकान शाह, डॉ. रश्मि कुमारी	70–74
15.	राजस्थान के लोक गीतों का स्त्रियों के जीवन पर प्रभाव	डॉ० गीता रानी	75–78
16.	भारतीय संस्कृति एवं संगीत	डॉ. गीता शर्मा	79–82
17.	लोक कलाओं का मानव जीवन पर प्रभाव	डॉ. हेमलता	83–88
18.	छत्तीसगढ़ के लोकनाट्य	डॉ. इसाबेला लकड़ा, हेमपुष्पा नायक	89–93
19.	ग्रामीण भारतीय संस्कृति का सजीव प्रतिबिम्ब 'गोदान'- अनुवाद की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन	इन्दु	94–100
20.	संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा	इंदु	101–105
21.	संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा	डॉ० जे०के० संत	106–108

22.	संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा	जयनारायन	109–112
23.	21वीं शताब्दी की महिला कहानीकारों की कहानियों में वर्णित सांस्कृतिक जीवन मूल्य	कफील अहमद, डॉ० कविता त्यागी	113–117
24.	समाज, संस्कृति : अवधारणा एवं स्वरूप	कोमल वर्मा	118–122
25.	संस्कृति के स्वरूप	कोमल	123–127
26.	समाज व संस्कृति का अन्तः सम्बन्ध	कमलेश	128–132
27.	मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास साहित्य में त्योहार-उत्सव	डॉ. लोकेश कुमार	133–136
28.	ग्रामीण परिवार	डॉ. ममता कुमारी	137–141
29.	भारतीय संस्कृति में संत-साहित्य विश्व कल्याण का परम आधार	मनीषा देवी	142–144
30.	पर्यावरणीय चुनौतियाँ एवं वैदिक कालीन दृष्टिकोण	डॉ. (श्रीमती) मंजुलता कश्यप	145–151
31.	भारतीय संस्कृति एवं पर्यावरण – एक अटूट रिश्ता	डॉ. दीपक सालवी, मोहम्मद रमजान	152–154
32.	भारतीय कला और उसकी अवधारणा	नवीन	155–158
33.	भारतीय रंगमंच कला	निर्देश कुमार	159–164
34.	संस्कृति का स्वरूप	पिंकी देवी	165–168
35.	भारतीय संस्कृति में संतों की देन	पिंकी देवी	169–175
36.	संस्कृति और उसके पक्ष	ए. पीटर राज	176–181
37.	संस्कृति : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप	पूजा	182–187
38.	'पकी जेठ का गुलमोहर' संस्मरण का सांस्कृतिक अध्ययन	पूजा शर्मा	188–191
39.	भारत में ऑनलाइन शिक्षा की चुनौतियां	प्रिया शुक्ला	192–195
40.	भारतीय संस्कृति में पर्यावरण	डॉ. परमानंद पाटीदार	196–202
41.	वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में मिथिला लोक संस्कृति की प्रासंगिकता	डॉ. पुष्पा कुमारी	203–208
42.	वैदिक संस्कृति में पर्यावरण चेतना	डॉ. राधा कुमारी	209–211
43.	भारतीय संस्कृति का इतिहास, वर्तमान एवं भविष्य	रक्षा	212–215
44.	संस्कृति व सभ्यता में अंतर	रश्मि	216–219
45.	केरल की संस्कृति और लोक परम्परा में तय्यम	डॉ. रेखा कुर्रे	220–226
46.	राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-साहित्य में अभिव्यक्त तिब्बतीय समाज एवं संस्कृति	रोहित प्रताप सिंह	227–231
47.	भारतीय संस्कृति में पर्यावरण	सन्दीप कुमार	232–236
48.	कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यास 'पुरवाई' में आदिवासी लोक कलाएं	सीमा देवी	237–239
49.	भारतीय संगीत का इतिहास	शिशिर देसाई	240–246

50.	कला एवं संस्कृति संचार के मुख्य माध्यम	सोनिका गुप्ता	247–252
51.	भारतीय कला एवं संस्कृति	सोनू बाला, डॉ. अनिल कुमार	253–257
52.	IMPLEMANTATION OF RIGHT TO INFORMATION AND IMPACT ON Indian Law and Culture	Suman	258-262
53.	भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में पर्यावरण	प्रो० (डॉ०) स्वर्णलता कदम	263–268
54.	वास्तुकला	तहुरानाज, डॉ, सोनिया यादव	269–273
55.	'कृष्णा सोबती' साहित्य में स्त्री का नया रूप : उनकी रचनाओं के अनुवाद पक्ष की सार्थकता	टीना	274–278
56.	भारतीय कला एवं संस्कृति	डॉ० ऊषा रानी	279–285
57.	शाहजहाँ कालीन स्थापत्य कला आगरा के विशेष सन्दर्भ में	उजमा तबस्सुम, डॉ. दीपक सालवी	286–291
58.	हरियाणा का लोक कला वैभव	डॉ. वंदना वर्मा	292–295
59.	भारतीय संस्कृति में पर्यावरण	डॉ. वेदप्रकाश	296–302
60.	CATHARSIS IN ART & CULTURE	Dr. Vinita Swarnkar	303-304
61.	संस्कृति और सभ्यता में अंतर	सपना पाटोदिया	305–307
62.	भारतीय संस्कृति में पर्यावरण	अनिता	308–312
63.	भारतीय व्रत-त्योहारों का सास्कृतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण	डॉ. माया दुबे	313–314

सम्पादक की कलम से.....

भारतीय संस्कृति के विविध आयामों में व्याप्त मानवीय तत्व उनके कला रूपों से प्रकट होते हैं। कला, संस्कृति की वाहिका है। मानवीय संबंधों और स्थितियों की विविध भाव लीलाओं और उदगीय माध्यमों से चेतना का कला उजागर करती है। भारतीय कला को जानने के लिए उपवेद, शास्त्र, पुराण और प्राचीन साहित्य का स्वाध्याय करना पड़ता है तभी हम संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि को अच्छे से समझ पाएंगे। श्री रामधारी सिंह दिनकर लिखते है, प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने आप में पूर्ण होती हैं। उसके सभी अंश और पहलु एक दूसरे पर अवलम्बित और सबके सब किसी केन्द्र से संलग्न होते हैं। संस्कृतियां जब बदलती हैं तब खान–पान, रहन–सहन, वेशभूषा भले ही बदल जाए किन्तु मन बदल जाता है किन्तु उनका मन, सोचने की पद्धति, जीवन को देखने का दृष्टिकोण नहीं बदलता। इसी प्रकार टॉयलर के अनुसार, संस्कृति वह संकुल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, प्रथा तथा अन्य क्षमताओं का समावेश रहता है। जिससे मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में उपार्जित करता है।

आजादी के बाद से मानव ने कला और संस्कृति को जीवित रखने के लिए अनेक महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में ऐसे पाठ्यक्रमों का निर्माण किया जिसे पढ़कर विद्यार्थी देश की विभिन्न संस्कृतियों को जान सके और हमारी संस्कृति जीवित रह सके। हमारा यह सदैव यह प्रयास रहता है कि कला, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर उच्च स्तरीय शोध आलेखों का प्रकाशन करें। समय–समय पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन करें तथा कला संस्कृति के क्षेत्र में उत्कृष्ठ योगदान करने वाले विद्वतजन को सम्मानित कर उनकी प्रतिभा को आमजन के सामने लाकर प्रेरित किया जाए। इसी प्रयास में गुरू फाउण्डेशन रोहतक एवं हरियाणा कला परिषद हिसार मण्डल के संयुक्त तत्वावधान में हिसार (हरियाणा) में एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। जिसमें देश भर से महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के शोधार्थियों, प्राध्यापकों से सहभागिता कर हमारा उत्साहवर्द्धन किया।

किसी भी देश के विकास में कला का महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत देश विविधताओं का देश है। भारत देश अपनी विभिन्न संस्कृतियों के लिए जाना जाता है। गीत, संगीत, लोक परम्पराओं, धार्मिक संस्कारों एवं अनुष्ठानों के क्षेत्र में इसका मुकाबला संसार का कोई भी देश नहीं कर सकता। विभिन्न राज्य सरकारों ने अपनी कला और संस्कृति को बढावा देने के लिए कला परिषद, कला निगम आदि विभागों का गठन भी किया हुआ है। जिसके माध्यम से वह अपने राज्य की कला एवं संस्कृति को बढावा देते हैं और वर्ष भर में विभिन्न स्थानों पर समागम करते रहते हैं।

वैदिक संस्कृति द्वारा सिन्धु घाटी की सभ्यता को प्रति स्थापित किया गया था। हालांकि सिंधु घाटी नष्ट हो चुकी है फिर भी सिंधु घाटी के अवशेष हमें मिलते रहते हैं। भारत देश का इतिहास लगभग 10 हजार वर्ष प्राचीन है फिर भी हमारी कला और संस्कृति आज भी हमारे पूर्वजों द्वारा सहेज कर रखी गई है। हमारी कला और संस्कृति को जानने, पहचानने के लिए विदेशी विद्वान हमारे यहां आते रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति है।

CHAUDHARY BANSI LAL UNIVERSITY, BHIWANI
(A State University established under Haryana Act No. 25 of 2014)

Registrar

No./CBLU/.2079..... Dated:..30-11-22.....

शुभकामना संदेश

डॉ0 नरेश सिहाग, एडवोकेट
सम्पादक, बोहल शोध मंजूषा
भिवानी (हरियाणा)

महोदय,

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आप द्वारा सम्पादित बोहल मंजूषा अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका का नवम्बर 2022 अंक कला एवं संस्कृतिः विविध आयाम विशेषांक के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है। यह विशेषांक विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोधार्थियों एवं प्राध्यापकों के लिए बहुउपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा मानना है।

इस विशेषांक के लिए मेरी ओर से बोहल शोध मंजूषा सम्पादक मण्डल को हार्दिक शुभकामनाएं।

30/11/2022

श्रीमती ऋतु सिंह
कुलसचिव,
चौधरी बंसीलाल विश्वविद्यालय,
भिवानी (हरियाणा)

Website: www.cblu.ac.in Phone : 01664-245220 cbluregistrar@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 12-16

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संगीत कला का विकासात्मक परिदृश्य और महत्ता

अभिषेक कुमार यादव

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

मानव सृष्टि के आरंभ से ही संगीत का उद्‌भव माना जाता है। यह अत्यंत प्राचीनकाल से ही हमारे जीवन में घुली–मिली है और मानव सभ्यता के साथ ही इसका क्रमिक विकास और परिवर्धन होता रहा है। विद्वानों द्वारा अभी तक कोई निश्चित समय–सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सका है। हमें ज्ञात है कि आरंभ में मानव जाति झुंड बनाकर वन–गुफा में रहता था और जंगली जीवन–यापन करते हुए शिकार और फल–फूल पर निर्भर था। वह अपने तमाम संघर्षों के बदौलत एक लंबे अरसे बाद आज इस सभ्यता तक पहुंचा है। इस दौरान सभ्यता विकास के प्रक्रिया में संघर्षों की अनेक गाथाएं और कई तरह के दुःख–सुख का भी अनुभव किया। इतना ही नहीं अपने मनोरंजन हेतु अनेक कलाओं को आत्मसात किया। जिसमें एक कला है संगीत। जो हमारे जीवनचर्या, संस्कृति और सभ्यता, पर्व–त्यौहारों और सामाजिक उत्सव आदि में शुरू से ही मौजूद रही है।

मानव जीवन के हर क्षेत्र में संगीत से गहरा संबंध है। यह कला धीरे– धीरे सभ्यता विकास के साथ मानव के जीवन में पूरी तरह घुल गयी और हमारी जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा बन गयी। इस संदर्भ में डॉ. रंजना त्रिपाठी कहती है कि "सभ्यता के विकास के साथ–साथ मानव ने घर बनाना सीखा जिससे ग्रामों की उत्पत्ति हुई। कला के रूप में संगीत सभ्यता के साथ ही विकसित हुआ। जनजीवन के प्रत्येक अवसर में संगीत सभ्यता के साथ ही विकसित हुआ। जनजीवन के प्रत्येक अवसर में संगीत ने अपना स्थान बनाया जिससे वह जीवन का आवश्यक तत्व बन गया। कोई भी उत्सव बिना संगीत से सम्पन्न नहीं होता था, अर्थात् संगीत जीवन से बंध गया।"[1] सच में आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संगीत की गूंज सुन सकते है। वसंत के संगीत, सावन के गाने, गांवों में फसल कटाई एवं बोवाई के संगीत, सामाजिक उत्सव एवं समारोह के संगीत, जन्मदिन और यहाँ तक की मृत्यु के अवसरों पर भी गाये जाते हैं।

साधारण भाषा में कहें तो संगीत का सीधा सा अर्थ है– गायन। 'सम्यक् गीतम् इति संगीतम्' अर्थात् ध्यानपूर्वक या एकाग्रचित्त होकर गाए गए गीत को संगीत कहते हैं। भारतीय परंपरा में संगीत का अर्थ विशद है। इसके अंतर्गत गायन, वादन तथा नृत्य तीनों कलाएँ आती हैं। ये तीनों कलाएँ एक–दूसरे पर आश्रित हैं और एक–दूसरे के बिना अधूरा भी। 'संगीत' शब्द गीत में सम् जोड़ने से बना है। सम् का आशय है– सहित और गीत का अर्थ है– गान; यानी नृत्य और वादन के साथ किया गया गान ही संगीत है। या कह सकते है कि गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों का समुच्चय ही संगीत है।

भारतीय संगीत कला का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि इन तीनों में गीत की ही प्रमुखता रही

है तथा वाद्य और नृत्य गीत के अनुगामी रहे हैं। संगीत की यह परंपरा आदिकाल से सतत् प्रवाहित है। जिसके अंतर्गत हमें सत्यम, शिवम और सुंदरम के दर्शन होते है। डॉ. रमेश ठकराल के शब्दों में "अनादि काल से मनुष्य अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति व विचारों तथा सूचनाओं के आदान–प्रदान के लिए हाव–भाव और भाषा का इस्तेमाल आदिम व अत्यंत जटिल, दोनों संचार पद्धतियों में करता आया है। संगीत रचना की प्रक्रिया भी अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण की ही एक प्रणाली रही है, जो समय के साथ विकसित होती गई और इस तरह कई शैलियों तथा स्वरूपों में वैसी ही समृद्ध व विविध बनी, जैसी स्वयं मानव जाति है।"[2]

भारतीय संगीत के उत्पत्ति के संदर्भ में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। इसकी उत्पत्ति वेदों से मानी जाती है। वेदों का मूल मंत्र है– ऊँ और इस ओम् शब्द में तीन अक्षर अ, उ तथा म् शामिल हैं। जो क्रमशः ब्रह्मा अर्थात् सृष्टिकर्ता, विष्णु अर्थात् जगत् पालक और महेश अर्थात् संहारक की शक्तियों के प्रतीक के रूप में माने जाते हैं। ये तीनों अक्षर ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद से लिया गया है। संगीत के सात स्वर सा (षड्ज), रे (ऋषभ), ग (गांधार), म (मध्यम), प (पंचम), ध (धैवत) तथा नि (निषाद) आदि वास्तव में ऊँ (ओम्) या ओंकार के ही अंतर्विभाग हैं। साथ ही स्वर तथा शब्द की उत्पत्ति भी ऊँ के गर्भ से ही हुई है। ऊँ अर्थात् सम्पूर्ण संसार का एक अंश हमारी आत्मा में निहित है और संगीत उसी आत्मा की आवाज है।

सर्वविदित है भारत एक धर्म प्रधान देश है और यही कारण है कि यहाँ हर कलाओं की उत्पत्ति में देवी–देवताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत की ही उत्पत्ति कोई शिव से, कोई ब्रह्मा से, कोई दुर्गा से, कोई सरस्वती से और कोई अन्य देवी–देवताओं से मानते है। एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि एक बार भगवान शंकर ने पार्वती को सोने के सिंहासन पर बिठाया। और उनकी बैठने की मुद्रा पर स्वयं इतने मुग्ध हो गए कि वे नृत्य करने लगे। उनके नृत्य को देखकर सभी देवता वहाँ इकट्ठा हो गये। सरस्वती ने अपनी वीणा झंकृत की, इन्द्र वेणु बजाने लगे, ब्रह्माजी कठताल, भगवान विष्णु की उंगली मृदंग पर चलने लगी और लक्ष्मी गीत गाने लगी। इस प्रकार गायन, वादन एवं नृत्य की एकरूपता से संगीत का जन्म हुआ। कुछ विद्वान इसकी उत्पत्ति ब्रह्मा जी से तथा इसके प्रचारक के रूप में नारदजी को मानते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि नारद ने इस कला का पूर्ण ज्ञान सरस्वती से प्राप्त किये और उसके बाद गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराओं को इसकी शिक्षा दी। नारद द्वारा ही संगीत को पृथ्वी पर प्रचारित किया गया, ऐसा भी उल्लेखित है। इस सन्दर्भ में डॉ. रमेश ठकराल भी बताते है "संगीत का सम्बन्ध देवी–देवताओं से भी जोड़ा गया है। किवदन्ती है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने सरस्वती देवी को और सरस्वती ने नारद को संगीत की शिक्षा दी। इसके बाद नारद ने भरत को और भरत ने नाट्यशास्त्र द्वारा जन साधारण में संगीत का प्रचार किया।"[3] संगीत को समस्त कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

भारत में संगीत की प्राचीन और समृद्ध विरासत रही है। प्रागैतिहासिक काल में ही इसके बीज अंकुरित हो चुके थे। सिंधु घाटी की सभ्यता में एक नृत्य बाला की मुद्रा में कांस्य मूर्ति और नृत्य, नाटक और संगीत के देवता रुद्र (शिव) की पूजा का प्रचलन के संकेत मिलते है। भारतीय संगीत का आदि रूप वेदों में ही देखने को मिलता है। वैदिक काल में संगीत का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। संगीत की शैली में भजनों और मंत्रों के उच्चारण से ईश्वर की पूजा की जाती थी। सुदर्शन कुमार कपूर बताते हैं– 'वीणा उस समय का लोकप्रिय वाद्य था। ऋग्वेद में मृदंग, वीणा, बंशी, डमरू आदि वाद्य यंत्रों का वर्णन मिलता है। 'नारदी शिक्षा' ग्रंथ में सामगान के बारे में विवरण दिया गया है। उत्तर वैदिक युग में प्रयोग किया जाने वाला संगीत व्यक्तिगत था।"[4]

भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत में भी संगीत के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। जैसा कि रामायण में रावण को संगीत शास्त्र का विद्वान बताया गया है। इतना ही नही इसमें भेरी, दुंदुभी, मृदंग, घट, वीणा आदि वाद्यों का भी वर्णन मिलता है। इसी तरह महाभारत में भगवान कृष्ण के संगीत के महान पंडित होने की जानकारी मिलती है। इनके बांसुरी में इतना जादू था, जिस पर सब लोग मुग्ध हो जाते थे। कालिदास के नाटकों में भी संगीत की चर्चा हुई है। मालविकाग्निमित्र जैसे नाटक में संगीत के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसमें संगीत में दो शिष्यों की पूरी प्रतियोगिता ही दिखाई गयी है। बौद्ध नाटक और जैनकोश में भी संगीत के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी दी गयी है। भारतीय संगीत का सबसे प्राचीन ग्रंथ भरत मुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' है। यह संगीत, वाद्य तथा नृत्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें इन कलाओं के सभी पक्षों का विस्तृत और महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। इसमें श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, जाति और ताल का विशद वर्णन किया गया है।

मध्यकाल का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मतंग द्वारा रचित 'बृहद्देशी' है। यह ग्रंथ तत्कालीन समय में प्रचलित विभिन्न संगीत शैलियों पर प्रकाश डालता है। इतना ही नहीं यह पहला ग्रंथ है जिसमें राग पद्धति का विवेचन किया गया है। जयदेव कृत 'गीत गोबिन्द' प्रसिद्ध रचना है। इसमें राधा कृष्ण के लीलाओं को बड़े सुंदर और मधुर रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें संगीत और नृत्य के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र के अनंतर सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' है। जिसके रचनाकर शारंगदेव है। इनका संगीत कला पर पूरा अधिकार था। यह ग्रंथ मध्यकालीन भारतीय संगीत का एक प्रामाणिक ग्रंथ है। जिसमें श्रुति, स्वर, मूर्छना, जाति, राग और ताल सभी पर प्रकाश डाला गया है। इसमें उत्तर और दक्षिण भारत के संगीत पद्धतियों की उल्लेखनीय जानकारी उपलब्ध होती है।

भारत में इस्लामिक सत्ता स्थापित हो जाने के बाद 14वीं और 15वीं शती में उत्तरी भारत के संगीत पर ईरानी संगीत का प्रभाव पड़ने लगा। भारत में इस तरह संगीत कला का परिवर्तन और क्रमिक विकास होता रहा है। जो पहले से विकसित अवस्था को प्राप्त होती गयी। इस संगीत कला के क्षेत्र में एक उल्लेखनीय नाम है–अमीर खुसरो जो एक महान कवि के साथ संगीतज्ञ भी थे। इन्होंने नये–नये रागों, तालों तथा वाद्यों की रचना की। जिसमें ईरानी धुनों का मिश्रण समाहित है। इनके बारे में कहा जाता है कि इनका दक्षिण भारतीय संगीत पर भी अधिकार था।

लोचन कवि के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रागतरंगिणी' का प्रणयन इसी काल में होने के संकेत मिलते है। इसमें उन्होंने प्राचीन राग–रागिनी पद्धति को छोड़कर ठाट राग पद्धति को अपनाया। 15वीं शती में ही चौतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बंगाल में भक्ति संगीत का बहुत प्रचार–प्रसार हुआ और संकीर्तन लोकप्रिय होता गया। डॉ. रमेश ठकराल भी बताते है "ग्यारहवीं शताब्दी में मुसलमान अपने साथ फारस का संगीत लाए। उनकी और हमारी संगीत पद्धतियों के मेल से भारतीय संगीत में काफी बदलाव आया। उस दौर के राजा–महाराजा भी संगीत–कला के प्रेमी थे और दूसरे संगीतज्ञों को आश्रय देकर उनकी कला को निखारने–सँवारने में मदद करते थे। बादशाह अकबर के दरबार में 36 संगीतज्ञ थे। उसी दौर के तानसेन, बैजूबावरा, रामदास व तानरंग खाँ के नाम आज भी चर्चित हैं।"[5]

मुगल बादशाहों में बाबर, हुमायूँ, और शाहजहाँ भी संगीत प्रेमी थे किन्तु अकबर ने संगीत को सबसे अधिक प्रोत्साहन किया। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन इनके नवरत्नों में शामिल थे। जिसने सैकड़ों ध्रूवपद और धमार

की रचना की। अकबर ने लाला कलावंत से हिन्दू संगीत की शिक्षा ग्रहण की। इसके अतिरिक्त अकबर ने वृन्दावन के वैष्णव संत हरिदास से संगीत सुना तथा उन्हें जंजीरें प्रदान की। सूरदास, नंददास, कुंभनदास, गोविंदस्वामी आदि कवि वैष्णव से प्रभावित थे। जिन्होंने 'विष्णुपद' की रचना की। जिसका गायन मंदिरों में होने लगा और बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। ये छंद में आबद्ध थे किंतु ध्रूवपद की शैली में गाए जाते थे। इसी तरह भक्तिकाल में संत और भक्त कवियों ने भी संगीत के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये। ये पूरे देश में भावनात्मक एकता और जागरूकता लाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन संत और भक्तो कवियों का संबंध देश के सभी क्षेत्रों और संप्रदायों से था। जाति और धर्म के बंधन को तोड़ते हुए परमात्मा के लिए भजन–कीर्तन एवं प्रचार–प्रसार करते थे। इनका मुख्य उद्देश्य लोगों में जागरूकता, सच्ची निष्ठा और समाज में एकता स्थापित करना था।

पुंडरीक विट्ठल संगीतशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। ये उत्तर भारतीय और कर्नाटक संगीत दोनों के पंडित माने जाते थे। इनके बारें में ऐसा कहा जाता है कि बुरहान खाँ ने उन्हें दोनों के समन्वय का आदेश दिया था। इनके षड्रागचंद्रोदय, रागमाला, रागमंजरी और नर्तननिर्णय नाम के चार ग्रंथो की जानकारी मिलती है। इन ग्रंथों में स्वयंभू स्वर का उल्लेख मिलता है। इसी तरह कर्नाटक संगीत के विद्वान् रामामाला ने 1550 ई. के आस–पास 'स्वरमेलकलानिधि' की रचना की। और 19 मेलों में रागों का वर्गीकरण किया। इनके ग्रंथ में भी स्वयंभू स्वर का उल्लेख मिलता है।

संगीत के विकास और प्रचार–प्रसार में विष्णु नारायण भातखण्डे तथा विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का नाम उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने देश में जगह–जगह संगीत का प्रचार–प्रसार किया और अनेक संगीत विद्यालयों की स्थापना की। संगीत सम्मेलनों को विचार विनिमय का माध्यम बनाया। जिसके फलस्वरूप जनसाधारण लोगों में भी संगीत के प्रति जागृति उत्पन्न हुई। इसी संदर्भ में सुदर्शन कुमार कपूर बताते है कि "संगीत भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है तथा यह धार्मिक पूजा और उपासना का अनिवार्य माध्यम है। इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सिखों के धर्म ग्रंथ 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब' के पदों की रचना अलग–अलग 51 रागों पर आधारित है तथा उन्हें गाने के लिए सिख रागियों (गायकों) को विशेष रूप में प्रशिक्षित किया जाता है। गुरूद्वारों में उनको सुनकर मन मुग्ध आलोकित हो जाता है तथा अद्भुत शांति मिलती है।"[6]

इस तरह संगीत की धारा अपने पुरातन काल से ही निरंतर प्रवाहित होती रही है। यह सदा समाज में जीवंत और हमारे आत्मा के बेहद करीब एवं महत्वपूर्ण रही है। समाज में शुरू से ही धर्म और अध्यात्मवाद रोम–रोम में व्याप्त रहा है। जो संगीत आध्यात्मिक, लौकिक तथा अलौकिक जगत से जुड़ा और नियमबद्ध एवं शास्त्रबद्ध हुआ, उसे शास्त्रीय संगीत कहा गया और जो संगीत व्यापक स्तर पर जनमानस का मनोरंजन करता रहा, वह लोक संगीत के अन्तर्गत आया। डॉ. चन्द्रशेखर झा इनकी महत्ता पर प्रकाश डालते है 'संगीत का प्रधान गुण रंजकता है, वह गुण शास्त्रीय तथा लोक संगीत दोनों में रहना आवश्यक है। शास्त्रीय संगीत के कलाकार कहीं चमत्कार को विशेष महत्व देते हैं तो कहीं भाव को महत्व देते हैं। भाव तथा चमत्कार दो भिन्न वस्तु है। भाव संगीत का आन्तरिक रूप है, तो चमत्कार उसका बाह्य रूप है। भाव अगर संगीत की आत्मा है तो चमत्कार बाहरी आडम्बर अथवा आभूषण। भाव हमें अलौकिक सुख का साक्षात्कार कराती है किन्तु चमत्कार क्षणिक एवं अस्थायी सुख का आभास दिलाता है।'[7]

मानव को आंतरिक शांति और सकारात्मक संदेश पहुँचाने हेतु संगीत बहुत ही शक्तिशाली माध्यम है। हमें

संगीत द्वारा काफी सहायता मिलती है,और यह हमारे जीवन को और भी अच्छा करने का कार्य करता है। संगीत की प्रकृति सदैव प्रोत्साहन तथा बढ़ावा देने की रही है। जो मनुष्य के नकारात्मक विचारों को हटाकर एकाग्रता की शक्ति को बढ़ाने का कार्य भी करता है। सच में के० वासुदेव शास्त्री के शब्दों में कहे तो "संगीत आनन्द का आविर्भाव है। आनन्द ईश्वर का स्वरूप है। संगीत के द्वारा ही दुख के लेश तक से भी सम्बन्ध न रखनेवाला सुख मिलता है। दूसरे विषयों से होने वाले सुखों के आगे या पीछे दुख की सम्भावना है परन्तु इस दुःखपूर्ण संसार में संगीत एक स्वर्गावास है।"[8]

संगीत भारतीय कला की सबसे खूबसूरत कृतियों में से एक है। सच कहें तो इसके प्रभाव से हमारे मन, शरीर और आत्मा को स्वस्थ और मजबूती मिलती है। इतना ही नहीं संगीत में एक दिव्य शक्ति है। यह हमारे मनोरंजन का एक बड़ा स्रोत है। यह लोगों को एक साथ बांधता है और अपने आंतरिक स्व से जुड़ने में मदद करता है। यह आत्म अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट माध्यम है। संगीत मानव जाति के मजबूती और उसकी भलाई के लिए आवश्यक है। सुदर्शन कुमार कपूर के शब्दों में "संगीत का जीवन से गहरा संबंध है। इसके बिना मनुष्य का जीवन नीरस तथा निर्जीव–सा हो जाता है। मनुष्य ही नहीं अपितु पशु–पक्षी भी संगीत पर मुग्ध होते हैं। सर्प का बीन की धुन पर मुग्ध होकर झूमना तथा कोयल का पंचम स्वर से कुहू–कुहू करना इसके उत्तम उदाहरण हैं। विषाद के क्षणों में संगीत लहरी ही मनुष्य में आशा की किरण बनकर उसे उन क्षणों से उबार लेती है। यह जीवन को सरस तथा मधुर बनाता है।"[9]

अतः स्पष्ट है संगीत मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी कला है। यह आत्मा एवं परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए एक उत्तम साधन भी माना जाता है। यह केवल मानव में ही नहीं, अपितु सभी जीवों में आनंद का संचार करता है और संसार में आनंद को ईश्वर का रूप माना गया है। यानि कह सकते है कि यह सभी में दुःखों और पीड़ाओं का नाश कर सुख का संचार करता है। यह मानव जाति के लिए एक तरफ नवचेतना एवं स्फूर्ति प्रदान करता है तो वही दूसरी तरफ स्वर–साधना में मार्ग प्रदर्शक की भूमिका निभाता है।

संदर्भ सूची :–

1. डॉ. रंजना त्रिपाठी :पूर्वी उत्तर–प्रदेश के लोक गीतों में संगीत शास्त्रीयता, हिदुस्तानी एकेदेमी, इलाहाबाद, पृ. 1
2. डॉ. रमेश ठकराल : नृत्य एवं संगीत कला, रोहित पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 90
3. वही, पृ. 88
4. सुदर्शन कुमार कपूरः भारतीय सांस्कृतिक विरासत एक परिदृश्य, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, पृ. 19
5. डॉ. रमेश ठकराल : नृत्य एवं संगीत कला, रोहित पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ.106
6. सुदर्शन कुमार कपूर : भारतीय सांस्कृतिक विरासत एक परिदृश्य, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली,पृ. 22
7. डॉ. चन्द्रशेखर झा : मिथिला के लोक संगीत का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 63
8. के० वासुदेव शास्त्री : संगीत शास्त्र, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृ. 1
9. सुदर्शन कुमार कपूर : भारतीय सांस्कृतिक विरासत एक परिदृश्य, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली,पृ.16

मो०– 8076573899, ईमेल– abhishekkmc01@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 17-20

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'गिलिगडु' में सांस्कृतिक मूल्य

अमनदीप कौर

असिस्टेंट प्रोफेसर, गुरु नानक खालसा कॉलेज, करनाल।

संस्कृति किसी राष्ट्रीय जाति की आत्मा होती है। संस्कृति मानव समाज की आंतरिक एवं बाह्य चेतना को लेकर मानवीय जीवन में सत्य शिव और सुंदर को प्रकाशित करने वाली तेजस्वी दीपिका है। संस्कृति से राष्ट्र अथवा जाति के साथ संस्कारों का बोध होता है जिनके अवलंबन से ही वह अपने सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। संस्कृति धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत एवं कला के रूप में व्यक्त होती है। नालंदा विशाल शब्द सागर में संस्कृति शब्द के बारे में बताया गया है"किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सभी बातें जो उसके मन ,रुचि, आचार–विचार, कला, कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती हैं। कल्चर। शुद्धि, सफाई।"[1] संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है। उसे अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने की कोशिश की है। संस्कृति के महान विचारक हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार" सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की व्यवस्था का नाम है और संस्कृति व्यक्ति के अंतर के विकास का।"2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी सभ्यता और संस्कृति को सर्वथा संबद्ध मानते हुए परस्पर भिन्न मानते हैं। संस्कृति मानव के समग्र जीवन को संचालित एवं संस्कारित करती है तथा सभ्यता से केवल बाह्याचार दृष्टिगत होते हैं। संस्कृति जीवन व्यापिनी चेतना है तथा सभ्यता शरीर पर धारण किए हुए आभूषण जैसी है। सभ्यता का संबंध शरीर से है तो संस्कृति का आत्मा से। सभ्यता बाह्य होती है, संस्कृतिक आंतरिक। भौतिक उन्नति को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है, संस्कृति आध्यात्मिक विकास से संबंधित होती है।

संस्कृति का संबंध मूल्यों से होता है। संस्कृति में परिवर्तन आने से सभी प्रकार के मूल्यों में परिवर्तन आने लगता है क्योंकि समाज की गतिविधियां संस्कृति पर आधारित होती। भारत देश की संस्कृति के प्राचीन रीति रिवाज, परंपरा, अनुष्ठान संस्कार, तीज, त्यौहार, विश्वास, खानपान एवं पहनावा आज भी कम ज्यादा मात्रा में मौजूद है। भारतीय संस्कृति के उच्च मूल्यों में करुणा संयम, क्षमा, परोपकार, शांति, सत्य, अहिंसा, त्याग, सहनशीलता, क्षमता आदि महत्वपूर्ण माने गए हैं। महात्मा गांधी, महात्मा फुले, डॉक्टर साहेब अंबेडकर जैसे महामानवों का तत्वज्ञान देश के लिए आवश्यक है। यहां किसी एक जाति या धर्म को विशेष महत्व ना देकर विश्व बंधुत्व का भावना, पारस्परिक सहयोग, सहकारिता, आत्मीयता समन्वय, लोक चेतना को प्रेरित किया है। कोई चीज कितनी भी सुंदर क्यों ना हो समय चक्र अनुसार उसमें परिवर्तन होता रहता है। इतिहास इस बात की गवाही देता है कि हमारी संस्कृति में निरंतर कई मोड़ आए हैं और आते रहेंगे। आज के वर्तमान संक्रमण युग में एक और प्राचीनता का मुंह है तो दूसरी ओर नई शिक्षा और पाश्चात्य विचारों का प्रभाव है। अंग्रेज राज समाप्त

हुआ, परंतु उनकी सभ्यता और संस्कृति ने हमें हमेशा के लिए गुलाम बना दिया है जिससे हमारी गौरवशाली संस्कृति परंपरा हमें निरर्थक लगने लगी। डॉक्टर प्रदीप शर्मा के अनुसार "आधुनिक युग में सांस्कृतिक मूल्य को तर्क और उपयोगिता की कसौटी पर कसा जाने लगा है। आधुनिक शिक्षा प्रसार के कारण नारी जागृति चरमोत्कर्ष पर है। परिणाम स्वरूप बौद्धिकता को प्रधानता प्राप्त हुई धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़ियों की दीवारें गिरने लगी है। विज्ञान के नए–नए आविष्कारों का प्रभाव आधुनिक युग पर पड़ा है। शिक्षा के कारण देश–विदेश से संपर्क स्थापित हो रहा है। इस स्थिति में भारतीय समाज को पूरी तरह से प्रभावित किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संस्कृति और साहित्य की दुनिया में संक्रमण की स्थिति देखी गई और यह स्थिति यहां तक है कि हमारे परंपरागत सारे मानदंड और मूल्यों के आधार ही जैसे उखड़ गए हैं। भारतीय जीवन में परिवार धर्म, प्रेम और सामाजिक आचरण की मर्यादा यह निश्चित हो गई हैं।"[3] सांस्कृतिक धारणा, परंपरा, विश्वास एवं मूल्यों का संक्रमण तथा विघटित रूप चित्रा मुद्गल ने अपने उपन्यास 'गिलिगडु' में दर्शाया है जिस पर आगे चर्चा की जा रही है।

पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव :–

आलोच्य उपन्यास में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव को दृष्टिगोचर करते हुए पाश्चात्य शिक्षा, विचार, साहित्य, फिल्में, दूर संचार के साधन आदि के कारण भारतीय रहन–सहन खानपान, भाषा, नारी पर प्रभाव डाला है, जिसके परिणाम स्वरूप उसमें काफी परिवर्तन हुए हैं। संस्कृति और सभ्यता इनमें से मुख्यतः सभ्यता को यहां केंद्रित किया गया है। इस उपन्यास में संस्कृति के विपक्ष की ओर अधिक। उद्घाटन किया गया है।

रहन–सहन पर प्रभाव :–

मानव जिस समाज में रहता है उस समाज का अपना एक विशिष्ट रहन–सहन होता है जो वहां के लोग अपने देश समाज की संस्कृति से ग्रहण करते हैं। नालंदा विशाल शब्द सागर में 'रहन'शब्द का अर्थ है, "रहने की क्रिया या भाव आचार व्यवहार और रहन–सहन का अर्थ है,"जीवन बिताने और काम करने का ढंग"।[4] आलोच्य उपन्यास में रहन–सहन में जो पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है, उसको दृष्टिगोचर किया गया है और इसमें महानगरीय जीवन को भी उद्घाटित किया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संस्कृति और साहित्य की दुनिया में संक्रमण की स्थिति देखी गई और यह स्थिति यहां तक है कि हमारे परंपरागत सारे मानदंड और मूल्यों के आधार ही जैसे उखड़ गए हैं। भारतीय जीवन में परिवार धर्म, प्रेम और सामाजिक आचरण की मर्यादा यह निश्चित हो गई हैं। चित्रा मुदगल के उपन्यासों में मनोरंजन के साधनों का उल्लेख हुआ है। महानगरीय लोग अपनी अपनी पसंद के अनुसार उनका लाभ उठाते हैं। यहां पर कुत्ते की भी अपनी पसंद है। बाबू जी द्वारा समाचार देखना उसे पसंद नहीं, परंतु सुष्मिता सेन का महबूब मेरे महबूब तेरी आंखों से शराब पीने दे जैसा अश्लील हाव भावों का गीत देखते ही उसकी कूंकुआहट मंत्रमुग्धता में तब्दील होती है। तब बाबू जसवंत सिंह सोचते," समझ नहीं पाई, ना कोई उन्हें समझा ही सकता है कि जो भाषा टॉमिको समाचारों में नहीं रुचती, सुष्मिता सेन की अदाओं के साथ कैसी अच्छी लगती है।"[5]

खानपान पर प्रभाव :–

वेशभूषा रहन–सहन की तरह पाश्चात्य प्रभाव खानपान पर भी पड़ा है। दाल चावल, सब्जी, रोटी की बजाय फास्ट फूड, स्नैक्स, पिज़्ज़ा, बर्गर, चाइनीस, वड़ापाव, लॉलीपॉप जैसी चीजें खाना लोग पसंद कर रहे हैं। शक्ति के लिए लोग पहले दूध पीते थे। आज आधुनिक त्रस्त होकर बियर पी रहे हैं। बड़े से बड़े बच्चे भी

इसका अनुकरण कर रहे हैं। चित्र मुद्गल ने आलोच्य उपन्यास में खानपान पर पड़े इस पाश्चात्य प्रभाव को व्यक्त किया है। उपन्यास में कर्नल स्वामी की जुड़वा, पोतियो, कुमुदनी और कात्यायनी अपने दादा को ब्लैकमेल करती हैं और दंड के रूप में कुछ वसूलती हैं। "जूते पसंद करने दोनों अप्पू के साथ मार्केट चलेंगी। खरीदारी के बाद अब्बू उन्हें मैकडॉनल्स में खिलाएंगे भी चिकन बर्गर फ्रेंच फ्राई के साथ बर्गर के साथ कोई उपहार भी मुफ्त मिलेगा। उन्हें टी.वी. पर बताया गया है। वहां से वे आइसक्रीम खाने निःलास भी जाएंगी।"[6] बाबू जसवंत सिंह बूढ़े हैं। उन्हें देसी खाना पसंद है, परंतु उनकी बहू उन्हें पिज़्ज़ा, बर्गर, नूडल्स, रशियन सलाद वगैरह–वगैरह देती है जो इन्हें निभाते हैं ना हजम होते हैं।

भाषा पर प्रभाव :–

भाषा सामाजिक उपलब्धि है। भाषा मनुष्य की भावाभिव्यंजना का प्रमुख साधन मानी जाती है। उसमें भी मात्र भाषा भाषा के द्वारा व्यक्ति सहजता के साथ ज्ञानार्जन करता है। आज के भूमंडलीकरण के जमाने में वैश्वीकरण के कारण अच्छी आजीविका पाने के लिए भौतिक उन्नति के लिए अंग्रेजी भाषा का महत्व आसमान तक बढ़ गया है। आज वह विश्व भाषा के रूप में प्रचलित है। भारत देश में अंग्रेजी शासनकाल में ही शिक्षा का प्रारंभ हुआ था। अतः उस काल सी भाषा पर पाश्चात्य प्रभाव लक्षित होता है। चित्र मुद्गल ने अपने उपन्यास गिलिगडु में इस भाषा के प्रभावित होने को रेखांकित किया है। अपने बोलचाल में सहजता के साथ अंग्रेजी वाक्यों का प्रयोग करते हैं। जैसे "बाय द वे हमें विष्णु नारायण स्वामी कहते हैं माय गॉड सर लीव लाइक शेर अपनी तरह से।"[7]

फ्लैट संस्कृति :–

महानगरों में जहां जगह की कमी के कारण पाश्चात्य स्थापत्य शास्त्र के प्रभाव से ऊंची ऊंची आलीशान इमारतों का निर्माण हो रहा है। साथ ही साथ उन इमारतों के फ्लैटों में रहने वालों ने पाश्चात्य प्रभाव भी ग्रहण किया है। महानगरों में बढ़ती आत्म केंद्रित एवं व्यक्तिगत भावना ने पड़ोसियों से आपसी व्यवहारों को आघात पहुंचाए हैं। फ्लैट संस्कृति में व्यक्ति टंगे के घोड़े समान चलता है। बाजू के मकान में क्या चल रहा है, कौन रह रहा है उनके सुख–दुख को से कुछ भी लेन दे नहीं रहता जिससे पड़ोसियों के जो सहयोग, स्नेह, मदद की भावना, मानवीयता की भावना जैसे मूल्य विघटित हो रहे हैं। इन बातों को आलोच्य उपन्यासों में भी रेखांकित किया गया है। इस उपन्यास में 'मंगल भवन' में अकेले रहने वाले हरिहर की मृत्यु तीव्र हृदयाघात से हुई है। किसी को पता नहीं।"..... तीन रोज बाद घर का दरवाजा तोड़ा गया। बदबू ने पड़ोसियों को परेशान किया तब! पीढ़ी बदल गई थी 'मंगल भवन' की। कब आता–जाता था, किसी को कोई लेना–देना नहीं था।"[8] इस तरह से पाश्चात्य प्रभाव के कारण पड़ोसियों के संबंधों में संक्रमण हुआ है और सहचार्य आपसी स्नेह ने बंधुता, सहयोग जैसे मूल्यों का विघटन हुआ है।

क्लब संस्कृति :–

महानगरों में उच्च वर्ग और उच्च वर्ग के लोग अक्सर क्लबों में जाते हैं। पार्टियों का आयोजन करते हैं। वहां पर जो व्यवहार होते हैं, उनसे नैतिक मूल्यों का विघटन होता है। पार्टियों में लेनदेन के व्यवहार होते हैं। शराब और शबाब का माहौल होता है। लोगों का मिलना बातें करना ऊपरीहोता है या उसमें भी कुछ स्वार्थ, फरेब, दिखावा होता है। जिसका आलोच्य उपन्यास में भी चित्रण किया गया है। उपन्यास में' बाबू जसवंत सिंह के पोते

बल्ले का जन्मदिन 18 नवंबर को है। अतः दादा जसवंत सिंह पोते का जन्मदिन सह परिवार मैकडॉनल्स में मनाना चाहते हैं। सारा खर्च वही करेंगे। बच्चे हैं कि अपने साथ बूढ़ों को बड़ों को नहीं ले जाना चाहते क्योंकि पार्टी बोर हो जाती है।'[9] हमारे यहां जन्मदिन पर बड़े बूढ़ों का आशीर्वाद लिया जाता है, परंतु पाश्चात्य प्रभाव के कारण बच्चे बड़ों को ही टाल रहे हैं। उन्हें बड़े बूढ़ों की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि चित्रा मुद्गल ने अपने उपन्यास गिलिगडु में पारिवारिक मूल्यों के अंतर्गत माता–पिता संतान के संबंधों के बारे में लिखा है जिसमें नरेंद्र और उनके बच्चे बड़े होकर अपने माता–पिता को कूड़े कचरे की तरह वृद्ध आश्रमों में फेंक देते हैं। जहां मुंबई जैसे महानगरों में जगह की कमी होना, बेटा–बहू, नौकरी पेशा होना, विदेशों में जाना, माता–पिता को लेकर बेटे बहू के झगड़े होना आदि समस्याओं के कारण माता–पिता से बच्चों के संबंधों में बिखराव आया है। जिससे भारतीय सांस्कृतिक मूल्य भी प्रभावित हुए हैं।

संदर्भ :–

1. श्री नवलजी (संपा), नालंदा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ 1388
2. हजारी प्रसाद दिवेदी, विचार और वितर्क, पृष्ठ 191
3. प्रदीप शर्मा, हिंदी उपन्यासों का शिल्प विधान, पृष्ठ 95
4. श्री नवल जी (संपा), नालंदा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ 116
5. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, पृष्ठ 11
6. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, पृष्ठ32
7. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, पृष्ठ 63
8. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, पृष्ठ 53
9. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, पृष्ठ 74

Address :

Amandeep Kaur w/o Manjinder Singh, Vill. Balahi (Sidhu Farm),

Post Office Dabkheri, Teh Thanesar, Distt. Kurukshetra (Haryana) Pincode 136119,

Ph No. 9896929241

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 20-24

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

रामफल चहल की रचनाओं में सामाजिक संस्कार : एक संदर्भ

Anil Kumar, Research Scholar,
Dr. Sanjay Kumar, RESEARCH SUPERVISOR, ASSISTANT PROFESSOR
OM STERLING GLOBAL UNIVERSITY, HISAR

परंपरा, प्रथा, परिपाटी, रीति–रिवाज तथा रस्म और व्यवहार इत्यादि शब्दों का प्रयोग समान रूप में किया जाता हैं लेकिन हरियाणा में रीति–रिवाज सब ही अधिक प्रचलित हैं। शिक्षित अशिक्षित व गांव में बसने वाले सभी साधारण स्त्री पुरुष इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। कुछ रिवाज तो सामाजिक मेलजोल से पनपते हैं तथा कुछ सामाजिक धार्मिक रीतियों के नाम से जाने जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है। मुख्य रूप से दो ही भूमिका मुख्य हैं –आर्थिक भूमिका तथा पारिवारिक भूमिका। आर्थिक भूमिका को ही सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। क्योंकि मनुष्य अपने जीवन का अधिकांश इसी को समर्पित करता है।

हर व्यक्ति 20 से 24 वर्ष की आयु से धन कमाना शुरू करता है और 60 से 65 वर्ष की आयु तक इसी में व्यस्त रहता है। वह रोजाना 8 से 10 घंटे तक इसी कार्य में व्यतीत कर देता है। इसलिए आर्थिक भूमिका को ही अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। लेकिन विवाह संबंध आर्थिक संबंधों से अलग होता है और यौन संबंध स्त्री और पुरुष के बीच स्थाई तथा निकटतम संबंध स्थापित करते हैं। हमारे यहां प्राचीन काल से ही गर्भाधान से मृत्यु तक परिभाषित करने के लिए 16 संस्कारों का विधान था। कालांतर में से कुछ सरल कर दिया गया और अब केवल 5 संस्कार है। मगर हरियाणा में जन्म विवाह तथा मृत्यु 3 संस्कारों का ही प्रचलन है जिनका परिचय इस प्रकार है

गर्भाधान :–

गर्भाधान का अर्थ है– औरत के गर्भ में बच्चे का फैसला अर्थात जीवन में नए सदस्य का आना। इस अवसर पर घर पर हवन होता है और सभी रिश्तेदारों सगे संबंधियों को सूचना दी जाती है और लोकगीतों के माध्यम से बच्चे के विषय में बताया जाता है। और जब विवाहिता गर्भवती होती है तो उसकी मां के द्वारा मिठाई और चावल भेजे जाते हैं। इसे मीठा बोहिया कहते हैं। साथ में सूट और कुछ पैसे दिए जाते हैं। हरियाणा में पुत्र को शुभ और पुत्री को अशुभ माना जाता रहा है। पुत्र जन्म होते ही कांसे की थाली बजाई जाती है। मगर कन्या के जन्म होने पर खुशियां नहीं मनाई जाती है। पुत्री के जन्म पर ठीकरा फोड़ने की जा रही है और इस प्रकार का वर्णन गीत के माध्यम से किया है–

म्हारे जन्म पै बाजे ठेकरे भाई के मै थाली।
बूढ़ा भी रोवे बुढड़िया भी रोवें रोवें हाली पाली।

ये सच्चाई है कि लड़कियों के जन्म पर कोई महफिल नहीं जमती, कोई रंग नहीं कोई राग नहीं। हर लड़की के जन्म पर यह सब कुछ होता है। लोकगीत तो इस अवसर पर इतने गाए जाते हैं कि उनकी गिनती करना कठिन है। मजे की बात यह है कि इन गीतों में से प्रत्येक गीत एक सतरंगी तस्वीर हैं मानवीय रिश्तों की सामाजिक जीवन की।

शिशु बच्चे के जन्म के समय गांव की फुहड़ धानकी जो अंधों में कानी जैसी है जिसे बच्चे के जन्म के समय की जाने वाली सावधानियां का कोई ज्ञान नहीं हैं। वह तील मांगती है। सब रिश्तेदार सगे संबंधी खुश होकर खर्चा करते हैं। बाहर से आए किसी भी सदस्य को जच्चा के पास जाने की अनुमति नहीं होती है।

किसी भी क्षेत्र की प्रथाएं वहां के रीति रिवाज व रहन–सहन के अनुसार होती है। रहन–सहन व रीति–रिवाजों के बदलते तौर तरीकों के साथ–साथ वैवाहिक प्रथाओं में भी बदलाव आना स्वाभाविक है। इसके चलते सुनहरा अतीत और व्यापक संभावना वाले इस प्रदेश में भी विवाह शादियों की प्रथाओं में काफी बदलाव आया है। हमारी लोक संस्कृति में विवाह की गरिमा अक्षुण्य है। पिछले तीन दशकों में सभी क्षेत्रों से मिली उपभोक्तवाद अति आधुनिकतावाद और परंपराओं को प्रभावित किया है। आधुनिकता की चपेट में आकर इस संस्कार के अंतर्निहित मूल्यों का बराबर क्षय हुआ है। इसकी शैलीयों विधि–विधान रस्मों रिवाजों को जहां–तहां तरोड़ा मरोड़ा गया है। विवाह हिंदू समाज के 16 संस्कारों में एक महत्वपूर्ण संस्कार है। मां–बाप अपने बच्चों के विवाह करने के बाद अपनी जिम्मेदारी पूरी कर लेना समझकर गंगा नहाए समझते हैं। वैसे तो विवाह की तैयारी ब्याह की चिट्ठी आते ही शुरू हो जाती है परंतु लड़का जिसे बनड़ा कहा जाता है और लड़की से जिसे बनड़ी कहा जाता है, अग्नि को साक्षी मानकर सभी सगे संबंधियों की हाजिरी में सात फेरों में बंद कर, पति–पत्नी बन जाना होती है। यह एक बड़ा पवित्र मौका होता है। नवयुवक व नवयुवतियों के ब्रह्मचर्य आश्रम को पूरा करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की प्रथा को ब्याह कहा गया है। इस ब्याह प्रथा को न केवल हमारे समाज ने जीवन का बड़ा महत्वपूर्ण अंग माना है बल्कि सृष्टि को आगे बढ़ाने का साधन मानकर हमारे शास्त्रों ने इसे मानव जीवन की धुरी माना है।

विवाह में सबसे पहले लड़का और लड़की का रिश्ता तय किया जाता है। और जो रिश्ता तय किया जाता। वह अपनी ही बिरादरी में किया जाता हैं। इसी प्रकार से अपनी अपनी बिरादरीयों में अपना–अपना अलग–अलग गुण व स्वभाव होते हैं। जैसे बनियों में व्यापार करने के स्वाभाविक गुण है तो जाट में खेत में काम करने के लिए शक्ति तथा मौसम परख के लिए प्रवीणता होती है। इन गुणों को आगे बढ़ाने व नष्ट न होने देने के सिद्धांत पर ही एक बिरादरी का रिश्ता दूसरी में नहीं होता है। पुराने जमाने में अतिथि आस–पास के गांव में नहीं करते थे। क्योंकि आसपास के गांव के साथ भाई चारे में मानने की प्रथा आ रही है। तथा जिस गांव में लड़के या लड़की का मामा रहते हो। चाहे गोत्र कुछ भी हो वहां रिश्ता बिल्कुल भी नहीं होता और जिस बाप के एक ही लड़का होता था। उसका रिश्ता बड़ी मुश्किल से होता था। इसके पीछे यह कारण था कि अगर उस लड़के की मृत्यु हो जाती है तो लड़की किसकी चूड़ियां पहनेगी। और समान गोत्र में विवाह संबंध निषेध था तथा जिस युवती से विवाह करने का विचार है उन दोनों के पिता और गोत्र अलग–अलग तो है। ज्यों ज्यों विज्ञान प्रगति करता जाता है त्यों त्यों हम अपने ऋषि मुनियों के हजारों साल साल पहले के शोध को सही मानते जा रहे हैं।

शादी में बहुत सी रस्मों को निभाया जाता है जैसे गाना, आरता स्नान कन्या को तेल चढ़ाना, दुल्हन को मेहंदी लगाना आदि किए जाते हैं। फिर उसके बाद शादी वाले दिन भात की रस्म निभाई जाती है। इस समय पिता, भाई और भतीजे अपनी लड़की, बहन और बुआ को सदा कुछ न कुछ देकर सहयोग करते रहते हैं। इससे भाई बहन और उसकी संतानों में प्रेम बना रहता है। यह लोक प्रथा आज भी प्रचलित है। शाम को गांव की पंचायत की हाजिरी में बात थी। अपना सामर्थ्य अनुसार ऐसे वस्त्र आदि देते थे। इसे भाती अपनी सामर्थ्य अनुसार पैसे वस्त्र आदि देते ह्वै। इसे भात देना कहते हैं। वहां पर बैठा गांव का बनिया या और परिवार का सदस्य वह बही में लिख देता था। आते ही भाती मिन्ने जाते हैं। बहन द्वार पर खड़ी होकर अपने भाई भतीजे का स्वागत करती है तथा भाई अपनी बहन को चुनरी उड़ाता है तथा लोटे में कुछ ना कुछ पैसे देता है। और अपनी बहन की ननद उससे कुछ ना कुछ बड़ी राशि मांगती है। और देने वाला कुछ कंजूसी करता है तो काफी हंसी मजाक के बाद ही बात निपटती पड़ती है। इस मौके के गीत जब महिलाएं गाती है तो भाई बहन का प्यार उम्र बढ़ता है। हमारे रीति रिवाज तो बने ही प्यार प्रेम पनपाने के लिए हैं।

दोनों पक्ष अपने मिलने जुलने वालों के साथ में बुलाते हैं। इसे विवाह वालों की आर्थिक सहायता होती है। न्योता विवाह की बही में लिखा जाता है। जब भी उसके घर में शादी होती है तो उसी प्रकार वह भी न्यौता डालता है। जितना न्योता डाला जाता है, उससे दोगुना डाला जाता है। यह क्रिया इसी प्रकार चलती रहती है। कन्यादान में जो दिया जाता है, वह इच्छा अनुसार होता है। कभी–कभी न्यौंदा निदार तोड़ते थे। तो दोनों घरों की बहियां मिलाकर जो भी जितना न्योंदा मांगता था। उसको उतना न्योंदा देकर संबंध तोड़ लिया करते थे। अब समय बदल गया है। उसके बाद मोड बांदना व सेहरा का काम किया जाता था। सूर्य छिपने से पहले वर को अच्छी तरह मटना मसलकर गीत गाती महिलाएं नहलाती है। भाभी श्याईं डालती हैं। और नेग लेती है।

ब्याहला मामा द्वारा भात में लाए कपड़े पहनता है और सभी परिजनों के बीच में बैठ जाता है। कुल पुरोहित या मामा उसके सिर पर मोड़ बांधता है। यह सेहरा राजा के ताज का ही प्रतीक होता है। सेहरा तो फेरे हो जाने के बाद लड़की घर में रह जाता था और आने वाली मकर सक्रांति पर सभी सखी सहेलियां ब्याही गई लड़की के सिर पर बांधकर गीत गाती निकट के वन में जाकर नाचती थी। और इसे तोड़ देती थी। इस मोड़ का चलन भी कम हो रहा है। और इसकी जगह मुकुट या विशेष तरह की पगड़ी ले रही है। फिर घुड़चढ़ी एवं लगाम पकड़ाई की रस्म अदा की जाती है। पहले घोड़ा ही बड़े लोगों की सवारी होता था। इसलिए बारात चढ़ने से पहले दूल्हे को घोड़ी पर बैठा कर गांव के गिर्द घुमाया जाता है। रास्ते में आने वाले परिवार उसे दूध पिलाते और सामर्थ्य अनुसार रुपए देते थे। फिर लड़का गांव के देवी देवताओं की धोक मारता है। घोड़ी पर बैठ कर चलने से पहले मां चूची पिलाती है और घोड़े की लगाम को परिवार के दमाद हाथ लगाते हैं। इस प्रथा को लगाम पकड़ाई का जाता है।

मृत्यु संस्कार :–

परिवार में जब किसी मनुष्य की मौत हो जाती है। तो सभी सगे संबंधी परिवार वाले शोक में डूब जाते हैं। परिवार को सांत्वना देने के लिए गांव के लोग उनके घर पर जाते हैं। तथा दाह संस्कार की तैयारी करते हैं। मृतक को स्नान करवाकर उसे कपड़े पहना दिए जाते हैं। फिर उन्हे औरतें कपड़ा से ढकती है। यह जीवन की अंतिम यात्रा होती है। परिवार मित्र सगे संबंधी उनकी इस अंतिम यात्रा में शामिल होते हैं। तथा परिवार के

सदस्य उसकी अर्थी को कंधा देते हैं। तथा उनका विधिवत अंतिम संस्कार किया जाता है। तथा एक या दो सदस्य चिता देने के बाद शमशान में रुकते हैं ताकि चिता में कोई विघ्न ना आए तथा औरतें सूर्य को जल छिपने से पहले देने जाती है।

हमारे समाज में औरतों को मृतक के साथ शमशान जाने की अनुमति नहीं होती है। मृतक के दाह संस्कार के एक दिन बाद अगले दिन उसके अंगों को इकट्ठा करके धोकर किस पवित्र स्थान पर बहाया जाता है। इसमें हर धर्म के हिसाब से दाह संस्कार की अलग–अलग प्रथाएं होती है। और धर्म के हिसाब से ही क्रिया कर्म किया जाता है। और शोक भी अलग–अलग दिनों तक होता है। बूढ़े बुजुर्गों की मृत्यु में भोज का रिवाज भी है। इसमें एक दिन सगे संबंधियों बुलाकर सामूहिक भोज दिया जाता है। हमारी संस्कृति या रीति रिवाज प्रथाएं प्राचीन काल से आ रही है और ऋषि मुनियों ने इन प्रथाओं को सहेज कर रखा हुआ है। लेकिन अब तो समय है इन प्रथाओं के विपरीत है। इन रीति रिवाजो को मानने से परहेज करते हैं। और हमारा समाज कुप्रथाओं की ओर जा रहा है। जिससे हमारे समाज में रीति–रिवाजों संस्कारों का विघटन हो रहा है। समय के साथ साथ रीति रिवाज व संस्कृति प्रथाएं बदलती रहती है। उसी का प्रभाव आज हमारे संस्कारों संस्कृति रीति–रिवाजों पर साफ साफ दिखाई देने लगा है।

संदर्भ :–

1. हरियाणा कल और आज भाग 2, पृष्ठ 14, 15, 16
2. हरियाणा कल और आज भाग 2, पृष्ठ 38, 39, 40
3. हरियाणा कल और आज भाग 2, पृष्ठ 41, 68, 69
4. हरियाणा कल और आज भाग 2, पृष्ठ 71, 77, 78
5. हरियाणा कल और आज भाग 2, पृष्ठ 90, 91, 92
6. हरियाणा कल और आज भाग 2, पृष्ठ 99, 100, 103

Anil Kumar

Research Scholar, Om Sterling Global University, Hisar-125001

Mob. : 9306969921

Add : Vpo Ghirai, the Hansi, Distt Hisar, Haryana

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 25-29

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय लोक संस्कृति की अवधारणा

अंजलि

शोधार्थी (पीएचडी), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

भारतीय संस्कृति, की अपनी एक अलग पहचान है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसका सम्बन्ध किसी देश व क्षेत्र विशेष के सामान्य जन–समुदाय से होता है। समाज में प्रचलित विभिन्न क्रिया–कलाप, परम्पराये, अचार–विचार संस्कार, प्रथाएँ, कर्मकाण्ड आस्था एवं विश्वास, लोक संस्कृति के आधारभूत तत्व है। समाज और संस्कृति की बात की जाए तो समाज और संस्कृति में गहरा संबंध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है। समाज में संस्कार नियम और लोगों का समूह होता है। संस्कृति व्यक्ति एवं समाज के विकास का परिचायक होती है। लोक जीवन इसी संस्कृति का भण्डार है। संस्कृति समाज को आकार देता है। पं बलदेव उपाध्याय के अनुसार ''लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों अनुष्ठानों तथा क्रियाकलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित है।'[1],

भारतीय संस्कृति मनुष्य के भीतर छिपी हुई उसकी दिव्यता को प्रकाशित करने के प्रयत्नों का सामूहिक नाम है यह इतनी बहुआयामी है कि इसका कोई एक लक्षण निर्धारित नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति की पहचान के लिए देश के विविध धर्म, वर्ग, जाति के लोगों के व्यवहार को देखना चाहिए। अच्छा, बुरा, सही गलत आदि का चिंतन मनुष्य करता है। रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है कि संस्कृति मानव जीवन में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता युग–युगान्तर से संस्कृति निर्मित होती है। संस्कृति किसी भी राष्ट्र की उत्कृष्टतम निधि होती है। राष्ट्र विशेष का जीवन–स्मरण, उसकी उन्नति अवनति, प्रतिष्ठा आदि तथ्य उसकी संस्कृति पर आधारित रहते हैं जिस राष्ट्र की संस्कृति जितनी उदात्त होती है, वह राष्ट्र उतना ही गौरवशाली बनता है। संस्कृति वह प्रक्रिया है जिससे किसी देश के सर्व साधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है। इससे मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे उसे सुधरा हुआ, ऊँचा, सभ्य आदि आभूषणों से आभूषित किया जाता है।'[2]

लोक संस्कृति दो शब्दों से मिलकर बना है लोक+संस्कृति। अंग्रेजी भाषा के Folk शब्द कोडच में vok, जर्मन में volk एवं एंग्लोसैक्शन में Fole कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ किसी आदिकालीन सामाजिक या राजनैतिक संगठन से होता है डॉ० कुन्जबिहारी दास की पुस्तक। 'Study of orrisa on folklore' में लिखा है कि 'लोक के अंतर्गत उन समस्त व्यक्तियों का सम्मिलित किया जा सकता है, जो कि किसी न किसी सीमा तक

आदिकालीन अथवा पिछड़ी हई दशाओं में रहते हैं तथा आधुनिक एवं प्रगतिशील प्रभावों की परिधि से विलग होते हैं।

समाज और संस्कृति की बात की जाए तो समाज और संस्कृति में गहरा संबंध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है। समाज में संस्कार नियम और लोगों का समूह होता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति होती है कि वह हमेशा कुछ नवीन खोजने की जिज्ञासा में लिप्त रहता है और हर क्षण प्रगति की ओर उन्मुख रहता है। जैसे कोई व्यक्ति समाज के बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार वह समाज के सांस्कृतिक नियमों से परिपूर्ण हुए बिना सम्पूर्ण नहीं माना जाएगा। व्यक्ति का अधिकतर समय समाज में ही गुजरता है। वह समाज में रहकर ही समाज में घटित घटनाओं के माध्यम से नित नवीन व्यवहार हर रोज सीखता रहता है। समाज में व्यक्ति को अपना अस्तित्व स्थापित करने हेतु नैतिक मूल्यों की आवश्यकता है। नैतिक मूल्यों के अनुरुप आचरण ही उसे चरित्रवान बनाता है। सदगुणों को अपनाकर ही हमें सच्चे सुख, संतोष और आनंद की प्राप्ति होती है। अनेक विभिन्नताओं के बावजूद भी भारत की पृथक सांस्कृतिक सत्ता रही है। भाषाओं की विविधता अवश्य है फिर भी संगीत, नृत्य और नाट्य के मौलिक स्वरुपों में आश्चर्यजनक समानता है। यह एक देश नहीं बल्कि कई देशों का एक समूह है जो एक–दूसरे से बहुत बातों में और विशेष करके ऐसी बातों में जो आसानी से आँखो के सामने आती है बिल्कुल भिन्न है।[3]

लोक संस्कृति की कलात्मक विशेषताओं और उनकी रूचियों को इंग्ति करती है लोककला। जिसमें मूर्तिकला, स्थापत्य कला, चित्रकला, मेंहदी, महावर, वास्तुकला आदि आते है। लोककला को लोक जीवन का आर्थिक मेरूदण्ड कहा जा सकता है। लोक संस्कृति जनमानस व सामान्य जन की संस्कृति है। इसे जनवादी संस्कृति भी कहा जाता है। गोर्कीजनसंस्कृति जनमानस की संस्कृति है। इसे जनवादी संस्कृति भी कहा जाता है। गोर्कीजनसंस्कृति की तुलना बिना तराशे हुए अनगढ़ पत्थर से करते है और कहते है कि लोकगीत, लोकनृत्य, लोककला और अन्य सांस्कृतिक रूप बिना तराशे गये पत्थरों की तरह है। लोक चेतना और उससे उपजी संस्कृ ति किसी भी सभ्यता और साहित्य की परिचालक शक्ति होती है जो साहित्य अपने लोक चेतना और शक्ति से जितना अधिक जुड़ा रहता है उतना सभ्य प्रतिनिधि होता है। उतना ही कालजयी और लोकव्यापी होता है। लोक सांस्कृति के अंतर्गत संस्कृति और लोक दोनों का भाव छिपा है।

कई बार किसी शब्द के अंतर्गत इतने अधिक अर्थो को समाहित कर लिया जाता है कि उस शब्द के किसी एक अर्थ को निश्चित करना अत्यंत कठिन हो जाता है। संस्कृति शब्द भी उसी प्रकार का है। संस्कृति को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। सर्वपल्ली राधाकृष्णन – संस्कृति वह वस्तु है, जो स्वभाव, माधुर्य, मानसिक निरोगता एवं आत्मिक शक्ति को जन्म देती है। श्री प्रभु दयाल मित्तल – संस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है, जिसमें देश, जाति या समाज के चिंतन, मनन, आचार–विचार, रहन सहन – बोली, भाषा, वेशभूषा, कला, कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है। इस प्रकार समाज में विभिन्न श्रेणियों का अन्तर प्राचीन काल से रहा है भारत के सम्बन्ध में भी यह तथ्य लागू होता है, यहां विभिन्न नृवंशीय वर्ग निवास

करते आए है। प्रत्येक की विशिष्ट सांस्कृतिक उपलब्धियों, कला, संगीत, बोली और रीति रिवाज रहे है। समष्टि के रूप में, इन्हें लोक संस्कृति कहा जा सकता है। पाश्चात्य देशों की ही भाँति, यह संस्कृति उच्च स्तरीय वर्गों की न होकर, निम्न स्तरीय वर्गों की है। इस प्रकार लोक संस्कृति समाज की सम्पूर्ण संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है और बहुसंख्यक जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

लोक संस्कृति की परिभाषा लोक संस्कृति लोक जीवन को अभिव्यक्त करती है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार द्वारा लोक की आत्मा बोलती है। 'लोक सस्कृति वह जीती जागती चीज है जिसकेद्वारा लोक की आत्मा बोलती है।'

गिरिजा कुमार माथुर के शब्दों में जन संस्कृति (लोक संस्कृति) अनुभूति, भावना और विचार की एक अदृश्य किन्तु अमित डोर के समान है जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को थमाती हुई चली जाती है, गीतों, नृत्यों कथाओं, कहावतों रीति रिवाजों, ऋतु–पर्वो का रूप घर कर लोक संस्कृति एक अगर यात्री की तरह स्थान–स्थान पर भ्रमण करती है और टिक जाती है। टिक कर एक नया संसार अपने साथ बाँधकर नया रूप घर कर फिर भ्रमण करने लगती है। जीवन के समस्त पक्षों को समेट कर चलती है।

लोक संस्कृति में लोक जीवन के सभी पक्ष शामिल रहते है।

(1) **लोक वार्ता** :– 'लोक वार्ता' शब्द 'फोकलोर का हिन्दी रूपान्तर है। श्री डब्ल्यू.जे. थामस ने इसका प्रयोग, असंस्कृत समुदाय की प्रथाओं तथा रीति–रिवाजों को स्पष्ट करने के लिए किया था। आज लोकवार्ता के अन्तर्गत, रीति–रिवाज, विश्वास, प्रथाओं, लोकगीत, लोक साहित्य, धर्म गाथाओं लोरियाँ, पहेलियों इत्यादि को शामिल किया जाता है।

(2) **लोक कला** :– इसके अन्तर्गत लोक जीवन में प्रचलित चित्रकला, वस्तुकला, आदि को शामिल किया जाता है। इसके माध्यम से लोक जीवन के आदर्श मान्यतायें तथा दृष्टिकोण आदि प्रकट होते है।

(3) **लोक नृत्य** :– जिस प्रकार बौद्धिक संस्कृति में, नृत्य, सामाजिक वातावरण तथा प्रकृति के बारे में मनुष्य के ज्ञान को प्रकट करते है, उसी प्रकार लोक नृत्य भी अपने सरलपन द्वारा लोक जीवन के स्तर को प्रकट करते है।

इस प्रकार लोक संस्कृति के अन्तर्गत लोकप्रिय कलाओं, शिला, रीति–रिवाज, विश्वास, प्रथायें, लोक साहित्य, अनुष्ठान तथा मानवकृत वस्तुयें आदि सभी सम्मिलित है। संक्षेप में लोक जीवन के भौतिक और अभौतिक पक्षों के अन्तर्गत जो भी आते हैं, वे लोक संस्कृति के अन्तर्गत सम्मिलित है। इसके माध्यम से लोक जीवन की भौतिक और अभौतिक दशायें अभिव्यक्त होती है। समाज परिवर्तनशील है। समय के अनुसार समाज में परिवर्तन होता रहता है। भारतीयों की आंतरिक कलह, विदेशियों का आगमन, विदेशी संस्कृति का कुप्रभाव आदि के कारण समाज में परिवर्तन होने लगे। जनता को शिक्षित होने का अवसर पूर्व से अधिक मिलता गया। जिससे उनके देखने का दृष्टिकोण भी बदलने लगा। लोग जिस भारतीय संस्कृति की परिधि में सीमित थे उससे बाहर आने लगे समय के अनुसार मनुष्य की सोच, खोज की वृत्ति, उन्नति की महत्वकांक्षा आदि ने मानव को

अपनी संस्कृति और सभ्यता से दूर हटा दिया। उनमें मुख्यत वेशभूषा, रहन–सहन, खान–पान, व्यवहार आदि है। आधुनिकता के नाम पर मनुष्य अपने मनोवांछित काम करने लगे और उसके पीछे भाग–दौड़ करते हैं। जिससे भारतीय संस्कृति बुनियाद पर निर्मित समाज और उसकी सभ्यता हिलने लगी है।

आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि मनुष्य जो भी करता है, उसे भारतीय संस्कृति ही कहते हैं। हमारी सभ्यता का सुंदरतम रूप है समाज जो परिवार नामक छोटी–छोटी इकाइयों से बनी होती है। भावनाओं की बुनियाद पर विश्वास के बंधन परिवार सुरक्षित रहता है। परिवार में कर्तव्य आव एवं दायित्व का पालन करना अहं शिक्षा होती है जो भविष्य में समाज और राष्ट्र की उन्नति में सहायक होगी। आज के वैश्वीकरण के युग में परिवेश के कारण भारतीय संस्कृति में भले ही कितनी विकृतियाँ और विसंगितयाँ आ गयी हो परन्तु हमारे समाज की सबसे मजबूत संस्था परिवार अभी भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

वर्तमान आधुनिकता के दौर में जहाँ व्यक्ति कुंठा, निराश का शिकार हो जाता है ऐसे में परिवार से ही उसे नैतिक बल व भावानात्मक संबल मिलता है। भारतीय परंपरा में छोटे उत्सव के अवसर पर या महत्वपूर्ण कार्य शुरु करने से पहले अपने बड़ों के पैरों को छूकर आशीर्वाद लेते हैं। अतिथीदेवोभव की अवधारणा में विश्वास करते है। परिवार के सबसे वरिष्ठ या सबसे पुराने सदस्य को परिवार का प्रमुख माना जाता है। आनंद और खुशी के साथ विभिन्न प्रकार के त्यौहार मनाये जाते हैं। भारतीय संस्कृति की नींव परम्पराओं पर टिकी हुई है। सामान्य अर्थ में आधिभौतिक संस्कृति को संस्कृति और भौतिक संस्कृति को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक दूसरे से भिन्न होते है। संस्कृति आभ्यांतर है, इसमें परम्परागत चिंतन, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं धार्मिक आस्था का समावेश होता है। सभ्यता बाहय वस्तु है, जिसमें मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सम्मिलित होती हैं। संस्कृति साध्य है और सभ्यता साधन जो सभ्यता निर्मित होती है, वहीं समाज द्वारा गृहीत होती है। अंत में यदि हमें अपनी संस्कृति को जीवित रखना है व अपने समाज व देश में उन सब अन्याय और अत्याचारों की पुनरावृर्ति नहीं करनी, जिनके द्वारा आज के सारे संघर्ष उत्पन्न होते है तो हमें अपनी ऐतिहासिक नैतिक चेतना या संस्कृति के आधार पर ही अपनी आर्थिक व्यवस्था बनानी चाहिए अर्थात् उसके पीछे वैयक्तिक लाभ और भोग की भावना प्रधान न होकर वैयक्तिक त्याग और सामाजिक कल्याण की भावना ही प्रधान होनी चाहिए।[5]

निष्कर्ष :–

हम कह सकते है। लोक संस्कृति की प्रासंगिकता के संदर्भ में पुरूष एवं महिला, ग्रामीण तथा शहरी लोग शिक्षित एवं अशिक्षित सभी व्यक्तियों ने माना कि लोक संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण प्रेरक तत्व है। लोक संस्कृति व्यक्ति को प्राचीन व्यवस्था से आधुनिक व्यवस्था को जोड़ने की एक कड़ी काम करता है। नियंत्रण और दृष्टिकोण को परिमार्जित करने का काम करता है क्योंकि संस्कृति किसी भी समाज की प्राणवायु है तो लोक संस्कृति धमनियाँ है। लोक संस्कृति, अपनी विविधता को मूल संस्कृति में पिरोने का कार्य करती है। लोक संस्कृति जीवन में जागृति पैदा करती है सकारात्मक सोच व उत्साह लाती है। ये सोच जीवन की वे संजीवनी बूटियाँ है जो पतझड़ में बसन्त का काम करती है। सरल शब्दों में हम कह सकते है कि लोक संस्कृति

उस विधि का प्रतीक है जिसमें हम सोचते है और कार्य करते है।

लोक संस्कृति जीवन के अभिन्न अंश है यह वह गुण है जो हमें सामाजिक मानव बनाता है लोक संस्कृति परमपराओ से विश्वासों से जीवन की शैली से, अध्यात्मिक पक्ष से नैतिक पक्ष से तथा भौतिक पक्ष से भी निरंतर जुड़ी है। यह हमें जीवन का अर्थ जीवन जीने का तरीका सिखाती है। व्यक्ति ही लोक संस्कृति तथा व्यक्ति को प्रभावित कर सामाजिक बनाता है। लोक संस्कृति एक दूसरे को निकट लाता है प्रेम सहिष्णुता, शन्ति और प्रेम का पाठ पढ़ाता है। मनुष्य अपने आस–पास विभिन्न भाषाओं में वात करने वाले विभिन्न धर्मो और रीति–रिवाजों को मानने वाले लोगों को देखते है, ये विविधताएँ, खान–पान पहनावे, नृत्य, संगीत, कला के क्षेत्र में है। लेकिन इस सब में एकात्मकता भी है जो सभी को जोड़ने का काम करती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. आदेश प्रो. हरिशंकर – भारतीय संस्कृति तथा हिन्दी।
2. भारतीय संस्कृति, डॉ. रामजी उपाध्याय, पृष्ठ संख्या – 17
3. साहित्य शिक्षा और संस्कृति – डॉ. राजेन्द्र प्रसाद – पृ० संख्या – 185
4. आहूजा राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशन, संस्करण 2012
5. साहित्य शिक्षा और संस्कृति – डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पृष्ठ संख्या –190

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 30-34

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

मैत्रेयी पुष्पा के कथा–साहित्य में सामाजिक जीवन का वर्णन

अनु, शोधार्थी, पी.एच.डी.–हिन्दी
डॉ. ज्ञानी देवी, शोध निर्देशक
हिन्दी (विभाग), गुरु काशी विश्वविद्यालय, तलवंडी साबो, बठिडा (पंजाब)

शोध सारांश :–

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य समाज को सर्जनात्मक की दिशा की ओर ले जाता है। निःसंदेह साहित्यकार युग दृष्टा और युग सृष्टा होता है। वह जीवन के सभी पक्षों को स्वयं परखता है तथा भोगता है और उन्हें साहित्य में स्थान भी देता है। साहित्य मानव चेतना का प्रतिफल है। साहित्य और सामाजिक जीवन का घनिष्ठ संबंध है। भारत की अधिकतर जनता गांव में निवास करती है। इन्हीं गांव में भारत की सभ्यता, संस्कृति लोक जीवन की झलक मिलती है। मैत्रेयी पुष्पा की कथा साहित्य में सामाजिक जीवन के विविध आयाम स्थापित है। उनके संपूर्ण कथा साहित्य में लोक जीवन, लोक विश्वास, ज्योतिष तथा शकुन, अपशकुन, लोक मान्यता, संस्कार, लोक मेले, विवाह, लोकगीत, लोक रीति–रिवाज, ग्रामीण आंचलिक रचना नारी, संधा भाषा, मानसिक मिठास, नेता, राजनीति की नौटंकी, रौनक और प्रतीत धार्मिता साकार हुई है।

मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में सामाजिक जीवन की भीनी–भीनी खुशबू है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में जो महत्त्वपूर्ण बात देखने को मिलती है, वह यह है कि लेखिका पुरानी परंपराओं को तोड़कर निर्माण की आकांक्षा नहीं करती। उनकी नजर में तो परंपरा पुरानी भी हो सकती है और नयी भी। बशर्ते पुरानी परंपरा में नई बातें, नयी विधियाँ–प्रविधियाँ शामिल हों लेकिन परंपरा में नया रूप जोड़कर उसे सर्वथा नूतन और नवीन रूप प्रदान करना ही लेखिका का उद्देश्य रहा है। पुरुष सत्ता की सामंती व्यवस्था को बदलने का लेखिका का जो सपना है, वह अंत तक आते–आते अपना साकार रूप लेने लगता है और यहाँ सहभागिता का सकारात्मक और मिला–जुला रूप उपस्थित हो उठता है। लेखिका अपनी जमीन पर खड़ी होकर अपनी लड़ाई लड़ती है। उस जमीन को वह एक पल के लिए भी नहीं छोड़ती।

बीज शब्द :– जाति व्यवस्था, छुआछूत संबंधी प्रश्नों, समाज में व्याप्त असमानता, जातिगत भेदभाव, सार्वजनिक जीवन आदि।

प्रस्तावना :–

मैत्रेयी पुष्पा एक ओर परंपरागत रीति–रिवाजों और शोषण से उबरने की बात करती हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मनिर्भरता और स्वावलंबी चेतना का प्रबल समर्थन भी करती हैं। आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा विवाह संबंधी परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ने की कोशिश करती हैं। पति–पत्नी के बीच असमानता की खाई को समाप्त

कर समान अधिकार और समान कर्तव्यों के हक के लिए लेखिका समाज की पुरुषवादी मानसिकता से लड़ने का साहस भी करती है। वह चीख–चीख कर कहती है कि नारी कोई वस्तु नहीं, बल्कि जीती–जागती इंसान है। लेखिका उस परंपरागत मूल्य को बदलने के लिए जी–जान से लड़ती है, जिसके तहत स्त्री को देह के घेरे में कैद कर उपेक्षा भरी निगाहों से देखा जाता है। स्त्री की अपनी स्वयं की पहचान के लिए लेखिका निरन्तर संधर्षरत दिखायी देती है। वह उन परंपराओं को चुनौती देती है, जो रीति–रिवाजों और कर्मकाण्डों के नाम पर स्त्री को आदर्शों के लत्तों से ढँक देना चाहती हैं। आत्मकथा में मैत्रेयी जाति व्यवस्था के प्रश्न को भी उठाती हैं। शिक्षा, विवाह और कविता लेखन संबंधी प्रसंग समाज में व्याप्त असमानता, छुआछूत संबंधी प्रश्नों को उभारते हैं।

मैत्रेयी के बचपन का साथी 'एदल्ला' ऊँची जाति में जन्मे बच्चों का बोझा ढोने के लिए मजबूर है। वह उन बच्चों का खाना तक नहीं छू सकता और न ही उनके साथ बराबरी में बैठ सकता है। खाना छू जाने पर जाटों के लड़के उसे इतना पीटते हैं कि वह उठ नहीं पाता। मैत्रेयी पुष्पा यहाँ एक बेहद महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाती हैं कि यदि दलित के खाना छूने से सवर्णों का धर्म भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर उनके द्वारा दलित को पीटने पर धर्म कैसे बचा रह सकता है? आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव को जड़ से समाप्त करने की बात करती हैं। आज भी दलित अपमान झेलने को मजबूर हैं। निर्दोष होते हुए भी लगातार उत्पीड़न झेल रहे हैं। जाति संबंधी कुछ मामलों में कस्तूरी की सोच भी परंपरा से जकड़ी हुई है।

अपनी सारी आधुनिकता और आजाद ख्यालों के बावजूद वह अपनी बेटी का ब्याह अपनी ही जाति में करना चाहती है, 'दादा चिमन सिंह' के प्रस्ताव को वह बिना सोचे–विचारे एक पल में ठुकरा देती है – "ऐसा आप सपने में मत सोचना, मुझे इसके पिता के गाँव वालों को जवाब देना है पूछेंगे, लड़की कहां डाल आई? जवाब दे पाऊँगी कुछ। मैत्रेयी के ब्याह के समय हबीबन द्वारा बर्तन माँजना, ट्रेनिंग सेंटर की धाटना, सुजाता (मैत्रेयी की बेटी) का ब्याह संबंधी प्रसंग जाति के प्रश्न को हमारे सामने लाता है। समाज के विकास के लिए यह आवश्यक है कि परंपरा अपने परिवर्तित रूप के साथ ही आधुनिकता को ग्रहण करती चले। प्रासंगिक वही होता है, जो अपने समय और परिस्थितियों के अनुसार नवीनता को आत्मसात कर सके। मैत्रेयी इस सत्य को जानती हैं। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया–भीतर–गुड़िया' में वह पंरपरा और नवीनता के इस द्वंद्व को हमारे सामने रखती हैं। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही रूढ़ियों से संघर्ष करती हुई एक उन्नत समाज के निर्माण की आकांक्षा करती हैं। इसके लिए अपनी पूरी कोशिश भी करती हैं। कस्तूरी की माँ 'चाची' पंरपराओं में जकड़ी हुई हैं, वहीं कस्तूरी एक नई सोच लेकर हमारे सामने आती हैं।

आत्मकथा में कुछ प्रसंग ऐसे भी आते हैं, जब मैत्रेयी की सोच कस्तूरी से अधिक प्रासंगिक जान पड़ती है। वहीं कुछ मामलों में कस्तूरी अपनी बेटी मैत्रेयी से भी अधिक आधुनिक दिखायी देती है। मैत्रेयी के दूसरी बार माँ बनने पर कस्तूरी, मैत्रेयी को आड़े हाथों लेती है। परिवार–नियोजन का पूरा ख्याल है कस्तूरी को, जबकि मैत्रेयी का ध्यान इस ओर जाता ही नहीं और वह तीन बार माँ बनती है। कस्तूरी मैत्रेयी को तब भी बहुत समझाती है, जब वह शादी के कुछ महीने बाद ही माँ बन जाती है। कस्तूरी की नजर में, कम उम्र में माँ बनना, एक स्त्री को दासत्व की जंजीरों में अधिक बाँधता है।

मैत्रेयी एक नए विमर्श की बात करती हैं, जहाँ पुरुष विरोधी नहीं, बल्कि सहयोगी बनकर सामने आते हैं। कस्तूरी के ससुर, दादा चिमन सिंह और मैत्रेयी के पति डॉक्टर साहब ऐसे ही सहयोगी हैं, जो कस्तूरी और मैत्रेयी

की बराबर मदद करते रहते हैं। कस्तूरी जब पढ़ने जाती है तब उसके ससुर बच्ची को नहाने से लेकर घर के काम–काज तक निपटाने में जरा भी नहीं हिचकिचाते।

बाबा (कस्तूरी के ससुर) की बात को अपनी बेटी के सामने रखते हुए कस्तूरी कहती है – "तेरे बाप के मरने के बाद मैंने हिम्मत नहीं हारी, क्योंकि उन्होंने हिम्मत साधी थी.....। मैं रोती न थी, मरने की बात सोचती थी। जिंदगी से मोह छोड़ देने वाले को संतान का, घर का और दुनिया का मोह जगाया–अरी कस्तूरी, मरना था तो हीरा की चिता में चढ़कर मर जाना था, लोग तुझे सती कहते। अब तो कहेंगे कायर। बेटी के पालन–पोषण और पति के लिए हुए कर्ज से मुँह छिपाकर भागने वाली डरपोक। मौत के खास में चाल–चलन पर भी शंका करेंगे, क्योंकि तू औरत है। ऐसा खोटा समय तुझ पर ही नहीं, मुझ पर भी आया था, जब हीरा की माँ नहीं थी। दूध मुँहा बच्चा मेरे पास था, मगर माँ का दूध न था। रोकर आंसू तो नहीं पिला सकती थी उसे। और न भागकर भगवान भरोसे छोड़ सकती थी। जीना, मरने से ज्यादा मुश्किल है और मुश्किलों से निकलना आदमी ही जानता है। तू तो दिलेरी और बुद्धिमानी दोनों की मालकिन है। मैत्रेयी भी दादा चिमन सिंह के यहाँ रहकर अपनी पढ़ाई जारी रखती है। यहाँ वह दादा की लाडली बेटी बनकर उनके परिवार के साथ पूरी तरह घुल–मिल जाती है। विवाह के समय 'खांड–कटोरा' वाले प्रसंग पर डॉक्टर, मैत्रेयी का साथ देते हैं, अपने धारवालों का नहीं। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही पुरुषों के सहयोग से अपना विकास करती हैं। इस दृष्टि से मैत्रेयी का स्त्री विमर्श, पुरुष के विरोध की नहीं, बल्कि सहयोग की माँग करता है।

अल्मा कबूतर, 2000 नामक उपन्यास को पूरा जनजाति को आधार बनाकर लिखा गया है यह उपन्यास अपराधी जनजाति अर्थ 'क्रिमिनल ट्राइब्स' से संबंधित है अपराधी जनजातियों में तो अरण्य जनजाति में आती है न हीं सभ्य देहाती जनजाति वर्ग में। इनकी नीति एक त्रिशंकु समाज की है। तथा कबूतरा आदिवासी आज भी समाज के वृत्त पर डेरा डालकर रहती हैं। कबूतरा जनजाति ने केवल साहित्य से अछूती रही है अपितु अंग्रेजों के समय से ही उन्हें अपराधी घोषित करके उपेक्षित किया जाता रहा है अपने आज के संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा स्वयं लिखती है, 'मैंने उस वर्ग को चुना जो मेहनत मशक्कत से जुड़ा है। जो धरती से खेती से जुड़ा रहा है। जो मजदूरी और प्रकृति से जुड़ा हुआ है। मेरे उपन्यास में जो औरतें हैं विश्राम से जुड़ी है। उपन्यास का प्रमुख चरित्र कदम भाई एवं अल्मा है। जिसे केंद्र में रखकर उपन्यास का ताना–बाना बुना गया है। अल्मा कबूतरी को केंद्र में रखकर कथ्य विकसित होता है उपन्यास में कबूतरा आदिवासियों में व्यापक अंतर्विरोध उनका जीवन संधार्ष एवं उनकी विस्थापन पीड़ा को धरातल पर प्रस्तुत किया है। अल्मा किसी तरह शिक्षित होती है कि तू शासकों के बीच फंसकर अपना सब कुछ खो देती है, फिर भी विरोध की आग उसकी आत्मा में जलती रहती है। वह उस समाज में घुल–मिलकर विधानसभा तक पहुंच जाती है। इस तरह मैत्रेयी पुष्पा अल्मा के माध्यम से न केवल एक जनजाति अपितु पूरे समाज के संघर्ष को पाठक के सामने रखती है।

मैत्रेयी पुष्पा समकालीन साहित्यकारों में अपने परिवेश को लेकर उभरी लेखिका है। मैं जिस गांव समाज में पली–बढ़ी वही उसके साहित्य का मूल आधार है जमीदारों, समाज साहू और अंग्रेजों अधिकारियों के कुर्की नीलामी फोटो खींचने वाले माहौल में मैत्रेयी पुष्पा का जन्म हुआ था परंतु देश के आजादी के सुंदर ख्वाब देखने वाले भारतीय समाज में पली–बढ़ी और उसी को आप को टूटते हुए छटपटाते भारतीय समाज का चित्रण मैत्रेयी के साहित्य का मूल आधार बना। भारतीय समाज के शुभ आश्रय ग्राम आज कौन सी अवस्थाओं से गुजर रहे

हैं इस का यथार्थ चित्रण मैत्रेयी पुष्पा का साहित्य है आज की भारतीय ग्रामों की स्थिति के बारे में विवेकी राय कहते हैं 'आज गांव का अर्थ अशिक्षित, असहाय, निराधार, नंगे, भूखे, बेरोजगार, कुंठित लोगों का एक अन्य कारण संस्कार जो पुराना और नया आकार ग्रहण कर सका।

मैत्रेयी पुष्पा ने कहा है कि जमानत वर्गों ने भारतीय समाज के किसान, मजदूर, गरीब, श्रमजीवी वर्ग का शोषण निरंतर जारी रखा है, परिणाम स्वरूप अपनी मुक्ति के लिए श्रमजीवी लोगों ने अपने गणतंत्र देश में अपने अधिकार के लिए संघर्ष प्रारंभ किया। 'मंदा' अपने गांव आने पर पिता का अधूरा सपना अस्पताल शुरू करने के संकल्प से गांव में प्रवेश तो करती है, परंतु गांव की खेती क्रेशर मालिकों और अभिलाख सिंह जैसे ठेकेदारों के हाथ में चले जाने के कारण गांव का किसान मजदूर बनकर अपनी ही भूमि में खानाबदोश की जिंदगी जी रहा है व्यवस्थित हुई 'मंदा' कोयले के महाराज से परीक्षा गांव की कहानी सुनती है, वहां के लोगों ने अपने हक के लिए जागृत होकर संघर्ष करते हुए अपने अधिकार को प्राप्त किया था। परीक्षा गांव की कहानी सुनी अल्प शिक्षित मंदा अपने गांव में भी परिवर्तन लाने का प्रण उठाती है और सदियों से प्राथमिक सुविधाएं, आरोग्य, शिक्षा, बिजली जैसी सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए संकट खड़ा कर देती है 'जागो रे जागो रे' छोटे–बड़े, नन्हे–मुन्ने, पुराने जमाने के अलावा और पंछी, नदी, ताल, पेड़, हवा, पानी यहां तक की दिशा–दिशाओं को जगाना होगा। अमीर–गरीब, शत्रु–मित्र सब को शामिल होना होगा। इसमें समय पड़े तो समुद्री भी बनना होगा। बात आंदोलन की है, गांव वालों में शोषण के विरुद्ध खड़ा करते हुए मतदान एक संगठन से जुड़ते गांव का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें उसे गंदी, स्वार्थी, राजनीति, भ्रष्टाचार पुलिस, सरकारी रॉकी कुंडलियों का सामना करना पड़ता है, अपने संकल्प पर रहते हुए अपने गांव में आरोग्य, शिक्षा, बिजली जैसी सुविधाएं लाने के लिए संघर्षशील हो जाती है। विचार रखते हुए उन के माध्यम से शिक्षा की सुविधा और समस्याओं पर दृष्टि डाली है।

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज पर खड़ी, स्त्री मुक्ति के कगार को छूने को लालायित एक ऐसी स्त्री की संघर्ष–गाथा है, जो छल–पोषित पंरपरा से मुक्ति चाहती है। इसके लिए वह विद्रोह भी करती है। धीरे–धीरे उसका विद्रोह साकार रूप लेने लगता है और विद्रोह के उस भंवर में रूढ़ियों, परंपराओं, लांछन और लोकाचार के कुंडल टूटने लगते हैं। न केवल 'आत्मकथा' का शीर्षक बल्कि 'अध्यायों' के शीर्षक भी मैत्रेयी कबीर से उधार लेती हैं। यहाँ ये अध्यात्मिक प्रतीक अपने रहस्यवादी कुंडलों से मुक्त होकर एक नया अर्थ देते हैं। मैत्रेयी इस समाज को बदलना चाहती है। वह लुकाठी लिए समाज और साहित्य के बाजार में खड़ी है। देखना यह है कि किस–किस का उनके साथ चलने का साहस है? अंत तक आते–आते मैत्रेयी अपनी सारे कुंडलों को त्यागकर एक नया संदेश देती है – स्त्री की कस्तूरी अब किसी कुंडल में कैद न होकर उसके स्वातंर्त्य, साहस, सामर्थ्य और स्वाभिमान में है।

निष्कर्ष :-

इस शोध प्रबंध का उद्देश्य समकालीन समाज व्यवस्था में फैली अराजकता व्यवस्था, भ्रष्टाचार और अनैतिकता टूटते मूल्य अधिक और समाज के सामने लाते हुए बुद्धिजीवियों, शिक्षाविदों को समाज की चिंता को इस समस्या पर गहराई से सोचने के लिए बाध्य कर दिया है। व्यक्ति समाज और राष्ट्र की प्रथम आने वाली वार्ता है समाज को राष्ट्र विकास का परिणाम माना जाता है, राष्ट्र को योग्य नागरिक प्रदान करने हेतु शिक्षा क्षेत्र से संबंधित समस्याओं पर सूचना समय की मांग है। देश की आजादी के बाद सार्वजनिक जीवन में आई गिरावट

के कारणों को तलाशते हुए समाज के उद्देश्य के बारे में फिर एक बार सोचने की आवश्यकता महसूस हो रही है। सामाजिक जीवन को बदलने का लेखिका का जो सपना है, वह अंत तक आते–आते अपना साकार रूप लेने लगता है और यहाँ सहभागिता का सकारात्मक और मिला–जुला रूप उपस्थित हो उठता है। लेखिका अपनी जमीन पर खड़ी होकर अपनी लड़ाई लड़ती है। उस जमीन को वह एक पल के लिए भी नहीं छोड़ती।

संदर्भ :–

1. मैत्रेयी पुष्पा, चिह्नार, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 1984
2. मैत्रेयी पुष्पा, त्रिया हठ, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 1990
3. मैत्रेयी पुष्पा, फैंसला, प्रकाशन, किताब घर दिल्ली, पृ. सं 1994
4. मैत्रेयी पुष्पा, सिस्टर, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 1996
5. मैत्रेयी पुष्पा, सेंध, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 1998
6. मैत्रेयी पुष्पा, अब फूल नहीं खिलते, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 1998
7. मैत्रेयी पुष्पा, बोझ, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 1999
8. मैत्रेयी पुष्पा, पगला गई है भागवती, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 2001
9. मैत्रेयी पुष्पा, छांव, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं 2001
10. जडीया, प्रभावती–हिंदी नारी : कार्यशीलता के बदलते आयाम, आकांशा पब्लिकेशन, बीना (मध्य प्रदेश), 2000
11. जुत्थी, डॉ० बी. शिवानी के मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में नारी का अस्तित्व, मोहित पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2009
12. ढेरीवाला, मोहम्मद– आधुनिक हिंदी उपन्यासों में नारी के विविध : पं. चिंतन प्रकाशन, कानपुर, 2001

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 35-40

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति एवं विरासत

अरविन्द कुमार

प्रवक्ता, डी. ए. वी. इंटर कालेज, मऊ नाथ भंजन, मऊ, उत्तर प्रदेश।

भारत की संस्कृति बहुआयामी है जिसमें भारत का महान इतिहास, विलक्षण भूगोल और सिन्धू घाटी की सभ्यता के दौरान बनी और आगे चलकर वैदिक युग में विकसित हुई, बौद्ध धर्म एवं स्वर्ण युग की शुरुआत और उसके अस्तगमन के साथ फली–फूली अपनी खुद की प्राचीन विरासत शामिल हैं। इसके साथ ही पड़ोसी देशों के रिवाज़, परम्पराओं और विचारों का भी इसमें समावेश है। पिछली पाँच सहस्राब्दियों से अधिक समय से भारत के रीति–रिवाज़, भाषाएँ, प्रथाएँ और परंपराएँ इसके एक–दूसरे से परस्पर संबंधों में महान विविधताओं का एक अद्वितीय उदाहरण देती हैं। भारत कई धार्मिक प्रणालियों, जैसे कि सनातन धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म, सिंधी धर्म धर्मों का जनक है।

राष्ट्र की संस्कृति और परंपराएं महज एक संकल्पना नहीं होती, बल्कि यह एक अभिमान और गर्व की बात होती है, जो हम सभी में एक भारतीय होने के नाते होनी चाहिए भारतीय संस्कृति और परम्पराओं की जो भी विरासत हमारे हिस्से में आयी, है वह अन्य किसी भी देश में प्राप्त नहीं हुई है।

भारत विशाल भू राजनीतिक विस्तार के साथ–साथ धरोहरों और विरासत के एक बड़ी मात्रा और विविधता रखता है। भारत के इस विशाल धरोहर भंडार को वैश्विक स्तर पर इसकी अनूठी सांस्कृतिक पहचान के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में चिन्हित किया जाता है।

भारतीय विरासत अतीत के किसी विशिष्ट समाज या व्यक्तियों के समूह या व्यक्ति की सामाजिक–सांस्कृतिक, सामाजिक–राजनीतिक, सामाजिक–आर्थिक और यहां तक कि तकनीकी गतिविधियों के संदर्भ में मूल्यवान और सूचनात्मक है।

हरियाणा के सांस्कृतिक जीवन में राज्य की कृषि अर्थव्यवस्था के विभिन्न अवसरों की लय प्रतिबिंबित होती है और इसमें प्राचीन भारत की परंपराओं या लोक कथाओं का भंडार है हरियाणा की यह विशिष्ट बोली है और उसमें स्थानीय मुहावरों है का प्रचलन है। स्थानीय लोकगीत और नृत्य अपने आकर्षक अंदाज में राज्य के सांस्कृतिक जीवन को प्रदर्शित करते हैं।

यह ओज से भरे हैं और स्थानीय संस्कृति की विनोद प्रियता से जुड़े हैं। बसंत ऋतु में मौज मस्ती से भरे होली के त्यौहार मैं लोग एक–दूसरे पर गुलाल उड़ाकर और गीला रंग डाल कर मनाते हैं, इसमें उम्र या सामाजिक हैसियत का कोई भेद नहीं होता। भगवान कृष्ण के जन्मदिन, जन्माष्टमी का हरियाणा में विशिष्ट धार्मिक महत्व है, क्योंकि कुरुक्षेत्र ही वह रणभूमि थी, जहां कृष्ण ने योद्धा अर्जुन को भगवतगीता (महाभारत का

एक हिस्सा) का उपदेश दिया था।

सूर्यग्रहण पवित्र स्नान के लिए देश भर से लाखों श्रद्धालु कुरुक्षेत्र आते हैं। अग्रोह (हिसार के निकट) और पेहोवा सहित राज्य में अनेक प्राचीन तीर्थ स्थल है। अग्रोहा अग्रसेन के रूप में जाना जाता है, जो अग्रवाल समुदाय और उसकी उप–जातियों के प्रमुख पूर्वज या प्रवर्तक माने जाते हैं। इसलिए अग्रोहा समूचे अग्रवाल समुदाय की जन्मभूमि है। भारत के व्यापारी वर्गों में प्रमुख देश में फैल गया है। अग्रसेन की जन्म भूमि की सम्मान स्वरूप इस समुदाय में कुछ वर्ष पहले अग्रोहा में एक चिकित्सा विद्यालय की स्थापना की। पवित्र नदी सरस्वती (वेदों के अनुसार ज्ञान और कला की देवी) के किनारे स्थित पेहोवा को पूर्वजों के श्राद्ध पिंडदान के लिए एक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। अप्राकृतिक और प्राकृतिक दोनों तरह की आत्मा की शांति के लिए पेहोवा मे धार्मिक क्रियाएं की जाती हैं। विभिन्न देवताओं और संतों की स्मृति में आयोजित होने वाले मेले हरियाणा की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। अनेक स्थानों पर पशु मेले आयोजित किए जाते हैं। यह क्षेत्र अच्छे नस्ल के दुधारू पशुओं, खासकर, भैंसों और खेती के काम में आने वाले पशुओं और संस्कृत पशुओं के लिए भी जाना जाता है।

हरियाणा की हवेलियां (पारंपरिक, परिवारिक आवास) वास्तुशिल्प की सुंदरता, खासकर अनेक द्वारों की संरचना, के लिए जानी जाती हैं। इन हवेलियों के द्वारों अभिकल्पन और हस्त कौशल की विविध नहीं, बल्कि इन पर्व विभिन्न विषयों की श्रृंखला भी विषमयकारी है। यह हवेलियां हरियाणा की गलियों को मध्ययुगीन स्वरूप और सुंदरता प्रदान करती हैं। इन भवनों में अनेक चबूतरे होते हैं, जो रिहायशी, सुरक्षा धार्मिक और अदालती कार्यों के लिए उपयोग में लाये जाते हैं। इन भवनों में इनके स्वामियों की सामाजिक स्थिति का संकेत मिलता है। इन चबूतरो पर उकेरी हुई कलाकृतियां इस क्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की याद दिलाती हैं।

भारत में 40 विश्व धरोहर स्थल स्थित है जिनमें 32 संस्कृतिक स्थल, 7 प्राकृतिक स्थल और एक मिश्रित स्थल शामिल है। इसके अलावा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के (ASI) की देखरेख में शामिल लगभग 3691 स्मारकों को राष्ट्रीय महत्व के स्मारक घोषित किया गया है।

हालांकि कई विरासत संरचनाएं किसी औपचारिक प्रणाली के तहत शामिल नहीं है, जिनके कारण भारत की अनूठी विरासत की क्षमता काफी हद तक प्रयुक्त बनी रही है।

भारत के संविधान ने स्मारकों, संस्कृतिक विरासत और पुरातात्विक स्थलों में क्षेत्राधिकार का विभाजन नियमानुसार किया है।

1. संघीय क्षेत्राधिकार ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्व के वे स्मारक एवं स्थल जो संसद के अधिनियम द्वारा इस हेतु निर्दिष्ट हो।
2. राज्य क्षेत्राधिकार संसद द्वारा घोषित राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों को छोड़कर अन्य प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक।
3. समवर्ती क्षेत्राधिकार विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल के रूप में घोषित स्मारको एवं स्थलों के अलावा शेष पर संघ और– राज्य दोनों का समवर्ती क्षेत्राधिकार है।
4. सांस्कृतिक धरोहर में भौतिक कलाकृतियों जैसे मृत सांस्कृतिक धरोहर शामिल है। यह आमतौर पर चल और अचल धरोहर के दो समूहों में विभाजित होते हैं।

5. अचल धरोहर ने इमारतें, ऐतिहासिक स्थान और स्मारक शामिल है।
चल धरोहर में ग्रंथ, दस्तावेज, चल कलाकृतियां, संगीत और ऐसी अन्य वस्तुएं शामिल है जिन्हें भविष्य के लिए संरक्षण योग्य माना जाता है। प्राकृतिक धरोहर में वनस्पति एव जीवों सहित ग्रामीण इलाके और प्राकृतिक पर्यावरण शामिल है।

6. प्राकृतिक धरोहर में सांस्कृतिक दृश्य भी शामिल हो सकते हैं। (ऐसी प्राकृतिक स्थलाकृतियां जिनमें सांस्कृतिक विशेषताएं हो सकती हैं) अमूर्त धरोहर में किसी सांस्कृतिक विशेष के गैर भौतिक पहलु शामिल होते हैं, जिन्हें इतिहास में एक विशिष्ट अवधि के दौरान सामाजिक रीति–रिवाजों द्वारा बनाए रखा गया है।

7. इनमें सामाजिक मूल्य एवं परंपराएं रीति–रिवाज एवं प्रथाएं सौंदर्यात्मक एवं आध्यात्मिक आस्थाएं, कलात्मक अभिव्यक्ति, भाषा और मानव गतिविधि के अन्य पहलु शामिल है।

8. स्वाभाविक रूप से भौतिक वस्तुओं की तुलना में अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करना अधिक कठिन है।

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत 5000 साल पुरानी संस्कृति एवं सभ्यता से चली आ रही है। डॉ. ए. एल. वाशम ने "भारत की सांस्कृतिक विरासत" नामक अपनी प्रमाणिक पुस्तक में नोट किया है कि "हालांकि सभ्यता के चार मुख्य उद्‌गम होते हैं जो पूरब से पश्चिम की ओर प्रस्थान करने वाले चीन, भारत फर्टाइल क्रिसेंट, तथा भूमध्य रेखा, विशेष रुप से ग्रीक और इटली है, परंतु भारत अधिक श्रेय का हकदार है क्योंकि भारत में अधिकांश एशिया के धर्म जीवन को गहन रूप से प्रभावित किया है। भारत ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विश्व के अन्य भागों पर भी अपना प्रभाव छोड़ा है।"

इस बात को याद करना महत्वपूर्ण है कि हमारी दो महान नदियों अर्थात सिन्धु और गंगा की घाटियों में जो सभ्यता विकसित हुई वह यद्यपि हिमालय की वजह से भौगोलिक क्षेत्र को सीमाकित किया परंतु कभी भी पृथक सभ्यता नहीं रही। यह धारणा की यूरोपीय अध्ययन, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रभाव ने पहले पूरब को परिवर्तित नहीं किया, सदियों से इस धारणा को अस्वीकार किया जा सकता है तथा किया भी जाना चाहिए। भारतीय सभ्यता हमेशा से गतिशील, न की स्थिर रही है। भूमि एवं और समुद्री मार्गो से व्यापारी अपने उपनिवेश भारत आए। भारत का पृथक्करण कभी पूरा नहीं हुआ, अधिकांश पुराने काल से इसकी वजह से सभ्यता की एक जटिल पैटर्न का विकास हुआ जो अमूर्त कला एवं सांस्कृतिक परंपराओं में बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हुआ है।

भारतीय विरासत संस्थान भारतीय संस्कृति और पर्यटन मंत्रालय के अंतर्गत एक प्रस्तावित संस्थान है, इसका मुख्यालय धौलावीरा कच्छ (गुजरात) में प्रस्तावना अनुसार स्थित है। इसकी स्थापना सोसायटी पंजीकरण अधिनियम 1860 के तहत की जाएगी। केंद्र सरकार भारतीय विरासत संस्थान की डीम्ड विश्वविद्यालय के रूप विकसित करना चाहती है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, राष्ट्रीय अभिलेखागार या इनके समकक्ष देश के अन्य संस्थानों में चलाए जा रहे विभिन्न पाठ्यक्रमों को भारतीय विरासत संस्थान के तहत लाने का विचार केंद्र सरकार कर रही है। संस्थान द्वारा कला इतिहास, संरक्षण, संग्रहालय विज्ञान, अभिलेखिय अध्ययन, पुरातत्व, निवारक संरक्षण पुरालेख निवारक, एवं मुद्राशास्त्र, पांडुलिपि विज्ञान और संबंधित क्षेत्रों के साथ ही कार्यरत कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण में M.A, P.H.D डिप्लोमा और प्रमाणपत्र पाठ्यक्रमों को प्रस्तुत किया जायेगा।

भारतवर्ष में भारतीय विरासत संस्थान की स्थापना का सबसे पहले प्रस्ताव आम बजट 2020–21 में वित् मंत्री श्रीमति निर्मला सीतारमण ने, भारतीय धरोहर और संरक्षण संस्थान के रूप में रखा था। भारतीय विरासत संस्थान की स्थापना के लिए सांस्कृतिक मंत्रालय के बजट को 3042.35 करोड़ रुपए से बढ़ाकर रू. 3150 करोड़ रुपये और पर्यटक मंत्रालय के बजट को 2189.22 करोड़ रूपये से बढ़ाकर 2500 करोड़ रूपये किया गया है।

भारतीय विरासत संस्थान के साथ–साथ रांची और झारखंड में एक जनजातीय संग्रहालय की स्थापना का प्रस्ताव भी रखा गया है तथा हस्तिनापुर, राखीगढ़, शिवसागर, आदि चल्लूर और धौलावीर में स्थित पुरातन सांस्कृतिक में संबंधित पुरातत्व स्थलों का पुनरोद्वार तथा विकास किया जायेगा।

हमारी कला सांस्कृतिक तथा उसकी पुरातन जानकारी का संरक्षण,सवर्धन, विकास, शोध तथा अनुसंधान करने वाले तत्व भारतीय धरोहर के मजबूत बुनियादी स्तंभ है जो कि देश के संग्रहालय, अभिलेखागार एवं सर्वेक्षण संगठन आदि है।

राष्ट्रीय संग्राहलय राजधानी दिल्ली में 10 जनपद में स्थित है, इसकी स्थापना 1949 में की गई थी।

राष्ट्रीय संग्रहालय सांस्कृतिक मंत्रालय के अधीन कार्य करता है जिसकी स्थापना का उद्देश्य ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और कलात्मक महत्व की प्राचीन कलाकृतियों को प्रदर्शित, सुरक्षित, परिरक्षित और निर्वचन (शोध) के प्रयोजन के लिए संग्रहित करना।

संग्रहालय राष्ट्रीय में प्रायः ऐतिहासिक काल से लेकर वर्तमान युग की विभिन्न प्रकार की कलाओं को प्रदर्शित, सुरक्षित एवं संवर्धित किया गया है क्योंकि भारत में कहीं पर भी या कहीं से भी प्राप्त कलाकृतियों का यह एकमात्र अनूठा संग्रह है क्योंकि यहां पर दो लाख से अधिक देशी तथा विदेशी कलाकृतियों का विशाल संग्रह जैसे कि ईसा पूर्व के टेराकोटा मौर्यकालीन लकड़ी की मूर्तियां, विजय नगर की कलात्मक वस्तुएं और मोहनजोदड़ो की नृत्य करती हुई हैं मूर्ति आदि प्रमुख आकर्षण हैं।

भारत में हम विरासत की जीवंत पद्धतियो एवं पैटर्न की एक अद्भुत संपदा के धरोहर हैं। लगभग 1400 बोलियों तथा आधिकारिक तौर पर मान्यता प्राप्त 18 भाषाओं, अनेक धर्मों, कला वास्तुशिल्प, साहित्य, संगीत एवं नृत्य की विभिन्न शैलियों तथा जीवन शैली के अनेक पद्धतियों के साथ भारत सबसे बड़े लोकतंत्र की प्रतिनिधित्व करता है तथा अनेकता में एकता का अचूक तस्वीर प्रस्तुत करता है जो संभवत दुनिया में कहीं भी देखने को नहीं मिलती है।

हमारी महान धार्मिक एवं आध्यात्मिक विरासत की विविधता प्रदर्शित करती है कि संस्कृतियां अपने आप में आबद्ध या स्थिर इकाई नहीं है अंतर सांस्कृतिक वार्ता की मौलिक बाधाओं में से एक यह धारणा है कि सांस्कृतियां फिक्स होती है। मानव की फाल्ट लाइनों को अलग–अलग करती हैं बदलते उपनिवेश और राजनीतिक सत्ता के इतिहास के माध्यम से भारत की जीवंत संस्कृति विरासत को शताब्दी के अनुकूल पुनः सृजन तथा सह अस्तित्व द्वारा आकार दिया गया। भारत के अमूर्त सांस्कृतिक विरासत लंबे समय से समुदाओं द्वारा अपनाये गये विचारों, प्रथाओं विश्वासों एवं मूल्यों में अभिव्यक्त होती है।

भारतीय इतिहास और संस्कृति के मुख्यधारा में हरियाणा का योगदान उल्लेखनीय रहा है। विभिन्न लोगों का एक मिलनसार यह था कि वे आए थे मिल गए और भारतीय संस्कृति बनाने की दिशा में योगदान दिया है

यही कारण है कि हरियाणा की बौद्धिक भूमि प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता को पालना है, यह वह जगह है जहां पूरे देश में भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता का ज्ञान बढ़ गया और इस भूमि पर हमारे संतो और साधुओं ने वैदिक भजनों को पढ़ा।

स्वाधीनता के 75 वर्ष पूर्ण होने पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने लाल किले की प्राचीर से स्वतंत्रता दिवस समारोह के उदबोधन में अमृत काल की परिकल्पना और उसके लिए पांच संकल्प दिए। ये वे मंत्र है जो विकसित भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेंगे। इन 5 में विरासत पर गर्व का उल्लेख किया गया है। इनके निहितार्थ को समझे। हम सभी यह जानते हैं कि कोई भी देश तब तक विकास के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता जब तक वह अपनी विरासत को सहेजना नहीं जानता।

हम कौन हैं? हमारी मान्यता क्या है? हमारी कला संस्कृति और ऐतिहासिक विरासत ही वो माध्यम है जो हमे इन सवालों के जवाब देती है वह औरों से अलग पहचान दिलाती है। यही वह माध्यम है जो हमें पूर्वजों के ज्ञान को जानने–समझने और आत्मसात करते हुए भविष्य की चुनौतियों से लड़ने और उन पर विजय हासिल करने का बल–प्रदान करती हैं। विरासत पर गर्व करने से पहले यह समझना होगा कि आखिर भारत की विरासत क्या है यह बात 100–200 साल के इतिहास की नहीं हो रही है। विषय महत्वपूर्ण है कि प्रधानमंत्री मोदी इस संकल्प का उद्देश्य उस बिंदु को समझाने का है जो हमें भविष्य की ओर छलांग लगाने की ऊर्जा प्रदान करने के साथ–साथ हमारे इतिहास या यूं कहें कि हमें हमारी जड़ों से जुड़े रहने की प्रेरणा देता है। भारतीय विरासत कई शताब्दियों पहले की है।

राखीगढ़ी हरियाणा में खुदाई के बाद 5000 साल पुराने एक महिला के कंकाल के डीएनए के अध्ययन से यह पता चला कि हड़प्पा कालीन लोग हमारे जैसे ही थे और हम उनके वंशज हैं। इससे वह थ्योरी पूरी तरह से गलत साबित हो जाती है कि आर्य बाहर से भारत आए थे और उन्होंने हमारी सभ्यता का विकास किया था। इस तरह से विरासत पर गर्व और उसकी तथ्यपरक प्रमाणिकता–आधारित समझ बेहद जरूरी है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की ओर से विरासत पर गर्व को प्रस्तुत संकल्प का उद्देश्य इसी दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। ऐसे ही तथ्यों का नतीजा है कि स्वाधीनता के अमृत महोत्सव के बाद अमृत काल की ओर बढ़ रहे भारत में इतिहास ने पुनर्लेखन की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति को देखें तो उससे भारतीयता भारतीय भाषाओं में शिक्षा, कौशल विकास, शोध, अनुसंधान, नवाचार और अपनी विरासत पर गर्व का भाव कूट–कूट कर भरा हुआ है। स्वतंत्र भारत की पहली ऐसी शिक्षा नीति है जो पूरी तरह से भारतीय संकल्प भारतीयता के भाव और भारतीय सोच के साथ भारत को विकसित देश बनाने का मार्ग प्रशस्त कर रही है। रास्ता लंबा है और इसमें हर कदम पर चुनौतियां हैं, लेकिन इतिहास गवाह है कि भारत ने सदैव चुनौतियों से पार पाते हुए विश्व को राह दिखाई है।

यह भारत देश है जो कि वसुधैव कुटुंबकम की बात करता है। एक सच्चा नागरिक होने के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने प्रधानमंत्री जो, स्वयं प्रधान सेवक के रूप में देश की प्रगति के लिए अनवरत प्रयासरत है, द्वारा दिए गए संकल्पों को अपनाएं और आत्मनिर्भर भारत, विश्व गुरु भारत, समृद्ध भारत, सुपर पावर भारत, सशक्त भारत, के लिए जारी प्रयासों में योगदान दें इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें हमारी विरासत से प्रेम और उस पर गर्व करते हुए आगे बढ़ना होगा।

सन्दर्भ सूचि :-

1. भारत की आध्यात्मिक सांस्कृतिक विरासत के अमूर्त पहलू, राजदूत भास्वती मुखर्जी, 9 सितम्बर 2014
2. विरासत पर गर्व से विकास का शिखर,सुनील कुमार झा, 3 सितम्बर 2022
3. भारतीय सांस्कृतिक इतिहास, ए० एल० वाशम।
4. भारतीय विरासत एवं संस्कृति, के० सिद्धार्थ, 1 जनवरी 2015
5. हमारी धरोहर हमारा उत्तरदायित्व, दृष्टि पत्रिका, 2 सितम्बर 2022

मो. 8052429957

ईमेल आईडी – kumararvind9261@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 41-45

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

The Characters of the Mahabharata are Symbols : A Study

Dr. Avijit Mandal

Assistant Professor of Sanskrit, Vivekananda College for Women, Kolkata.

Introduction

Old tales and stories are always open to new interpretations, reflecting fresh outlook of the concerned period. This is caused by the changes in the social, political, religious and lifestyle of human beings. This is somehow desirable also, because it opens up new vistas of thought and vision, which is a sure sign of progress rigidity of thoughts in any sector is retrograde. Ancient Indian literature is based on tales and stories. So it is most natural that those stories would undergo several significant changes over the centuries. Western scholars were very active in this field. In the process, the Ramayana story has been declared an account of southern expedition or an agricultural metaphor or an aggression against non-Aryan natives. The Mahabharata was no exception. The steady and continuous expansion of the original story earned it the epithet of epic of growth and the status of a dharmasastra. Then in the subsequent ages its authority was being used for projection of theories and sanctions by different sects for their own benefit. The gradual change in the original character of the story not only made it larger than life, but also open to free interpretations.

Significance of symbolic characters

The success of a story lies in its ability to sustain the interest of its readers or audience. For this, it must have a good plot, having different emotions (rasas), strong defined characters, variety of events, logical development and a credible conclusion. The core story of the Mahabharata had all these ingredients in good measure. So, the story became very popular and in great demand. The minstrels or travelling singers started moulding the story according to local demand. In no time, an interesting story turned into a huge receptacle for social, political, moral or religious theories, ready to be exploited by various opportunists, This is the reason behind the expansion of 'Jaya' to 'Bharata' and finally to ' Mahabharata'.

Search for the symbols in the characters of the Mahabharata

In the original story, four generations are pictured. At the top, santanu starts the story.

Bhisma,Vicitravirya and Citrangada are second in line. Then come Pandu, Dhritarastra and Vidura, the third generation. The story reaches its climax in the fourth generation, when the Pandavas and the Kauravas get involved in a familial destructive war. All the characters, events, happenings at this stage, rotate round the charismatic, all powerful Krishna, who is the actual manipulator. The presence of Bhagavadgita in this intricate design of the story, enhances the complex character of the story.

Although in a more simple way, yet the characters of the Ramayana also represented the extreme standards of life. For example, Rama was the ideal son, Lakshmana was the ideal brother, Sita was the ideal wife and so on. In the same way, in the Mahabharata as well, a symbolic representation of principal characters, may be sought out to give the epic a new interpretation. It would seem a clever design to give the story an absolute didactic quality to teach the world highest moral principles.

Krishna is the pivotal figure of the Mahabharata. He actually manages the entire show and is the main force behind all occurrences. In this world, things happen according to an inexplicable design, which no one can understand, nor prevent. It seems that everything is destined to happen according to some Almighty's beck and call. Here Krishna is representing the destiny itself.

Next person is Bhisma who is the symbol of misfortune. We sometimes get trapped in our own irresponsible emotion, which takes us to the path of doom. Bhisma did exactly that. On a flash of bravado, he sacrificed his future and the stability of the kingdom for the carnal pleasure of his licentious father. He is the symbol of sheer short-sightedness which resulted in tragic annihilation of the whole lineage. Bhisma had valour, knowledge, sense of duty, but in critical situations his sense of justice never surfaced. Even after realising the immense wrong-doing of the Kauravas, his conscience went on sleeping, offering weak and ridiculous pretexts. This character is actually a liability not an asset for the composition. Perhaps the author wanted to prove that idealism without reality ends up in deep tragedy.

The next generation of Pandu and Dhritarastra represented incompetence, incapability and frustration. Strange interpretation of justice and injustice, chased the whole narrative like a mad dog either barking or whining. Life is often unfair to the deserving, it is also cruel and unjust. Men must wade through this hostile current to reach the shore or else perish. The narrative apparently lifted the banner of justice (yato dharma tato jayah), but minute observation shows that here 'dharma' was not absolute. It kept bending to the demand of life itself. There are numerous incidents where absolute justice was moved aside to make room for artful injustice on some pretext. This is the truth of life and the story of the most powerful race depicted this truth admirably which actually kept it going through centuries after centuries.

The generation of Yudhisthira, Duryodhana and others is pictured as a culmination of past follies. The accumulated anger, grievance, deprivation created the atmosphere volatile, ready to erupt like a volcano.

The two parties of Yudhisthira and Duryodhana apparently represent justice and injustice. But the equation is not so simple at all. Yudhisthira, the emblem of Dharma itself, lacks conviction. He is flexible in cases of emergency, addicted to dice and is utterly confused about righteousness. Such a weak character cannot be a symbol of Dharma which is a very rigid and difficult proposition. Poor Yudhisthira is sandwitched between the notion of dharma and reality and hence a total mismatch for 'Dharmaputra. This humane failure is so natural that every age accepts it with pity and kind indulgence.

Bhima is a more credible creation by the author. He represents crude power, coarse behaviour, head-strong attitude without shrewdness. He carries out most difficult and low tasks on behest of his brothers. Such obedient manpower is always exploited by the intelligent class. Bhima saves the family from numerous difficult situations, but never gets enough appreciation. He is a worker, not a decision maker.

Arjuna is the representative of the privileged class. His extra-ordinary skill earned him awe and deference from others. This made him very proud and overconfident. Many a times, such people get involved in unnecessary trouble. Most of the times, their skills bail them out but in other times they are trapped and in grave trouble. These people are weak and insecure underneath. This side of Arjuna was exposed in the battle field.

Duryodhana is arrogance personified. His hatred, revengefulness and frustration took him to the path of sin. Such people only think of personal gain, consideration of right and wrong, fair and unfair does not matter to them. Duryodhana adopted unfair means to achieve his end, to fulfil his desire. Initially he was successful and that pushed him to deeper sin and destruction. One should have control over desire. Unleashed greed brings peril. We find such people in the upper circle of the society, who by dint of their position, wealth and power get many on their side. Actually they are like poison to the society.

Shakuni is incarnation of evil. His very soul is poisoned. All his thoughts and actions stink of meanness. It is understandable that he wanted Duryodhana to be the king, but his actions were so vile that we hate him from the core of our heart. Such people first ignite the fire and then become engulfed in it.

Karna is an exception in this flock. He was noble by birth, but deprivation by fate made him a man of misplaced loyalty. Duryodhana's unexpected kindness made him a lifelong grateful loyal friend. Nothing could change his stand. He understood everything, but his disgrace by the aristocratic class, contempt of his skill, scornful comments about his birth, hurt his self-respect so deeply that his power of judgement was destroyed. His gratitude made him perish with his patron- Duryodhana. He was a class by himself who invited his own downfall by being oversensitive and egoistic.So early deprivation is no reason to go forward with closed eyes. Time changes and one should always take decision according to changed situation.

There are some minor characters also who contribute to this complex design and teach us the eternal truth. For example, there is Vidura, who is supposed to be the conscience. As a rule, he is ignored and disrespected. So he withdraws himself from the scenario.

Another one is Abhimanyu, who was a symbol of child prodigy. His service was sought by opportunistic adults, but they could not protect him. The budding genius faced the cruel opposition and died when ineffective protectors looked on and cried false. We witness such unnecessary sacrifices in this selfish world so often.

The female characters are also unique. Firstly, Satyavati can be considered a symbol of women power. She secured her future by incapacitating Bhisma, the promising ruler-would-be, then took care of her lineage by getting grandsons through 'niyoga' (appointing someone to make her widow daughters-in-law pregnant) and continued ruling like an empress (not as a caretaker) enjoying the power and the privileges. Such strong women are rare, but not unseen. History remembers such characters who can go to any length to fulfil their interest.

Kunti is another wilful female character. Her sexual experiment in her maiden state was possible because she was blessed by Durvasa with a strange boon. She was capable of invoking any God of her choice. She took advantage of this power once before her marriage and invoked the Sun. The association landed her in grave trouble. But after her marriage, her impotent husband was too delighted and grateful for the power because it was instrumental to keep up-the lineage. Her clever balancing of social standard by staying back when her sons went to the exile for twelve years is praise-worthy. In the midst of flaring family feud, she kept herself unbelievingly neutral by staying with Gandhari and others. She kept herself away from all painful happenings of her sons' lives and enjoyed a normal life. She is a symbol of skilful neutrality which is very useful in life. This was rather difficult to practise when one party was none other than her own sons. But she could achieve it admirably well. Thus she could keep her life free from all complications.

Gandhari presents a completely different picture. She tried to build up an image of a totally devoted wife by tying up her eyes, sending the message of great sacrifice. She also tried to be critical of the actions and misconduct of her sons and brother, but with no effect at all. How this apparently strong woman failed miserably to control her arrogant ill- mannered sons is a big question which points to the actual intention of the person. Such characters pose one thing, means another thing. Remaining safe and comfortable in their cocoons, they act big.

Last but not the least, is the character of Draupadi. She is the star female character, around which the entire narrative is woven. Her beauty, personality and aristocracy overwhelmed all. She was at the root of all trouble which culminated into war. It was impossible to come out of the spell of her presence. She fell in a fix when she was compelled to marry all the five brothers but later she utilized the situation to her advantage admirably. She made Bhima and Arjuna dance at her beck and call.

Nakula and Sahadeva simply did not exist for her and perhaps she had never forgiven Yudhisthira for her humiliation at the royal court. Her personality is to be assessed from her rare alliance and companionship with Krishna. Such women is exceptional in literature. Her character proves what beauty and brain together can achieve.

We should take into consideration some other characters also, such as Drona as representing false rivalry, Asvatthama as wasted talent, Amba or Shikhandi as determined killer.

Conclusion

The above discussion proves it amply that the mixed bag was deliberately arranged to show life from every possible angle. The human nature with all its good and bad elements makes this world attractive. This variety of 'symbols' is one of the major factors of its time-defying popularity. We still find such characters around us and so we can relate with them. These characters were created according to the demand of that age but the expertise of the author made them eternal by infusing symbolism into them. Thus it became an asset for all times.

Bibliography

1. Khangai, Ravi. 2015. Bhishma in the Mahabharata : Character Analysis. Ph.D. Punjab University, Chandigarh.
2. Maitra, Madhuri. 2019. Celibacy Bhishma Set The Tone. Bonobology.com
3. Pahare, Harshada. 2019. Yudhisthira : The Higher Hero. Harshsada Pahare.
4. Smith, John D. 2009. The Mahabharata. New Delhi : Penguin

Mobile no.9830976023.Email-avijitvcw2017@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 46-53

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भक्तिकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति और प्रकृति

डॉ. अवधेश कुमार

अतिथि शिक्षक, हिन्दी विभाग, डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सारांश :-

भारतीय संस्कृति विश्व की लोकव्यापी संस्कृति है। इसमें जीव और उसके जीवन की समस्त संस्कृतियों का उद्‌गार है। ''समूचे हिन्दी साहित्य में ही सांस्कृतिक संवेदना व मूल्यबोध की परख समाहित है। इससे साहित्य व संस्कृति, दोनों ही ऊर्जावान होकर भास्वर हो उठते हैं। दोनों की समाज की उपज हैं। जीवन के बीच ही पैदा होते, पलते–विकसते है। जीवन के संस्कारों व सरोकारों से दोनों ही जुड़े हैं। साहित्य के संस्कार पैदा करने होते हैं, जबकि संस्कारों का जीवन में संतरण ही संस्कृति है। लेकिन फिर दोनों ही समाज को दिशा देते हैं। जब–जब कोई समाज अपने इतिहास, अतीत व परम्परा से कटने लगता है, तब–तब का समय देखता है अपने साहित्य व संस्कृति की तरफ।'' हम देखते हैं कि प्राचीनकाल से ही हमारी भारतीय संस्कृति के चिंतन में प्रकृति के पंचतत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु को देवता के रूप में माना गया है। वेदों में इन्हें पंच देवत्व का आदि स्वरूप भी बतलाया गया है। आज भी हमारे समाज में प्रकृति के इन पाँच देवताओं की पूजा बड़े ही मनोयोग के साथ की जाती है। क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना संभव नहीं है। इन पंचदेवत्व– पृथ्वी देवता, वरूण देवता, अग्नि देवता, वायु देवता, आकश देवता के अलावा हम सूर्य देवता और चंद्र देवता को भी बड़ी श्रद्धा के साथ आराधना करते हैं। यही तत्व हमारे पिंड अर्थात् शरीर और ब्राह्मांड में तादात्म्य स्थापित करते हैं। निस्संदेह इन्हीं पंच महाभूतों का समन्वित रूप ही प्रकृति हैं और इन्ही के सुसंगठित, सुव्यवस्थित संचालन से हमारी प्रकृति का निर्माण होता है और यही प्रकृति 'शक्ति' स्वरूपा हो जाती है। इस प्रकृति से ही हमें जीवनों उपयोगी सभी भौतिक संसाधन उपलब्ध होते हैं। इसके संरक्षण की चेतना भक्तिकालीन काव्य में बखूबी दिखाई देती है।

मुख्य बिन्दु :

भक्तिकालीन काव्य, भारतीय संस्कृति, प्रकृति, पर्यायवरण, समाज, परम्परा, मूल्य–चेतना और संरक्षण।

प्रस्तावना :-

भारतीय संस्कृति की उदात्त उपलब्धि के रूप में हिन्दी काव्य में उसके मूल्य की सृष्टि और प्रकृति की उपस्थिति प्रारम्भ से ही देखी जा सकती है। रामजी उपाध्याय और आचार्य राधाबल्लभ त्रिपाठी का मानना है कि, ''मानव स्वभावतः अपनी या प्रकृति की किसी रचना को पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही उसे अधिक पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता रहा है। सुन्दर बनाने, सुधारने और पूर्ण बनाने के प्रयत्न मनुष्य

की बुद्धि और सौन्दर्य–भावना के विकास का परिचय देते हैं। मानव का यही विकास संस्कृति है।...बुद्धितत्व को प्राकृतिक जीवन के क्षेत्र में लाने पर विज्ञान की प्रगति होती है, पर बुद्धितत्व के द्वारा प्राकृतिक जीवन के बाहर के तत्वों का अनुशीलन करने पर दर्शन का विकास होता है।'' इस अर्थ में देखे तो प्रकृति में निहित पर्यावरण सरंक्षण हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। भक्तिकालीन काव्य में भारतीय संस्कृति और प्राकृतिक पर्यायवरण की चेतना व सरंक्षण का विस्तृत उल्लेख है, जिसे कबीर, जायसी, सूर और तुलसी इत्यादि कवियों के भक्तिकाव्य में देखा जा सकता है।

कबीर की वाणी में हमारी सांस्कृतिक अस्मिता साफ–साफ दिखाई देती है। इनके अन्दर भारतीय संस्कृति के मानवीय गुण परिलक्षित होते हैं, जहाँ आक्रामक–विरोध के साथ वह अशिक्षित जन–समाज के मध्य अपने विचार अत्यंत शाब्दिक प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करते हैं। ''कबीर उस समाज को नकारते हैं, जहाँ मनुष्य के चरित्र और उसके व्यक्तित्व के अंतर्गत कथनी और करनी के भेद के साथ–साथ इस आडंबर और पाखंडयुक्त समाज–रूपी जाल से जितनी जल्दी हो सके क्यों न जन–समाज को मुक्ति मिल जाए। उनकी दृष्टि में 'धर्म' का वह रूप समाज में रहे जिसमें कहीं कोई आडंबर न हो, जितना हो सके प्राणी अपनी 'आत्मा' को शुद्ध रखें और नैतिक और सामाजिक कर्तव्यों के अंतर्गत अपनी 'सामाजिक भागीदारी' एक–दूसरे के प्रति निभाए, उसी परिवर्तित समाज के बदलने की अत्यंत आवश्यकता को हम कबीर के विचारों की मुख्य भाव–धारा कह सकते हैं।''

भारतीय संस्कृति में गुरु की महत्ता सर्वोपरि है। इसा प्रभाव सभी भक्तिकालीन कवियों पर दिखाई देती है। निर्गुनिया कबीर के उपदेश में 'गुरु' की महत्ता का अधिक प्रभाव है। इस मायारूपी संसार चक्र से निकलने के कबीरदास ने गुरु को अपना उन्नति का साध्य आधार बनाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस संसार में केवल गुरु ही वह साधक है, जो कठिन पंथ को भी सरल बना देता है। अर्थात् गुरु अपने शिष्य के भीतर वह ज्ञान रूपी साहस भर देता है, जिससे शिक्षा दुर्बलताओं और कामनाओं से स्वयं को मोड़ते हुए अंततः उस परमात्मा को साक्ष्य–रूप प्राप्त कर पाता है। अस्तु गुरु का उपकार कदापि भुलाया नहीं जा सकता। अतः कबीरदास अपनी भारतीय गुरु–शिष्य परमपरा की संस्कृति में विशेष महत्व देकर लिखते हैं कि–

''सतगुरु साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार।
कसणी दे कंचन किया, ताई लिया ततसार।।''

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति में जीवन के सारतत्व को कबीर की यह प्रसिद्ध उक्ति बोधगम्य तरीके से जीवन की वास्तविक परिपाटी को व्यक्त करती है–

''साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।।''

यहाँ जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया को माटी और कुमार के प्रसंग द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। कबीर ने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्वों को ग्रहण किया। स्वयं कबीर गुरु रामानन्द के शिष्य थे। प्रेमानुभूति की तन्मयता के क्षणों में तो उनकी वाणी राम हरी गोविन्द का ही स्मरण करती है, अर्थात उनकी अन्तरआत्मा की गहराई में तो वैष्णव भक्तों के ही आराध्य का नाम छिपा हुआ है, 'मेरे संगी दोई जणा, एक वैष्णो एक राम। वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम।।' इसी प्रकार कबीर के वृहद, विशाल रचना संसार की मात्र इन पक्तियों से ही कबीर की

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सर्वस्वीकार्यता सिद्ध हो जाती है।

आज के इस दौर में जबकि प्रत्येक व्यक्ति पराए दोष व पराई उपलब्धियों को देख–देखकर मानसिक रूप से रुग्ण हो रहा है तब कबीर की यह पंक्तियाँ हमें एक नई ताजगी देती हैं– 'बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोय। जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।' इनकी वाणी में मानवीयता के भाव सदैव समाहित रहा है। मनुष्य के प्रति समानता भरे व्यवहार के हिमायती रहने वाले कबीर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच अंतर बताने वालों के प्रति करारा तार्किक उद्घोष भी करते हैं। वे कहते हैं कि, 'एक बूंद एकै मल मूत्र, एक चम् एक गूदा। एक जोति थैं सब उत्पन्ना, कौन बाम्हन कौन सूदा।।' इसी तरह आगे वे कहते हैं कि–

''एकै पवन एक ही पानी, एक जाति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांड़ै, एक ही सिरजनहारा।।''

निश्चित रूप से कबीर के उपदेश भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। कबीर केवल सामाजिक सुधारक ही नहीं थे, बल्कि वे अपने सामाजिक क्रांति के महान अग्रदूत भी थे। कबीर की साखियों में उस समय के सामाजिक प्रचलनों के प्रति अस्वीकार्यता का स्वर ही उन्हें तब के समय में भी प्रासंगिक बनाता था और वर्तमान समय में भी प्रासंगिक बनाए हुए है। इनकी मानवतावादी विचारधारा में गहन आस्था उन्हें कालजयी बनाती है।

वस्तुतः ''प्रकृति कबीर के काव्य का सार्वभौम व शाश्वत पक्ष है। उनकी दृष्टि में पेड़–पौधे, धरती, आकाश सम्प्रदाय निरपेक्ष हैं, अतः ये सदैव बने रहने चाहिये। हमारी उत्पत्ति जिस धरती से हुई है, वह हमें जीवन का पालन करने हेतु अन्न, जल, फल–फूल सभी प्रदान करती है, किन्तु कभी घमण्ड नहीं करती, न ही इसे अपना गुण मानती है।'' इस संदर्भ में कबीर कहते कि, 'वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचौ नीर। परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर।।' कहने का अर्थ है कि वृक्ष मूलतः दूसरे के उपकार के लिए ही जीवन धारण करते हैं, इनका यह व्यवहार सज्जनों के स्वभाव के समतुल्य है। लेकिन स्वार्थी मनुष्य को इसकी परवाह बिल्कुल नहीं रहती है। वह तो हानिरहित होने पर भी पत्ती खाने वाले पशुओं को मारकर खा जाता है। कबीर इसे बड़ी गम्भीरता से लेते हैं और ऐसे लोगों को चेतावनी देते हुये कहते हैं कि, 'बकरी पाती खाति है, ताको काढ़ी खाल। जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल।।' इस प्रकार कबीरदास वे पेड़–पौधों व जीव–जगत के संरक्षण को धार्मिकता से जोड़कर मनुष्य को प्रकृति की गोद में सहजता व सादगी से जीवन जीने की ओर प्रेरित करते प्रतीत होते हैं। इस तरह वे प्रकृति में व्याप्त जीवों के उद्धरण के माध्यम से लोकजीवन और प्रकृति विषयक सूक्ष्म ज्ञान के परिचायक बनते हैं।

सूफीकवि जायसी लोक संस्कृति और प्रकृति के अनुभवजन्य कवि हैं। इसका प्रभाव उनके काव्य में अनेक स्थानों पर बहुत ही सहजता के साथ खिल उठता है। लोक जीवन एवं संस्कृति चित्रण 'पद्मावत' में जीवंत हो उठता है। मानवीय संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण पक्ष मानवीय प्रेम को लेकर बेहद अनूठी बात कहते हैं कि–

''मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूठी।।
प्रेम पंथ जौं पहुँचै पारा। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ।।''

इसी प्रकार इनके काव्य में होली, देवारी, तीज–त्यौहारों का सजीव वर्णन भारतीय संस्कृति को संजाये

हुए है। इनके द्वारा दीपावली वर्णन यह दृश्य बेहद आकर्षक है, 'अबहूँ निठुर आब यहि बारा। परब देवारी होइ संसारा। सखि झूमक गावै अंग मोरी। हौ झुराव बिछुरी जेहि जोरी।।' भारतीय स्त्रियों के श्रृंगारिक संस्कार का वर्णन संजीदगी के साथ करते हैं। जैसे– 'पुनि सोरह सिंगार जस चारिहुं जोग कुलीन। दीरघ चारि–चारि लघु चारि सुभर चहुँ खीन।।'

'पद्मावत' के 'बारहमासा' में कवि ने कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की तरह नायिका नागमती के विरह वर्णन में प्रकृति का सजीव अंकन किया है। कवि ने प्रकृति के पर्यायवरण के अंतर्गत शीत ऋतु के अगहन और पूस माह का वर्णन नायिका की विरह दशा के माध्यम से चित्रित किया है। यथा–

''ताल तलावरि बरनि न जाहीं। सूझइ वार पार तेन्ह नाहीं।
फूले कुमुद केत उजिआरे। जानहूँ उए गगन महँ तारे।।
उतरहिं मेघ चढ़हिं लै पानी। चमकहिं मंछ बीजु की बानी।
पैरहिं पंखि सो संगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा।।
चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरहिं और दिनहिं मिलाहीं।
नग अमोल तेन्ह तालन्ह दिनहिं बरहिं जनु दीप।।''

इसमें कोई संन्देह नहीं है कि भारतीय संस्कृति और प्रकृति के पारखी कवि जायसी को वृक्षों, ऋतुओं इत्यादि का का बेहद बारिकी से ज्ञानानुभव था। वे वृक्षों के पात किस महीनें में गिरते हैं और किस माह में हमारी प्रकृति हरी–भरी होती है, आदि को 'पद्मावत' महाकाव्य में रेखांकित किये हैं। वे ऋतुओं के सम्बन्ध में कहते हैं कि, 'फागुन पवन झँकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा।।'

लोकजीवन की संस्कृति एवं प्रकृति का चित्रण 'पद्मावत' में जीवंत हो उठता है। इनके काव्य में त्यौहारों का वर्णन भारतीय संस्कृति को संजाये हुए है। जायसी के इस महाकाव्य में दीपावली वर्णन यह दृश्य बेहद आकर्षक है– 'अबहूँ निठुर आब यहि बारा। परब देवारी होइ संसारा। सखि झूमक गावै अंग मोरी। हौ झुराव बिछुरी जेहि जोरी।।' भारतीय स्त्रियों के सोलह श्रृंगार का वर्णन संजीदगी के साथ करते हैं। जैसे– 'पुनि सोरह सिंगार जस चारिहुं जोग कुलीन। दीरघ चारि–चारि लघु चारि सुभर चहुँ खीन।।' निश्चित रूप जायसी अपने युग की संस्कृति और पर्यायवरण को उसकी यथार्थ समग्रता में आत्मसात् करने वाले अनूठे कवि हैं। प्रेम को बहुत अधिक महत्व देते हें।

इसी प्रकार महाकवि सूरदास ज्ञान के महत्व में गुरु को ही सर्वोपरि मानते हैं। गुरु महिमा के बारे में उनका मानना है कि इस जगत में बिना गुरु के हमारा जीवन अंधकारमय ही रहेगा। गुरु कृपा से ही भक्त का मानसलोक आलोकित होता है। सूरदास का मत है कि गुरु भक्तिपथ में भक्त का मार्गदर्शन कर, उसे ज्ञान ज्योति से उदीप्त करता है। जैसे–

''गुरु बिनु ऐसी कौन करै?
माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
भवसागर तै बूड़त राखे, दीपक हाथ धरै।
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै।''

इस तरह वे सांसारिक बन्धनों में बँधे प्राणियों को सचेत करते हुए शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और

मनोवैज्ञानिक स्थिति का बोध जागृत करने का प्रयास किया है– 'जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं। ता दिन तेरे तन–तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।'

सूरदास भारतीय संस्कृति और प्रकृति को कृष्ण और राधा के माध्यम से बखूबी चित्रित किया है। साथ ही इनके काव्य में किसान जीवन की संस्कृति का पूरा परिवेश दिखाई पड़ता है। इस परिदृश्य में भारतीय समाज में रहने वाले किसान तथा उनकी गोचारण संस्कृति का अद्‌भुत वर्णन है। इन्होंने भक्तिकाल के समाज की पशुपालन एवं कृषि व्यवस्था आदि पर गहरा चिंतन व्यक्त किया है। भारतीय समाज में पशुपालन एवं कृषि व्यवस्था, किसान संस्कृति का एक अभिन्न अंग है और गोचारण किसान–जीवन के व्यापक अनुभवों का हिस्सा है। फलतः इनके काव्य में किसान जीवन संस्कृति के अनुभवों की व्यंजना दिखाई पड़ती है–

''प्रभु जू यौं कीन्हीं हम खेती।
बंजर भूमि गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती।
काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज तामस सब कीन्हौं।
इन्द्रिय मूल किसान, महातृन अग्रज बीज बई।
कीजै कृपादृष्टि की बरशा, जन की जाति लुनाई।
सूरदास के प्रभु सौ करियै, होई न कान–कटाई।।''

प्रकृति मानव जीवन की सहचरी है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक निःस्वार्थ भरण–पोषण करती है। आदिम युग में जब मानव सभ्यता और संस्कृति के आलोक से वंचित था; तो प्रकृति और उसकी विभूतियाँ ही उसके जीवन का आधार बनी। वैज्ञानिक विकास के कारण आज हम प्रकृति से बहुत दूर हो गये हैं, फिर भी वह हमारे साथ निःस्वार्थ भाव से हमारी सेवा और जरूरतों को माता–पिता की तरह नित पूरा कर रही है। तभी तो हमारे भारतीय ऋषि, महर्षि और संतों ने इसे धरती माँ, तुलसी माँ, गंगा माँ एवं पवन देवता, आकाश देवता आदि नामों से पुकारते रहे हैं। प्रकृति से हमारा रागात्मक सम्बन्ध है, इससे सूरदास भी अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने अपने काव्य में लौकिक प्राकृतिक सौन्दर्य को विशेष स्थान दिया है। कृष्ण लीला वर्णन में ब्रज, वृन्दावन, यमुना, गोवर्धन पर्वत, पेड–पौधे, कदम्ब, करील, पशु–पक्षी आदि का वर्णन सूर ने बार–बार किया है। प्रकृति के प्रति इनकी चेतना बेहद सजग है। ब्रज की प्राकृतिक संस्कृति का वर्णन करते समय वे वहाँ का वंशीवट, वहाँ की यमुना, वहाँ के वन और उनमें राधा के साथ गोपियों का विहार, वहाँ का रास और लता एवं तरुकुंजों में झूलने का आनन्द आदि को रेखांकित करते हैं–

''कहाँ सुख ब्रज कौ सौ संसार।
कहाँ सुखद बंसीवट, जमुना, यह मन सदा बिचार।
कहाँ बन धाम, कहाँ राधा सँग, कहाँ संग ब्रज नाम।
कहाँ रस रास बीच अन्तर सुख, कहाँ नारि तनु ताम।
कहाँ लता तरु–तरु प्रति झूलनि, कुंज–कुंज बन धाम।
कहाँ बिरह सुख बिनु गोपिन सँग, सूर स्याम मम काम।।''

निश्चित रूप से सूरदास के काव्य में भारतीय संस्कृति और प्राकृतिक पर्यायवरण के दृश्य की अनमोल निधियाँ भरी पड़ी हैं। सूर का लोकप्रेम समाज के ग्राम्य जीवन की नाना छवियों के लिए हुआ है और उसमें हमारा

जनजीवन मुखरित हो उठता है।

रामभक्ति काव्य के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास के 'श्रीरामचरितमानस' का अवगाहन करके ही भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के मुख्य प्रेरक और प्रतिनिधि महात्मा गाँधी को 'रामराज्य' की अवधारणा और उसे स्थापित करने की प्रेरणा मिली थी। भक्तिकाल में जब भारतीय संस्कृति संक्रमण और भटकाव के दौर में थी, तब अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ तुलसीदास ने ही भारतीय संस्कृति के मूल्यों को न केवल स्थापित किया बल्कि रामकथा में उनके व्यावहारिक रूप को प्रदर्शित किया। तुलसीदास का यह महान कार्य आधुनिक समय में भी मानव–संस्कृति को आचार–विचार और व्यवहार के स्तर पर लाभान्वित कर रहा है– 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए', 'धरम न दूसर सत्य समाना', 'पराधीन सपनेहूँ सुख नाहीं', 'नर तन सम नहिं कवनिउ देही', 'जिन्हकें रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी, 'जौ अनीति कछु भाषौ भाई, तौ मोहि बरजहु भय बिसराई' जैसी उक्तियों के द्वारा तुलसी ने जिन मूल्यों को अपने काव्य में प्रतिष्ठापित करते हैं। वे उन मूल्यों के काफी निकट हैं, जिन्हें आज का विज्ञान अपने विकास के लिए आवश्यक मानता है।

तुलसीदास प्रकृति के भौतिक एवं जैविक दोनों घटकों को मानस में समाहित किया है। प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति तुलसी एवं तात्कालिन समाज की चेतना पर संक्षिप्त अवलोकन करें। मानस में गंगा का वर्णन किया गया है कि, 'सुभ–अस अशुभ सलिल सब बहई। सुरसरी कोउ अपुनीत न कहई।' और तुलसीदास जी इस बात से इसे पुष्ट करते हैं कि 'समरथ को नहीं दोस गोसाई। रवि, पावक, सुरसरि की नाई।' इतना ही नहीं इन्होंने समाज को सम्मिलित करते हुए तुलसी और रवि, अग्नि, और गंगा की महत्ता भी निरूपित करते हैं। मानस में पर्यायवरण के अनेक प्रसंग हैं। तुलसीदास जनकपुर के प्राकृतिक सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन राम और लक्ष्मण के माध्यम से दिखलाते हैं–

''नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपत्ति सुर रूख लजाए।।
चातक, कोकिल, कीर, चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा।।''

नये पत्तों और फूलों से युक्त सुंदर वृक्ष अपनी संपत्ति से कल्पवृक्ष को भी लजा रहे है। पपीहे, कोयल, तोते और चकोर आदि पक्षी मीठी बोली बोल रहे हैं और मोर सुंदर नृत्य कर रहे हैं। प्राकृतिक दृश्यों में नदियों का वर्णन भी मानस में बखूबी रेखांकित है। तुलसीदास ने मंदाकिनी की महिमा का वर्णन किया है। पुराणों में वर्णन है कि मंदाकिनी पापियों को डाकिनी के समान भय दिखाकर उसे नष्ट कर देती है। इस संदर्भ में इसकी महिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि–

''नदी पुनीत पुराण बखानी। अत्रि प्रिया निज तप बल आनी।
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनी। जो सब पातक पोतक डाकिनी।।''

हालांकि प्रकृति संरक्षण को लेकर गोस्वामी तुलसीदास ने 'श्रीरामचरितमानस' में अनेक प्रसंग वर्णित किये हैं। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के अवसर पर गुरु वशिष्ट के आदेश पर अयोध्या नगरी में विविध वृक्षों का रोपण किया जाता है–

''सकल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा।।''

इसी तरह सीता और लक्ष्मण को पर्यायवरण संरक्षण करते हुए मनोरम दृश्य अंकित किया है, 'तुलसी तरुवर विविध सुहाए। कहुँ कहुँ सिया लखन लगाए।।'

इस प्रकार देखा जाये तो भक्तिकालीन काव्य में अनेक प्रसंगों में भारतीय संस्कृति और प्रकृति के प्रति बेहद रूचिकर प्रसंग दृष्टिगत होते हैं। साथ ही भक्तिकालीन काव्य में गुरु–महत्ता, प्रेम, सद्भावना इत्यादि के अनेक संदर्भ हैं। इन सबके मध्य भक्ति–प्रेम को अधिक सार्थकता दी गयी है। ''प्रेम सांस्कृतिक मूल्य की आत्मा है, जिसके सहारे हम समस्त कार्य–व्यापार को संपन्न करते हैं। जीवन की सार्थकता प्रेम में ही निहित है। इसी के बल पर कबीर हिन्दू और मुसलमानों के अपने हो गए। जायसी ने प्रेम का सहारा लेकर दोनों के घावों पर ऐसा मलहम लगाया कि वह शीतलता ही प्रदान करता गया और अपने–अपने घावों को भूलकर एक–दूसरे के सुख–दुःख की खोज खबर लेने लगे। सूर–तुलसी ने प्रेम का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया कि अजा पाँच–छह सौ वर्षों के बाद भी हमारे लिए प्रासंगिक बने हैं।'' इसी प्रकार भक्तिकाल के अन्य कवियों रैदास, गुरुनानक, रसखान, मीरा, सुन्दरदास और नंददास आदि के काव्य में भारतीय संस्कृति और प्रकृति के संरक्षण की अभिव्यंजना रससिक्त है।

निष्कर्ष :-

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि लोक के उत्थान में भक्तिकालीन काव्य में निहित भारतीय संस्कृति और प्रकृति संरक्षण के मूल्य विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति का आधार ही प्राकृत जन लोककल्याण ही है। भक्ति काव्य में संस्कृति और प्रकृति का अनूठा संगम संचरित है। देखा जाये तो भारतीय संस्कृति में वृक्षों की रक्षा के महत्त्व को 'तुलसी और पीपल' के श्रद्धाभाव से समझा जा सकता है। प्रकृति मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग है। यह मनुष्य के सुख–दुःख दोनों ही परिस्थितियों में साथ देती है। जीवन के शुभ अवसरों जन्म, विवाह इत्यादि और अशुभ अवसरों जैसे मृत्यु के समय लकड़ी, चन्दन इत्यादि के माध्यम से प्रकृति में प्राप्त संसाधनों का उपयोग करते हैं। निस्संदेह भक्तिकालीन काव्य में कवि भारतीय संस्कृति और प्राकृतिक संरक्षण की अभिव्यक्ति अधिक संवेदनशील और सचेत है। मानवहित में जीवन–मूल्यों की प्रतिष्ठा भी इसमें विद्यामान है, जिसका मूल भाव 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की संस्कृति पर टिका हुआ है।

संदर्भ सूची :-

1. हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना और मूल्यबोध, सम्पादक, उदयन मिश्र, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–02, प्रथम संस्करण : 2017, पृ. 12
2. हिन्दी भारतीय धर्म और संस्कृति, रामजी उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, संस्करण : 2014, पृ. 1–2
3. https://www.garbhanal.com/manaveeya.sarokaron.ko.banchate.santa.kabeera
4. कबीर ग्रंथावली, संपा. रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–01, 12वाँ संस्करण–2018, पृ. 115
5. कबीर ग्रंथावली, संपा. रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–01, 12वाँ संस्करण–2018, पृ. 105
6. बहुमत, पत्रिका, अंक 9–10 संयुक्तांक, कबीर केन्द्रित विशेषांक, वर्ष–1998, पृ. 44

7. https://www.sahapedia.org/kabaira.kae.kaavaya.maen.parayaavaranaiya.caetanaa.depiction.nature.kabirs.poetry
8. पद्मावत–मलिक मुहम्मद जायसी, टीका, वासुदेवशरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–01, संस्करण–2016, पृ. 04
9. पद्मावत–मलिक मुहम्मद जायसी, टीका, वासुदेवशरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–01, संस्करण–2016, पृ. 33
10. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य–मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, द्वितीय संस्करण–1997, पृ. 165
11. सूरसागर भाग–एक, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1978 ई. (संवत् 2035), पद संख्या–185
12. सूरदास–संपादक, हरबंसलाल शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, द्वितीय संस्करण–2011, पृ. 215
13. श्रीरामचरितमानस, तुलसीदास, टीका, गीता प्रेस, गोरखपुर, संम्वत् 2071, बालकाण्ड/दोहा संख्या–226
14. श्रीरामचरितमानस, तुलसीदास, टीका, गीता प्रेस, गोरखपुर, संम्वत् 2071, अयोध्याकाण्ड/दोहा संख्या–131
15. उन्मेश पत्रिका, संपादक– डॉ. राधेश्याम मौर्य, प्रकाशक, जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश, वर्ष–1, अंक–1, नवम्बर 2014–15, पृ. 06
16. भाषा, पत्रिका, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली, मार्च–अप्रैल–2020, पेज संख्या–66

Mob.- 8853309388
Email.: awadheshkkt@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 54-59

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

दीपक कुमार, शोधार्थी,
डॉ. अनिल कुमार, सहायक प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्य में जीवन जी ने की इच्छा उत्पन्न हुई और इस जीवन के सुखद क्षणों की खोज के लिए वह सदैव प्रयासरत्त रहा हैं। प्रकृति द्वारा प्रदान की गई सुख–सुविधाओं से संतुष्ट ना रहकर वह ज्यादा से ज्यादा वस्तुओं को अपने लिए उपयोगी बनाने में सदैव प्रयत्नशील रहा हैं। यह मनुष्य का सांस्कृतिक जीवन हैं। मनुष्य के विकास का आधार उसकी बुद्धि है, जो सृष्टि के अन्य प्राणियों को मनुष्य से अलग करती हैं। मनुष्य समय–समय पर अपने जीवन जीने का ढंग बदलता रहता हैं। वह अन्य जीवधारियों की तरह पूर्णरूप से प्रकृति पर निर्भर नहीं रहता। वास्तव में प्रकृति ने मनुष्य को बुद्धिमान बनाया हैं। मानव बुद्धि के द्वारा ही अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं और द्वितीय आवश्यकताओं को पूर्ण करके सुख की अनुभूति करता हैं, लेकिन वह इतना प्राप्त करने पर भी संतुष्ट नहीं रहता। मनुष्य स्वभाव से ही अपनी या प्रकृति की किसी रचना को पूर्ण मानकर संतुष्ट नहीं होता, बल्कि नित्य ही उसे अधिक पूर्ण या सुंदर बनाने का प्रयत्न करता रहा हैं। किसी रचना को सुंदर बनाने या पूर्ण बनाने के प्रयास से मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य भावना का परिचय देते हैं। मानव का यही विकास संस्कृति है।

संस्कृति पूर्वजों से प्राप्त मानव जाति की वह श्रेष्ठ धरोहर है जिसको मनुष्य अपने अनुसार ढालकर अपना विकास करता है और चलते समय उन तत्वों में सुधार कर आने वाली पीढ़ी को सौंप देता हैं। 'मानव की श्रेष्ठ साधना ही संस्कृति है।'[1] इस आधार पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य की सबसे ऊंची साधना संस्कृति हैं।

मानव संस्कृति का निर्माता हैं। संस्कृति मानव द्वारा निर्मित मानव की सबसे बड़ी संपत्ति हैं एक ऐसा पर्यावरण है, जिसमें रहकर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बनने के साथ–साथ प्राकृतिक दशाओं को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता प्राप्त करता हैं। यदि किसी मानव से उसकी संस्कृति को छीन लिया जाए तो उसके पास कुछ भी शेष नहीं रहेगा, वह फिर मनुष्य में रहकर एक प्रकार का नर–वानर होगा। 'यह संस्कृति ही है जो एक व्यक्ति को अन्य सभी व्यक्तियों से एक समूह को अन्य सभी समूह से और एक समाज को दूसरे समाज से पृथक करती है।'[2]

संस्कृति शब्द संस्कृत के 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु में 'सुट्' आगम पूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ हैं। इसका मूल अर्थ 'साफ' या 'परिष्कृत' करना है।[3]

संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा की 'कृ' धातु से पूर्व 'सम्' उपसर्ग और उसके अनन्तर 'क्तिन्' प्रत्यय के

संयोग से संस्कृति शब्द की रचना हुई है।[4]

'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सूट का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से व्युत्पति के आधार पर संस्कृति का अर्थ भूषण युक्त समय कृति हुआ।[5] कल्याण, हिंदू संस्कृति, अंक पृष्ठ संख्या 24 संस्कृति व्युत्पत्ति एवं अर्थ : संस्कृति स्त्री (सं. सम्/कृ (करना+क्तिन –सुट्)–वि. सांस्कृतिक)

1. संस्कार करने अर्थात् किसी वस्तु को संस्कृत रूप देने की क्रिया या भाव। परिमार्जित, शुद्ध या साफ करना संस्कार। 2. अलंकृत करना या सजाना। 3. आजकल किसी समाज की वे सब बातें जिनसे विदित होता है कि उसने आरम्भ से अब तक कुछ विशिष्ट क्षेत्र में कितनी उन्नति की है।

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार संस्कृति भी सभ्यता का ही दूसरा पक्ष या भाग हैं। सभ्यता मुख्यतः सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सिद्धियों से संबंध है और संस्कृति मानसिक आध्यात्मिक तथा बौद्धिक सिद्धियों से संबंध हैं। यह संस्कृतिकला–कौशल के क्षेत्र की उन्नति परंपरागत योग्यताओं और सामाजिक रहन–सहन तथा विशिष्टताओं के आधार पर आंकी जाती हैं। सभ्यता मानव समाज की बाह्य और बौद्धिक सिद्धियों की मापक है और संस्कृति लोगों की आंतरिक तथा मानसिक उन्नति की परिचायक होती हैं। इसलिए सभ्यता समाजगत् और संस्कृति मनोगत होती हैं। 4 छंद शास्त्र में 24 वर्णों वाले वृत्तों की संज्ञा।[6]

कल्चर :–

अंग्रेजी में संस्कृत के समानार्थक रूप में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'कल्चर' शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा की धातु 'कुल्तुस' से हुई है। इसका मूल अर्थ है, 'कृषि करने की क्रिया' है।[7]

पाश्चात्य साहित्य में लंबे समय तक इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग होता रहा, किंतु शनैः शनैः इसमें अन्य अर्थ भी शामिल होते गए और जिस अर्थ में यह शब्द ग्रहण किया गया हैं, उससे तात्पर्य हैं– विचार, रुचि एवं आचार का परिष्करण एवं प्रशिक्षण। इस प्रकार से परिष्कृत एवं प्रशिक्षित होने की स्थिति तथा सभ्यता का बौद्धिक पक्ष।[8]

'कल्चर' शब्द की परिभाषिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए टी.एस. इलियट ने लिखा है– 'कल्चर' क्रिया एवं व्यापारों की समष्टि मात्र नहीं, अपितु जीवन व्यतीत करने का एक विशेष प्रकार है।'[9]

कुछ विद्वान 'कल्ट' से 'कल्चर' का संबंध स्वीकार करते हैं। 'कल्ट' का मूल अर्थ है धार्मिक क्रिया अथवा उपासना। 'यजुर्वेद में भी संस्कृति को एक ऐसी सृष्टि माना गया है जो विश्व में वरन करने योग्य अथवा विश्व का उन्नयन करने वाली है।'[10] 'अष्टाध्यायी' ने संस्कृति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ मण्डन माना हैं।[11]

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'संस्कृति' एवं 'कल्चर' समानार्थी ही हैं। इन दोनों के मूल अर्थ में परिष्करण एवं उन्नयन की भावना सन्निहित है।

संस्कृति का अर्थ :–

संस्कृति शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। इसे शब्दों के दायरे में बांधना कठिन कार्य हैं। किंतु इसे विस्तार से जानने के लिए प्रारंभ में इसका शाब्दिक अर्थ जानना जरूरी हैं।

1. **बृहत् शब्द कोश :–** 'पूरा करना, शुद्धि, सुधार, परिष्करण, निर्माण, पवित्रीकरण, सजावट, निश्चय, उद्योग, आचरणगत, परंपरा, सभ्यता का वह स्वरूप जो आध्यात्मिक एवं मानसिक वैशिष्ट्य का घोतक होता है।'[12]

2. **धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश :–** 'इस अर्थ में संस्कृति को सामाजिक प्रथा (कस्टम) का भी प्रायः कहा

जा सकता हैं। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जा सकता हैं। इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जा सकती है, जो व्यक्ति को परिष्कृत एवं संवृद्ध बनाते हैं।'[13]

3. डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य के अनुसार :– 'संस्कृति अथवा कल्चर मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियां तथा उनके परिष्कार का घोतक हैं। जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना किसी विकास का परिणाम हैं।'[14]

4. रामस्वरूप शास्त्री के संस्कृत कोष पृष्ठ 555 के अनुसार :– 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगने से 'संस्कृति' शब्द बनता हैं। सम् का अर्थ है– 'सम्यक' रूप से और 'कृ' धातु 'करने' के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार सम्य क्रूप से किये गए कार्यों की श्रृंखला ही संस्कृति हैं। सभ्यता, आचार–विचार, शुद्धि, संस्कार, परिष्कार संस्कृति के पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं।'[15]

इस प्रकार विभिन्न शब्द कोशों में संस्कृति को विभिन्न रूपों में स्पष्ट किया गया हैं। संस्कृति मनुष्य में संशोधन करती हैं। वह पुरानी वस्तुओं का त्याग कर नए का सर्जन करती हैं। मन पर जब दुष्प्रभाव मनुष्य पर हावी होने लगते हैं तब, संस्कृति ही उसको रोकने का कार्य करती है अर्थात् मनुष्य को दुष्प्रभावों से बचाती हैं। मनुष्य सदैव क्रियाशील प्राणी रहा हैं। वह जीवन में परिवर्तन के लिए कुछ ना कुछ सर्जन करता ही रहता हैं। विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करता हैं। जीवन में जो भी श्रेष्ठ या उत्तम होता है, उसे ग्रहण करने की शक्ति मनुष्य में प्रारंभ से ही विद्यमान हैं। संस्कृति के कारण ही मनुष्य सभी जीवों में श्रेष्ठ माना जाता हैं। अतः संस्कृति मानव मन के वे संस्कार है जो मनुष्य में गुणों की रचना करते हैं जो मानव जाति के विकास के लिए अनिवार्य हैं।

संस्कृति की परिभाषाएं :–

संस्कृति का शाब्दिक अर्थ जानने के पश्चात् हमारे मानसिक पटल में एक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती हैं। मनुष्य के सर्वोत्तम विचारों का संकलन संस्कृति कहलाती हैं। इसका व्यापक अर्थ जानने के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक हैं।

1. डॉ. नगेंद्र के अनुसार, 'संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है, जहाँ उसके प्राकृत राग द्वेषों में परिमार्जन हो जाता हैं।'[16]

2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'संस्कृति मानव की विभिन्न साधनों की सर्वोत्तम परिणति हैं।'[17]

3. बाबू गुलाब राय के अनुसार, 'संस्कृति हमारी प्रकृति की गोद में पली हुई आध्यात्मिक संस्कृति हैं। सबमें एक ही आत्मा का दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और सबके लिए 'सर्वेभवंतुसुखिनः सर्वसंतुनिरामयाः' की सद्भावना की गई हैं।'[18]

4. रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति जीवन का तरीका है। यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी हैं, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे जीवन को लादे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ हैं।'[19]

5. डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा, 'संस्कृति का संबंध व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन को रचनात्मक दृष्टि या गति प्रदान करने वाले जीवन मूल्यों से है।'[20]

6. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का मत, 'संस्कृति और प्रकृति परस्पर सापेक्ष शब्द है। प्रकृति अतिशय अथवा श्रेष्ठता का आधार ही संस्कार या संस्कृति हैं।'[21]

उपरोक्त परिभाषाओं में संस्कृति को विस्तृत रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया हैं। संस्कृति का संबंध प्रकृति से बताया गया हैं। मनुष्य के चारों ओर का वातावरण जिसमें उसकी क्रियाएं भी शामिल होती है, संस्कृति कहलाती हैं। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन प्रकृति के साथ जुड़ा होता है। यह प्रकृति ही संस्कृति होती है। इसके अलग मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं होता है। यह व्यक्ति में मनुष्यता की पहचान कराती है। मानव जीवन को सुख–समृद्धि से भरने में संस्कृति की मुख्य भूमिका होती हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी की परिभाषा के अनुसार मनुष्य अपने जीवन में जो श्रेष्ठ कार्य करता है। वह मानव के लिए जिन दुर्लभ कार्यों को करता हैं। वह उसकी संस्कृति में निहित होते हैं। समाज के हित के लिए मनुष्य जिन संघर्षों को पार करता हैं, उसके लिए संस्कृति ऊर्जा का कार्य करती हैं। दिनकर के अनुसार संस्कृति मनुष्य को जीवन जीने सिखाती है। वह मनुष्य को मार्गदर्शन प्रदान करती है। जिसका अनुकरण सदियों तक होता रहता है। व्यक्ति जहां जन्म लेता है, उसके चारों ओर का आवरण वहां की संस्कृति में शामिल होता हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कृति मानव जीवन से जुड़ी होती हैं। संस्कृति का निर्माण किसी एक मनुष्य ने नहीं किया। यह सभी के कार्यों का संचय है। इसके निर्माण की कोई निश्चित सीमा नहीं हैं।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल संस्कृति और प्रकृति को समान मानते हैं। दोनों ही उत्तम को धारण करते हैं। मनुष्य में विकास के लिए चेतना जागृत करते हैं। मनुष्य द्वारा किए गए कार्य उसके मस्तिष्क द्वारा पूर्व निर्धारित होते हैं। सामान्यः जीवन में वह जो कुछ भी करता है, स्वयं की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार करता हैं। प्रत्येक व्यक्ति की जीवन शैली उसकी प्रतिभा एवं मानसिक विकास द्वारा पूर्णता प्रभावित होती हैं। वह विचार जो मनुष्य को शुद्ध करता है, उसे लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है, वह संस्कृति है। मनुष्य के दुर्गुणों को दूर कर उसे पवित्र बनाने का कार्य संस्कृति करती हैं। अतः संस्कृति समाज की पहचान होती है। संस्कृति जितनी श्रेष्ठ होगी, समाज को उतना ही महान् माना जाता है। समाज में रहने वाले लोग जिन परंपराओं और रीति–रिवाजों को अपनाते हैं और उनका पालन करते हुए, वे संस्कृति में सम्मिलित होती हैं। वर्तमान में अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का अनुकरण किया जा रहा हैं।

संस्कृति की पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएं :–

1. यंग के अनुसार, 'संस्कृति शब्द न्यूनाधिक रूप में आदतों, विचारों, अभिवृत्तियों और मूल्यों के उन संगठित ओर सुदृढ़ प्रतिमानों की ओर संकेत करता हैं। जिन्हें एक नवजात शिशु अपने से बड़े लोगों अथवा स्वयं बड़े होने के कारण अन्य व्यक्तियों से प्राप्त करता हैं।'[22]

2. क्रोबर के अनुसार, 'समाज साहित्य के रूप में संस्कृत से संबंधित रहता हैं तथा उसके साथ ही संस्कृति का वाह कभी है किंतु इत्तर प्राणियों के साथ मानव की तुलना करने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ समाज व्यवस्था किसी न किसी रूप से अवस्थित होते हुए भी वे संस्कृति विहीन है।'[23]

इन परिभाषाओं से संस्कृति का अर्थ हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता हैं। कुछ महत्वपूर्ण बातें हमारे सामने

आती है जो संस्कृति की मुख्य विशेषताएं कही जा सकती हैं। संस्कृति ऐसे महान व्यक्तियों द्वारा निर्मित की जाती है जिस समाज में अपने कार्यों के लिए सदैव स्मरण किए जाते हैं इन्होंने स्वयं के जीवन को तपस्या बनाकर समाज के उत्थान के लिए कार्य की अपना संपूर्ण जीवन देश हित एवं समाज हित में अर्पित करने वाले लोग वास्तव में संस्कृति के निर्माता हैं। समाज में कुछ चुनिंदा व्यक्ति ही ऐसे करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे व्यक्ति युग पुरुष कहलाते हैं। जिन्हें उनके कार्य से जाना जाता हैं। भावी पीढ़ियां इनसे प्रेरणा लेती है।

संस्कृति अपने समकालीन जनों के साथ–साथ परवर्ती समाज को भी शिक्षित करने का काम करती हैं। जीवन को उत्तम गुणों से सुशोभित करती हैं। मानव जीवन संस्कृति के बाद में निरर्थक प्रतीत होता हैं। क्रोबर की परिभाषा में संस्कृति और समाज के संबंध को दर्शाया गया है। यह दोनों एक–दूसरे को बहुत प्रभावित करते हैं। समाज ही संस्कृति को भावी पीढ़ियों तक पहुंचाने का काम करता है। किंतु यह सदैव आवश्यक भी नहीं होता कि प्रत्येक समाज संस्कृति जन्य हो। कुछ समाज संस्कृति विभिन्न भी होते हैं। उनका अस्तित्व समय के साथ नष्ट हो जाता है। संस्कृति में मनुष्य के गुणों के साथ–साथ मानव जीवन के सभी पक्ष शामिल होते हैं। संस्कृति सदैव मनुष्य के साथ रहती है और मनुष्य उसके विकास में लगा रहता हैं।

संदर्भ सूची :–

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल भारतीय संस्कृति की देन, निबंध, पृष्ठ संख्या 75
2. Rebert Bierstedt, The Social Order, P.137
3. गुलाबराय, साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ संख्या 16
4. (अ) 'शब्द कल्पद्रुम' पंचम काण्ड, पृष्ठ संख्या 106–107,
   (आ) 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ', पृष्ठ संख्या 1148
5. कल्याण, हिंदू संस्कृति अंक, पृष्ठ 24
6. रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, पृष्ठ संख्या 243
7. Cultra, frcultus (pass part of colere to till, culdvite) ura-ura.
8. The training, development and refinement of mind tastes and manners, the condition of being thus trained and refind, the intellectual side of civilization.
9. T.S. Eliot- notes towards- the definition culture, "Culture is not merely the sum of several activities but away of life.
10. पृथ्वी कुमार अग्रवाल, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ 1–2
11. 'संपरिभ्याकरोतौभूषणे'– पाणिनी, अष्टाध्यायी सूत्र पाठ पृष्ठ 58
12. सं. कालिका प्रसाद, बृहत् हिंदी कोश, पृ –1178
13. सं. धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग–1 पृष्ठ 712
14. डॉ. रामसजन पांडे, संतों की सांस्कृतिक संसृति से उद्धृत, पृष्ठ 11
15. डॉ. हरीशचंद्र वर्मा, तुलसी साहित्य के संस्कृतिक आयाम से उद्धृत, पृष्ठ 48–49
16. डॉ. नगेंद्र, साकेत : एक अध्ययन, पृ 100

17. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 64
18. बाबू गुलाबराय भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 28
19. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 53
20. डॉ. हरीशचंद्र वर्मा, साहित्य चिंतन के नए आयाम, पृष्ठ 113
21. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ 1
22. एम.पी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन से उद्धृत, पृष्ठ 2
23. डॉ. आर्याप्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन से उद्धृत, पृष्ठ 9

ईमेल :anilkumar.hindi@mdurohtak.ac.in
ईमेल : dev.saawriya@gmail.com
Mob: 7876111989

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 60-63

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति एवं परम्परा

'छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति एवं परम्पराओं के संदर्भ में'

धनेश्वरी पटेल

सहायक प्राध्यापक, शासकीय टी.सी.एल. स्नातकोत्तर महाविद्यालय जांजगीर, जिला–जांजगीर–चांपा (छ.ग.)

भारत एक प्राचीन देश है। यहां के लोगों द्वारा जिन दार्शनिक मार्गों का अनुसरण किया गया, जीवन यापन हेतु जिन पद्धतियों को अपनाया गया, उन्हें ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता कहा जाता है। भारतीय संस्कृति के निर्माण के पीछे हमारे देश का सदियों का इतिहास एवं इसकी वैभवशाली विरासत है, जो इसे विश्व की सबसे प्राचीन एवं महान संस्कृतियों में से एक बनाती है। विश्व में भारत के रीति–रिवाजों एवं परम्पराओं को बहुत ही विविध तथा अद्वितीय माना जाता है। हम सभी हमारे पूर्वजों की बनाई हुई परम्पराओं का पालन करते है।

भारत में हिन्दु धर्म मानने वाले कई जाति, वर्ण एवं सम्प्रदायों में बंटे हुए है इनकी अपनी अलग–अलग मान्यताएं, संस्कृति एवं रीति–रिवाज है जो इस देश की धार्मिक संस्कृति को विस्तार देने में अपना प्रमुख योगदान देती है। हिन्दु धर्म चार वर्णों में बंटा है, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र। प्रत्येक वर्ण हिन्दु धर्म से जुड़े होने पर भी एक दूसरे से भिन्न है।

यहां लगभग 13 प्रतिशत भारतीय मुस्लिम है। ईसाई और सिख आबादी का एक छोटा प्रतिशत भी यहां निवास करता है। इन धर्मों के भिन्न–भिन्न त्योहार, संस्कार, रीति आदि मिलकर यहां की संस्कृति को भव्यता प्रदान करते है।

हमारे देश भारत ने संस्कृति और परम्परा के संचित ज्ञान कोष से विश्व को अनेको सांस्कृतिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक रचनाएं प्रदान की है इन रचनाओं में आर्यभट्ट द्वारा शून्य का आविष्कार, चरक की आयुर्वेद, प्राचीन भाषा संस्कृत, योग, अध्यात्म आदि अनेको सृजन है। भारतीय संस्कृति की इन रचनाओं ने विश्वपट्ट में न केवल अपनी अमिट छाप अंकित की है, अपितु समस्त विश्व इन रचनाओं का पथ–प्रदर्शक स्वस्प अनुकरण कर इन्हें अपने जीवन में अपना रहा है।

भारतीय संस्कृति से उत्सर्जित ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' से समस्त विश्व को जहां एक परिवार बना दिया है वहीं ''अतिथि देवो भवः'' की भावना से परायों को भी अपना बना लिया है।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं :– जब समूचा विश्व अंधकार में डूबा था तब भारत अपने ज्ञान की ज्योति से प्रकाश दे रहा था :–

1. प्राचीनता :– विश्व की प्राचीन संस्कृति में से एक है भारतीय संस्कृति।
2. निरंतरता :– भारत पर अनेक विदेशी आक्रांताओं द्वारा आक्रमण हुए, विदेशियों ने भारत पर राजनीतिक

विजय भले ही पायी हो किन्तु वे उस पर सांस्कृतिक विजय न पा सके। अतः भारतीय संस्कृति की धारा सदियों से अबाध रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है।

3. धर्म की प्रधानता :– भारतीय संस्कृति में धर्म की प्रधानता रही है, इसमें धर्म को कर्तव्य के रूप में अपनाया गया है ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' इसका मूल मंत्र रहा है।

4. आध्यात्मिकता :– हमारा देश आरंभ से ही आध्यात्मिक रहा है। अतः हमने सदैव सांसरिक सुख के स्थान पर पारलौकिक को महत्वपूर्ण माना है जहां पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवाद की ओर उन्मूख है वही भारतीय संस्कृति आध्यात्मवाद पर आधारित है।

5. विविधता में एकता :– भारत एक विशाल देश है जहां धर्म, जातियां, भाषाएं, जलवायु आदि की विविधताएं विद्यमान है इन विविधताओं के बाद भी हमारे भौगोलिक सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक एवं धार्मिक जीवन में एकता के लक्षण देखने को मिलते है।

छत्तीसगढ़ी संस्कृति एवं परम्परा :-

छत्तीसगढ़ भारत के हृदय भाग में पूर्व की ओर उत्तर से दक्षिण एक पट्टी के रूप में स्थित है। यह क्षेत्रफल की दृष्टि से देश का नौवां व जनसंख्या की दृष्टि से यह देश का सत्रहवां राज्य है।

छत्तीसगढ़ प्राचीन सोलह जनपदों के कोशल जनपद का दक्षिणी प्रदेश था इसलिए इसे दक्षिण कोशल के नाम से जाना जाता रहा है। ब्रिटिश काल में यह राज्य मध्य प्रांत व बरार का हिस्सा था। सन् 1956 में छत्तीसगढ़ मध्य प्रदेश का भाग बना। 01 नवम्बर 2000 को यह मध्य प्रदेश से अलग होकर स्वतंत्र राज्य के रूप में अस्तित्व प्राप्त किया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ को एक लघु भारत कहा जाता है। इस प्रदेश की सीमाएं उत्तर प्रदेश, झारखण्ड, उड़ीसा, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, तेलंगाना, मध्यप्रदेश की सीमाओं से मिलती है। इन प्रदेशों के सांस्कृतिक सम्पर्को और कलाओं के आदान–प्रदान ने छत्तीसगढ़ को भारत की सांस्कृतिक एकता के वैभवशाली प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

छत्तीसगढ़ में हिन्दु धर्म को मानने वाले अधिक है। मुस्लिम व ईसाई धर्म के अनुयायी भी छूटपूट है छत्तीसगढ़ अपनी आदिवासी लोक संस्कृति एवं लोक परम्पराओं से भारत ही नहीं वरन् विश्व में अपनी एक अलग पहचान स्थापित कर रहा है। यहां की विभिन्न बोलियां, साहित्य, कलाएं, लोकगीत, लोक नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि से छत्तीसगढ़ की अनूठी लोक संस्कृति को अलग से पहचाना जा सकता है।

परम्पराएं किसी भी समाज देश के लिए उसकी बौद्धिकता का परिचय देती है यह लोक जीवन का प्रमुख आधार है।

छत्तीसगढ़ की परम्पराओं को सबल व सक्षम बनाएं रखने के लिए पर्वों का प्रमुख स्थान है। पर्वों में यहां की संस्कृति झलकती है। इन पर्वों, उत्सवों व परम्पराओं का सीधा संबंध यहां की कृषि (धान की फसल) से है। ये पर्व देश के विभिन्न भागों से अलग–अलग रूपों में आंचलिक संस्कृति के साथ मनाये जाते है किन्तु कुछ ऐसे स्थानीय पर्व है जो छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचल में ही मनाएं जाते है।

छत्तीसगढ़ के प्रमुख लोक पर्व व त्यौहार :-

हरेली :– मुख्यतः किसानों का पर्व है, धान बुआई के बाद श्रावण मास की अमावस्या को कृषि उपकरणों

एवं लौह उपकरणों की पूजा की जाती है। छत्तीसगढ़ अंचल में प्रथम पर्व के रूप में मनाया जाता है।

भोजली :– भाद्र मास की प्रतिपदा को यह पर्व मनाया जाता है। इस दिन लगभग एक सप्ताह से बोये गये गेहूँ चावल के भोजली को विसर्जित किया जाता है। यह मित्रता का पर्व माना है इस अवसर पर भोजली आदान–प्रदान की जाती है।

पोला :– भाद्र अमावस्या को बैलों की पूजा की जाती है। बैलों को सजाकर बैल दौड़ प्रतियोगिता कराई जाती है।

देवारी :– देवारी (दीपावली) दीपोत्सव के रूप में मनाया जाता है।

गौरा :– गौरा कार्तिक मास में मनाया जाता है इस उत्सव पर शिव–पार्वती की पूजन की जाती है।

दशहरा :– इसे राम विजय के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है। शस्त्र पूजन कार्य किया जाता है। बस्तर का दशहरा विश्व प्रसिद्ध है।

छेरछेरा :– पौष मास पूर्णिमा को मनाया जाता है। नये फसल के काटने के बाद यह पर्व मनाया जाता है। यह मूलतः दान का पर्व है इसमें बच्चे घर–घर जाकर अन्न (धान) अर्जित करते है।

आमाखायी :– बस्तर में घुरवा व परजा जनजातियों द्वारा आम फलने के समय यह त्यौहार मनायी जाती है।

सरहुल :– यह ऊंराव जनजाति का महत्वपूर्ण त्यौहार है। प्रतीकात्मक रूप से सूर्य व धरती का विवाह रचाया जाता है।

ककसार :– ककसार उत्सव अबूझमाड़िया आदिवासी में एक महत्वपूर्ण पर्व है। इसमें स्त्री–पुरूष नृत्य करते है। इस समय विवाह संबंध भी तय किये जाते है।

छत्तीसगढ़ की संस्कृति यहां के तीज त्यौहारों में स्पष्ट रूप से देखी जाती है।

1. **छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य :–** साहित्य सृजन की छत्तीसगढ़ में एक समृद्ध परम्परा रही है। छत्तीसगढ़ी हिन्दी भाषा समूह की पूर्वी बोली उपसमूह की एक बोली है। हिन्दी और उसकी बोलियों में साहित्य रचना अपभ्रंश के बाद आरंभ हुई। इसी क्रम में छत्तीसगढ़ी साहित्य में साहित्य सृजन लगभग 1000 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ। वीर गाथा काल में अहिमन रानी, केवला रानी, राजावीर सिंह की गाथाएं, भक्तिकाल में संत धर्मदास की पद, आधुनिक काल में काव्य, गद्य व्याकरण उपन्यास आदि की प्रचुर भण्डार छत्तीसगढ़ी में मिल जाती है। आधुनिक काल में राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत अनेक काव्य की रचना हुई।

2. **लोक गायन :–** छत्तीसगढ़ में लोक गायन की अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है। लोक गायक परम्परागत गाथाओं फूटकर गीतों, सांस्कृतिक गीतों, नृत्य गीत एवं पर्वो से जुडे गीतों का गायन करते है।

सुआ, कर्मा ददरिया, संस्कार गीत, भोजली, पंथी, बांस गीत आदि छत्तीसगढ़ के प्रमुख लोक गीत है।

3. **लोक नृत्य :–** पंथी नृत्य, कर्मा नृत्य, सुआ नृत्य, गौर नृत्य, सैला नृत्य, सरहुल, अटारी, गेड़ी नृत्य, ककसार, दमनच, दोरला नृत्य, फाग नृत्य आदि नृत्य परम्परा छत्तीसगढ़ की पर्वों के साथ किया जाता है। इन नृत्य परम्पराओं से छत्तीसगढ़ अपनी संस्कृति की विशिष्टता भारत व विश्व के मानस पटल पर अंकित कर रहा है।

4. **लोक चित्रकला परम्परा :–** छत्तीसगढ़ में लोक चित्र की अपनी सम्पन्न परम्परा है जो विशिष्ट अवसरों,

त्यौहारों पर गृह सज्जा, भूमि पर अलंकरण, लकड़ी की पट्टि, गोदना आदि के रूप में दिखती है। इन लोकचित्रों में प्रायः देवी–देवता, पौराणिक कथा, मानव, पशु–पक्षी, ज्यामितीय, आकृतियां, शुभ चिन्ह आदि का अंकन होता है।

निष्कर्ष :-

भारतीय संस्कृति युग की मांग के आधार पर विकसित और रूपांतरित होती रही है। प्राचीन मान्यताओं तथा ऐतिहासिक, पौराणिक, आध्यात्मिक मान्यताओं पर नजर डाले तो देखते है कि हमारी संस्कृति में आज भी कही न कही इसकी पैठ ज्यों की त्यों बनी हुई है। प्राचीन काल में प्रकृति की पूजा, वृक्षों की पूजा आदि आज भी हमारे परम्पराओं व संस्कृति के अंग है। विभिन्न त्यौहार, अनुष्ठानों, पर्व आदि के द्वारा हम प्रकृति से जुड़े है। भारतीय संस्कृति का विकास अध्यात्म, धर्म तथा हिन्दू दर्शन से जुड़े होने की वजह से इसमें दृढ़ता है।

छत्तीसगढ़ राज्य जीवन्त सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्पन्न है। छत्तीसगढ़ की संस्कृति बहुआयामी है, वनों से अच्छादित और आदवासी बाहुलता के कारण यहां की कला संस्कृति व परम्पराओं में वन एवं प्रकृति का विशेष स्थान व महत्व है। छत्तीसगढ़ की संस्कृति में हमें कई प्रकार के लोकगीत, लोकनृत्य, लोक कला, भाषा, पर्व, शिल्प, विशेष व्यंजन देखने को मिलते है, यहां के आभूषणों वस्त्रों का विशेष स्थान है जो यहां की संस्कृति को और प्रभावशाली और समृद्ध बनाती है। सरल जीवन जीते हुए यहां के लोग अपनी परम्परा रीति रिवाज मान्यताओं का पालन करते है।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. भारतीय संस्कृति– एस. एल. नागोरी।
2. यूनियन सृजन (पत्रिका) संपादक– डॉ. सुलभा कोरे।
3. समग्र छत्तीसगढ़– छ.ग. राज्य हिन्दी ग्रन्थ आकादमी।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 64-69

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

कुमाउँनी संस्कृति–विविध आयाम

दिनेशराम

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,

स्वामी विवेकानंद राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लोहाघाट (चम्पावत) उत्तराखण्ड

संस्कति शब्द संस्कृत के 'कृ' धातु में सम् उपसर्ग और क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। जिसका अर्थ है– "सम्यक रूप से किया जाने वाला आचार व्यवहार।" संस्कृति के अन्तर्गत किसी देश या जाति की सामाजिक, परम्परागत क्षमताओं और कलात्मक क्रिया–कलापों का उनके जीवन में व्यवहृत रूप को लिया जाता है। संस्कृति में धार्मिक और सामाजिक आचार–विचार, ज्ञान, विश्वास, कला, संस्कार, मान्यताओं और प्रथाओं का समावेश किया जाता है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए श्री के0 एम0 मुंशी ने लिखा है– "हमारे रहन–सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था, मानसिक प्रकृति है, जिसका उद्देश्य हमारे अपने जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है, वही संस्कृति है। संस्कृति जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण हैं।" भारत एक विशाल देश है, यहाँ अनेक जातियाँ, सम्प्रदाय, एवं विविध भाषा–भाषी लोग निवास करते हैं। सम्पूर्ण भारत क्षेत्रवार विभिन्न राज्यों में बँटा है, जिसमें उनकी अपनी क्षेत्रीय संस्कृतियाँ हैं। भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है, चाहे वह भाषा के आधार पर हो, सांस्कृतिक दृष्टि से हो या फिर भौगोलिक रूप से हों। भौगोलिक विषमताओं ने ही अलग–अलग क्षेत्रों की जीवन पद्धति को प्रभावित किया है, जिससे उस क्षेत्र की संस्कृति का विकास हुआ है। इन्हीं विविध संस्कृतियों में से एक कुमाउँनी संस्कृति है, जो भारतीय संस्कृति की एक क्षेत्रीय संस्कृति है। जिसमें भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं के साथ–साथ अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती है, जो इसे अपनी अलग पहचान दिलाती है।

कुमाऊँ शब्द का प्रयोग वर्तमान में उत्तराखण्ड राज्य के नैनीताल, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, चम्पावत, बागेश्वर एवं उधम सिंह नगर जनपदों के लिए किया जाता है। प्राचीन समय में कुमाऊँ शब्द का प्रयोग केवल चम्पावत क्षेत्र के लिए किया जाता था, जिसे वर्तमान में 'काली कुमाऊँ' की संज्ञा दी जाती है। इस क्षेत्र का नाम कुमाऊँ कैसे पड़ा इस सम्बन्ध में अनेक किम्बदन्तियाँ है। इस सम्बन्ध में बद्रीदत्त पाण्डेय जी लिखते हैं– "इस प्रान्त का नाम कुर्मांचल या कुमाऊँ होने के विषय में यह किम्बदन्ती कुमाऊँ के लोगों में प्रचलित है कि विष्णु भगवान का दूसरा अवतार कूर्म अथवा कछुवे का हुआ, वह अवतार कहा जाता कि चंपावती नदी के पूर्व कूर्म पर्वत में (जिसे आजकल कांडा देव या कान देव कहते है) 03 वर्ष तक खड़ा रहा। उस समय हा...हा...हू...हू...देवतागण तथा नारदादि मुनीश्वरों ने उसकी प्रशंसा की। उस कूर्म अवतार के चरणों का चिह्न पत्थर में हो गया, और वह अब तक विद्यमान होना कहा जाता है। तब से इस पर्वत का नाम कुर्मांचल हो गया। कुर्मांचल का प्राकृत रूप

बिगड़ते–बिगड़ते कुमू बन गया और यही शब्द भाषा में कुमाऊँ में परिवर्तित हो गया।" इसी कुमाऊँ क्षेत्र के जन–जीवन में व्याप्त परम्पराएँ, रीति–रिवाज, साहित्य एवं मान्यताओं को कुमाउँनी संस्कृति के अन्तर्गत रखा जाता है। कुमाउँनी संस्कृति एक प्राचीन संस्कृति है, जिसके विविध रूप देखने को मिलते है। कुमाउँनी संस्कृति के दो रूप दृष्टिगत होते है, लोक संस्कृति एवं अभिजात्य संस्कृति। कुमाउँनी लोक संस्कृति की अपनी विकसित परम्पराएँ है, समृद्ध लोक साहित्य है, रीति–रिवाज है एवं अपनी मान्यताएँ है। जो इस संस्कृति को विकसित अवस्था में ले जाती है साथ अन्य संस्कृतियों से अलग बनाती है। कमाउँनी लोक संस्कृति अपने अन्दर कुमाऊँ क्षेत्र के सम्पूर्ण जन–जीवन को समेटे हुए है, जिसके अध्ययन से सम्पूर्ण कुमाऊँ क्षेत्र की जानकारी प्राप्त हो जाती है।

कुमाउँनी संस्कृति की विराटता के सम्बंध में डॉ0 देवसिंह पोखरिया लिखते हैं–"आचार–विचार, साहित्य, धर्म–दर्शन, प्रथा–परम्परा, रीति–रिवाज, बोली–भाषा, कला–शिल्प, आदि अभिव्यक्ति के विभिन्न उपादानों के रूप में कुमाउँनी संस्कृति की विविध विशेषताएँ प्रकट होती हैं। लोक साहित्य के विविध रूपों–लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं, लोकनृत्यों, लोकोक्तियों, पहेलियों, वास्तु एवं चित्रकला, विविध धार्मिक सम्प्रदायों, क्षेत्रीय देवी–देवताओं, वर्ण–व्यवस्था एवं जातीय विशिष्टताओं तथा विभिन्न मेलों, उत्सवों, त्यौहारों आदि में यहाँ की लोक संस्कृति और अभिजात संस्कृति मूर्त्त रूप को प्राप्त होती है।"

इस प्रकार कुमाउँनी संस्कृति प्राचीन होने के साथ–साथ समृद्ध संस्कृति भी रही है। कुमाउँनी संस्कृति के विविध पक्षों का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध कवि, लेखक, आलोचक एवं लोक संस्कृति के ज्ञाता डॉ0 शेर सिंह बिष्ट जी ने लिखा है– "कुमाऊँ का सम्पूर्ण लोक जीवन यहाँ की स्थानीय लोक रचनाओं में प्रतिबिम्बित तो है ही, साथ ही ये लोक रचनाएँ विशाल हिन्दी भाषा–भाषी क्षेत्र के साथ आन्तरिक सम्बन्ध भी स्पष्ट करती है। लोक संस्कृति ही व्यापक समानताओं के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय लोक साहित्य में लोकगीतों, लोकगाथाओं आदि का प्रर्याप्त आदान–प्रदान हुआ है तथा एक ही मूल रचना के विविध रूपान्तर कुमाऊँ, गढ़वाल, ब्रज या अवध में समान रूप से मिलते है।"

किसी भी संस्कृति के अन्तर्गत उस क्षेत्र के लोक जीवन के विभिन्न पहलुओं को लिया जाता है। कुमाउँनी संस्कृति के विविध आयामों को हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं :–

कुमाऊँ क्षेत्र का सामाजिक परिवेश :-

सामाजिक जीवन की दृष्टि से कुमाऊँ का समाज प्राचीन भारतीय समाज की भाँति चार वर्गों में विभाजित है–ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य एवं शूद्र और ये सभी वर्ग अनेक उपजातियों में बँटा है। कुमाऊँ क्षेत्र में जाति का बन्धन बहुत ही कठोर है। यहाँ आज भी खान–पान से लेकर विवाह बन्धन में जाति विशेष का ध्यान रखा जाता है। कुमाउँनी समाज में पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था है। यहाँ पूर्व में पुरूष वर्ग का कार्य परिवार के भरण–पोषण की व्यवस्था करना तथा महिलाओं को घर के कार्य करना होता था। आज भी यहाँ के अधिकतम पुरूष रोजगार की तलाश में अन्य राज्यों में जाते है। कुमाऊँ क्षेत्र में हिन्दुओं के अलावा सिक्ख, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मों के लोग निवास करते हैं। यहाँ का पारिवारिक ढाँचा मूल रूप से संयुक्त परिवार का रहा है, जिसमें परिवार का सबसे बुजुर्ग व्यक्ति परिवार का मुखिया होता है परन्तु वर्तमान में बाहरी प्रभाव एवं रोजगार जैसे कारणों से संयुक्त परिवार के स्वरूप में कुछ विघटन दृष्टिगत हो रहा है।

कुमाऊँ क्षेत्र में उपरोक्त जातियों के अलावा कुछ जनजातियाँ भी रहती है, जिनका सामाजिक परिवेश अन्य जातियों से अलग है तथा उनके रहन–सहन, मान्यताएँ एवं परम्पराएँ भी भिन्न है। कुमाऊँ के सामाजिक जीवन में अनेक मान्यताओं एवं संस्कारों का विशेष महत्त्व है। किसी भी सामाजिक कार्य से पूर्व संस्कार आवश्यक रूप से होता है। वैदिक साहित्य के अनुसार मनुष्य के जीवन में होने वाले सोलह संस्कारों में अधिकतम संस्कारों का निर्वहन जीवन में होता है। कमाऊँ की सामाजिक व्यवस्था में संस्कारों के निर्वहन के सम्बन्ध में देव सिंह पोखरिया लिखते हैं–"कुमाऊँ में कुछ नाम परिवर्तन के साथ शोडष संस्कारों की परम्परा प्रचलित है। सामाजिक दृष्टि इनमें पुत्र जन्म, मुंडन, व्रत बंध, विवाह आदि का सर्वाधिक महत्त्व है। कुमाऊँ के फाग और शकुनाखर गीतों में शोडष संस्कारों सम्बंधी गीत गाये जाते हैं। कभी इन सभी संस्कारों का अत्यधिक सामाजिक महत्त्व रहा होगा, परन्तु अब प्रायः व्रत बंध, विवाह, आदि संस्कारों के अवसर पर ही अन्य पूर्वव्रती संस्कार विषयक गीत गाकर उनकी रस्म अदायगी कर ली जाती है।"

कुमाउँनी संस्कृति में संस्कारों का बड़ा महत्त्व रहा है, यहाँ संस्कारों को बड़े ही हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता रहा है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था आज भी उन ही नियमों बंधनों में बँधी है जो प्राचीन है, यहाँ का सामाजिक ढाँचे में समय के साथ उतने परिवर्तन नहीं दिखाई देते है, जितने कि अन्य संस्कृतियों में दृष्टिगत होते है।

कुमाउँनी लोक साहित्य :–

किसी भी संस्कृति के अंगों में साहित्य का प्रमुख स्थान है, जो उस सस्कृति को संरक्षित करने एवं प्रसारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। जिस संस्कृति का साहित्य जितना समृद्ध होगा, वह संस्कृति उतनी ही विख्यात होगी। कुमाउँनी संस्कृति के दो रूप दृष्टिगत होते है– लोक संस्कृति एवं अभिजात्य संस्कृति। कुमाऊँ क्षेत्र की विशिष्टता, यहाँ की लोक संस्कृति के द्वारा ही है। लोक संस्कृति एवं लोक साहित्य के सम्बन्ध में डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने कहा है– "यदि लोक संस्कृति की उपमा किसी विशाल वट वृक्ष से दी जाए तो लोक साहित्य को उसकी एक शाखा समझना चाहिए। यदि लोक संस्कृति शरीर है तो लोक साहित्य उसका एक अवयव है।

लोक संस्कृति का क्षेत्र विस्तार अत्यन्त व्यापक है परन्तु लोक–साहित्य का विस्तार संकुचित है। लोक संस्कृति की व्यापकता जन–जीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है, परन्तु लोक साहित्य जनता के गीतों, कथाओं, गाथाओं, मुहावरों तक ही सीमित है। लोक–संस्कृति अंग है तो लोक–साहित्य अंगी है। लोक–संस्कृति में लोक–साहित्य का अन्तर्भाव होता है परन्तु लोक–साहित्य में लोक संस्कृति का समावेश होना सम्भव नहीं।" लोकसाहित्य लोकसंस्कृति की एक शाखा के रूप में कार्य करती है।

डॉ0 कृष्णानंद जोशी जी ने अपने कुमाऊँ का लोकसाहित्य संग्रह में कुमाऊँ के लोकसाहित्य तीन भागों में विभाजित किया है तथा उन तीन वर्गों के अन्तर्गत अनेक उप वर्गों में विभाजित किया है :–

1. **पद्यात्मक (गेय) :–** इसके अन्तर्गत उन्होंने लोकगीतों को रखा है और लोक गीतों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है – (क) धार्मिक गीत (ख) संस्कारगीत (ग) ऋतुगीत (घ) कृषि संबंधी गीत (ङ) उत्सव तथा पर्व संबंधी गीत (च) मेलों के गीत (छ) परिसंवादात्मक गीत (ज) न्योली तथा जोड़ (झ) बालगीत।
2. **गद्य–पद्यात्मक (चंपू काव्य) –** इस विधा के अन्तर्गत उन्होंने विभिन्न प्रकार की गाथाओं को स्थान दिया

है– (क) प्रेमप्रधान काव्य :– मालूसाही, (ख) वीरगाथा काव्य :– भड़ौ (ग) लोककाव्य :– रमोला, (घ) ऐतिहासिक गाथाएं।

3. गद्य :– कुमाउँनी लोक साहित्य के अन्तर्गत गद्य विधा के अन्तर्गत उन्होने–लोककथाओं, लोकोंक्तियों, पहेलियों एवं लोक प्रचलित जादू टोने को रखा है।

कुमाउँनी लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओं में यहाँ के लोकजीवन को उकेरा गया है। लोककथाएँ, लोकगीत, लोकगाथाएँ कमाउँनी संस्कृति की संवाहक है, इनमें लोक संस्कृति की छटा बिखरी हुई है। लोकगीतों में विशेष रूप से यहाँ की संस्कृति का चित्रण एवं मान्यताओं को दर्शाया गया है जैसे उत्सव सम्बंधी गीतों में इस क्षेत्र में मनाए जाने वाले पर्वों उत्सवों की जानकारी मिलती है और धार्मिक गीतों के माध्यम से यहाँ की मान्यताएँ तथा रीति–रिवाजों की जानकारी प्राप्त होती है। कुमाउँनी संस्कृति में मान्यता है कि किसी भी शुभकार्य/संस्कार से पूर्व पितृ पूजा या पित्रों को निमन्त्रण दिया जाता है, जिसके लिए निम्न धार्मिक गीत का गायन किया जाता है जिसमें पित्रों को पधारने हेतु आमन्त्रित किया जाता है :–

सबैतारा, सबैतारा एपुजिगई
वृसपति लै क्या बेरलैछ?
सबैदेवता, सबैदेवता एपुजिगई
बरमाबिस्नुलैक्याबेरलैछ।
सबैपितर, सबैपितर एपुजिगई।।

कमाऊँ क्षेत्र की लोककला :–

लोककला, कुमाउँनी संस्कृति का प्राण तत्त्व है। यहाँ काष्ठकला, मूर्तिकला, चित्रकला, धातुकला एवं स्थापत्य कला के रूप में कलाओं के विविध रूपों के दर्शन होते है। कुमाऊँ क्षेत्र में प्राचीन समय से काष्ठ कला का भव्य रूप देखने को मिलता है, जिसे एक समय में सम्पन्नता का प्रतीक भी माना जाता रहा है। यहाँ पहाड़ी क्षेत्रों में ढालदार छत वाले घरों छत के नीचे एवं दरवाजे, खिड़कियों में सुन्दर नक्काशीदार चित्र बनाए जाते है, जो देखने में सुंदर एवं सजीव प्रतीत होते है। कुमाऊँ क्षेत्र में अधिकतम मूर्तियाँ स्थापत्य कृतियों के रूप में मिलती है, जिनका निर्माण प्रायः मन्दिरों की प्राचीरों, गवाक्षों, आधार पीठिकाओं, छतों, द्वार स्तम्भों तथा शिला पट्टिकाओं पर हुआ है। जागेश्वर धाम अल्मोड़ा में शिव मूर्तियों के रूप में तथा अन्य मन्दिरों यहाँ की मूर्तिकला के दर्शन मिलते है।

विविध अवसरों एवं त्यौहारों के समय चित्रित होने वाले ऐपण, बारबूद, ज्यूँति, पट्टा, डिकर आदि रूपों में यहाँ की चित्रकला के दर्शन हो जाते है। चित्रकला के यह रूप अब धीरे–धीरे विलुप्त होते जा रहे है। स्थापत्य कला के रूप में इस क्षेत्र में मन्दिर तथा राज प्रासादों में यदा–कदा देखने को मिल जाता है जैसे चम्पावत का बालेश्वर मन्दिर, अल्मोड़ा का जागेश्वर मन्दिर आदि जगहों पर स्थापत्य कला के दर्शन हो जाते है। कुमाऊँ क्षेत्र की चित्रकला के सम्बन्ध में डॉ0 दिनेश चन्द्र बलूनी जी लिखते है– "ज्यूँति विवाह संस्कार पर बनाया जाने वाला प्रमुख अंकन है। जिसमें तीन देवियाँ–लक्ष्मी, सरस्वती एवं दुर्गा की आकृतियों के साथ गणेश की आकृति भी बनाई जाती है। दुर्गाष्टमी व हरेला के अवसर पर दुर्गा थापों का अंकन दीवारों पर रंगों के द्वारा किया जाता है।"

कुमाऊँ क्षेत्र की लोक मान्यताएँ एवं परम्पराएँ :-

कुमाऊँ क्षेत्र का समाज अनेक मान्यताओं एवं परम्पराओं से जुड़ा हुआ है। यहाँ अनेक लोकपर्व, उत्सव आदि बड़े धूम–धाम से मनाए जाते है। कुमाऊँ प्राचीनकाल से ही धर्म–भावना का परम पुनीत क्षेत्र रहा है। इस क्षेत्र में धर्म की आधारभूत विविध उपासना–पद्धतियाँ प्रचलित हैं। यहाँ पौराणिक देवी–देवताओं के लोक रूप का पूजन का प्रचलन है, जैसे शिव और सती का पूजन यहाँ गौरा–महेश्वर के रूप में किया जाता है। इस क्षेत्र में प्रकृति की पूजा भी विविध ढंग से की जाती है, जैसे– वृक्ष पूजा, फल पूजा, पर्वत पूजा, नदी पूजा एवं नाग पूजा इत्यादि के माध्यम से प्रकृति की पूजा अर्चना की जाती रही है।

कुमाऊँ क्षेत्र के लोगों की मान्यताओं के सम्बन्ध में डॉ0 देव सिंह पोखरिया जी लिखते हैं– "कुमाऊँ के लोक जीवन में जादू–टोना और तंत्र–मंत्र का भी बहुत अधिक महत्त्व है। जादू–टोना और तंत्र–मंत्र वस्तुतः आदि मानव की आदिम प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इनमें पारिवारिक बाधाओं, रोगों, शत्रुओं आदि से मुक्ति पाने और सुख शान्ति अर्जित करने का भाव रहता है।" कुमाऊँ क्षेत्र में अनेक परम्पराएँ प्रचलित है। साथ ही वर्षभर विभिन्न व्रत, उत्सव, पर्व आदि सम्पन्न होते रहते है। इन सभी पर्वों एवं उत्सवों के लिए क्षेत्रीय भाषा में 'त्यार' कहा जाता है। इस क्षेत्र में वर्षभर में लगभग 50 त्योहार मनाए जाते है, जो यहाँ की परम्परा से जुड़े है। यहाँ वर्षभर मनाये जाने वाले पर्व उत्सवों में प्रमुख है– नववर्ष प्रतिपदा, रामनवमी, फूलदेई, चैत्र के महीने भिटौली, वैशाख के महीने में बिखौती, ज्येश्ठ के महीने गंगा दशहरा, सावन के महीने हरेला पर्व एवं बैसी, भादौ के महीने घीत्यार या ओलगिया, विरुड़िया, आठूँ, नंदाष्टमी, कोजागर एवं दुतिया आदि। इसके अलावा अन्य धार्मिक त्योहारों को भी मनाया जाता है।

कुमाउँनी संस्कृति में अनेकों परम्पराएँ ऐसी हैं, जो प्राचीन समय से चली आ रही है और आज भी उसी जोश एवं उत्साह के साथ मनाये जा रहे है। कुमाऊँ क्षेत्र में फसल तैयार होने पर सबसे पहले लोक देवताओं को चढ़ाया जाता है तत्पश्चात् घर के प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे ही हरेला पर्व में सिर पूजना और दुतिया पर्व में बहिनों के द्वारा भाईयों की लम्बी उम्र के लिए चिवड़े से सिर की पूजा करना। इस प्रकार अनेक परम्पराओं को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि कुमाउँनी संस्कृति समृद्ध एवं प्राचीन है। इसमें अनेक मान्यताएँ हैं। प्राचीन परम्पराओं का निर्वहन किया जाता है। इसका लोक साहित्य समृद्ध है। किसी भी संस्कृति के आवश्यक तत्त्व हैं–परम्परायें, मान्यताएँ, साहित्य एवं लोककलाओं का समावेश। कुमाउँनी संस्कृति में इन सभी तत्त्वों का समावेश प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कुमाऊँ क्षेत्र की सामाजिक व्यवस्था में समाज चार वर्णों में विभाजित है पूर्व में यह कर्म आधारित था जो कालान्तर में जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गया। यहाँ का समाज पुरूष प्रधान रहा है। यहाँ संस्कारों को महत्त्व दिया जाता है। यहाँ का लोक साहित्य लोक जीवन को दर्शाता है। तथा लोक जीवन से सम्बन्धित सभी गतिविधियों को अपने समेटे हुए है।

कुमाउँनी संस्कृति कलाओं की संगम है, इस संस्कृति में काष्ठकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि के अनेकों दर्शनीय रूप देखने को मिलते है। यहाँ के मन्दिरों में स्थापत्य कला का अद्वितीय छटा देखने को मिलती है। चित्रकला को यहाँ के पर्वों के साथ जोड़ा गया है विभिन्न पर्वों में यहाँ एपण आदि चित्रकारी की जाती है। यहाँ पौराणिक देवी–देवताओं को लोक रूप में पूजा जाता है। यहां अनेक पर्वों एवं उत्सवों का आयोजन बड़े ही

हर्षोंल्लास के साथ मनाया जाता है। कुमाउँनी लोग जादू–टोना एवं तंत्र–मंत्र पर भरोसा करते हैं तथा दैनिक जीवन में खुशी प्राप्त करने अथवा मनोकामना की पूर्ति हेतु इन कार्यों को किया जाता है। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि कुमाउँनी लोक संस्कृति एक समृद्ध संस्कृति है। जो अपनी विविधतापूर्ण स्वरूप से भारत में विख्यात है।

सन्दर्भ सूची :-

1. भारतीय संस्कृति, डॉ0 राजकिशोर सिंह, प्रकाशक–विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
2. कुमाऊँ का इतिहास, बद्रीदत्त पाण्डेय, प्रकाशक–श्याम प्रकाशन, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा।
3. भारतीय जीवन और संस्कृति, शम्भुनाथ पाण्डेय, प्रकाशक–केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।
4. उत्तराखण्ड का सामाजिक एवं साम्प्रदायिक इतिहास, प्रो0 डी0डी0 शर्मा एवं प्रो0 मनीषा शर्मा, प्रकाशक–अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी।
5. कुमाउँनी भाषा साहित्य एवं संस्कृति, डॉ0 देव सिंह पोखरिया, प्रकाशक–श्री अल्मोड़ा बुक डिपो।
6. कुमाऊँ के संस्कार गीत, जुगल किशोर पेटशाली, लताकुंजवाल, प्रकाशक–तक्षशिला प्रकाशन।
7. उत्तराखण्ड के लोकसाहित्य का आयामी परिदृश्य, प्रो0 डी0डी0 शर्मा, प्रकाशक–अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी।
8. लोकसाहित्य, द्विजराम यादव, प्रकाशक–शिल्पी प्रकाशन, इलहाबाद।
9. कुमाउँनी संस्कृति, डॉ0 देव सिंह पोखरिया, प्रकाशक– श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा।
10. कुमाउँनी बाल साहित्य, प्रो0 शेरसिंह बिष्ट, प्रकाशक–अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी।

ई–मेल पता–dinesh91ary@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 70-74

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

स्वयंप्रकाश के कथा साहित्य में निम्नवर्गीय जीवन का सांस्कृतिक अवलोकन

फुरकान शाह, शोधार्थी,
डॉ. रहिम कुमारी, शोध निर्देशिका, विभागाध्यक्षा, हिंदी विभाग,
कुमारी मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, गौतम बुद्धनगर (उत्तर प्रदेश)

किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र स्वरूप का नाम संस्कृति है। इसके मूल में उस समाज के सोचने–विचारने एवं कार्य करने का ढंग समाहित होता है। अंग्रेजी भाषा में संस्कृति शब्द के लिए 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा के 'कल्ट' या 'कल्टस' से लिया गया है। जिसका मूल अर्थ विकसित करना या परिष्कृत करना है। मनुष्य अपनी बुद्धि के उत्तम प्रयोग से अपने चारों ओर की परिस्थितियों को लगातार सुधारता और उन्नत बनाता रहता है। भौतिक उन्नति से केवल शारीरिक भूख शांत हो सकती है किंतु इससे आत्मा की तृप्ति नहीं हो पाती। आत्मा की तृप्ति के लिए मनुष्य जो विकास और उन्नति करता है उसे 'संस्कृति' कहते हैं। शांति एवं सौंदर्य की खोज करते हुए मनुष्य संगीत, साहित्य, कला आदि को उन्नत बनाता है।

संस्कृति जीवन जीने का ढंग है। समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य को प्राप्त सभी उपलब्धियाँ संस्कृति से प्रेरित होती हैं। इस आधार पर संस्कृति को एक सृजनात्मक ऊर्जा माना जा सकता है। सामान्यतया संस्कृति के अंतर्गत समाज में रहने वाले सभी मनुष्यों के समस्त प्रकार के सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, कलात्मक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा आर्थिक विचारों एवं क्रियाकलापों को सम्मिलित किया जाता है।

डॉ. देवराज के अनुसार– 'संस्कृति वस्तु–जगत के उन पहलुओं की जीवंत एवं शक्ति पूर्ण चेतना है, जो उपयोगीन होते हुए भी अर्थवान होते हैं, लाभदायक न होते हुए भी महत्व रखते हैं।'[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार– 'मनुष्य की श्रेष्ठ साधना ही संस्कृति हैं।'[2]

डॉ. रविंद्र दर्शन के अनुसार –'संस्कृति अमूर्त होती है, यह आचरण नहीं है अपितु आचरण पर आधारित मूल्यों एवं आदर्शों का पुंज है।'[3]

भारतीय संस्कृति सर्वाधिक प्राचीन एवं आदर्शवादी संस्कृति मानी जाती है। भारत में विभिन्न धर्मों के लोग निवास करते हैं। सभी धर्मों की अपनी मान्यताएं एवं परंपराएं हैं। उनके रीति–रिवाज आपस में घुल– मिल गए हैं। इस कारण भारतीय संस्कृति विश्व में अपनी तरह की इकलौती संस्कृति बन गई है जहाँ विभिन्न संस्कृतियां एकरूप होकर एक नायाब संस्कृति का निर्माण करती हैं। वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति बड़ी तेजी से हमारी संस्कृति पर हावी होती जा रही है। भारतीय उच्च वर्ग पूर्णतया पाश्चात्य संस्कृति की चपेट में आ चुका है। मध्य वर्ग

पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने के लिए आतुर है। ऐसे में निम्न वर्ग ही है जो भारतीय संस्कृति का लबादा ओढ़े हुए है।

निम्न वर्ग के जीवन का आधार श्रम है। उनके जीने का ढंग उच्च एवं मध्य वर्ग से भिन्न है। उनके लिए खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा, त्योहार, मेले, धर्म, अंधविश्वास, मान्यताएं, परंपराएं, रीति– रिवाज, जीवन–मरण, सबके मायने अलग हैं। ये सदियों से अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। धर्म, शास्त्र और पूंजी के बल पर शोषकों ने सदैव निम्न वर्ग का शोषण किया है। दास युग से लेकर वर्तमान तक इस वर्ग का शोषण चल रहा है। हाँ युगानुसार शोषण के तरीके जरूर बदल गए हैं। अशक्त, पिछड़े, दलित, आदिवासी, विमुक्त, खानाबदोश तथा एक निर्धारित आय से कम वार्षिक आय वाले व्यक्ति आदि निम्न वर्ग में शामिल हैं।

सेंटर्स के अनुसार– 'निम्न वर्ग उन लोगों का वर्ग होता है जो अपनी आजीविका के लिए कायिक श्रम पर निर्भर रहते हैं। जीविकोपार्जन के लिए अपने कायिक श्रम पर ही निर्भर रहने वालों के इस गरीब वर्ग के लिए दलित वर्ग, पीड़ित वर्ग, सर्वहारा वर्ग आदि नाम भी हैं।'[4]

भारतीय निम्न वर्ग की स्थिति अन्य देशों से भिन्न है क्योंकि यहां उन्हें न सिर्फ आर्थिक आधार पर बल्कि जातीय आधार पर भी निम्न समझा जाता है और बजाय उनके साथ सहानुभूति के भेदभाव का व्यवहार किया जाता है। भारतीय साहित्यकार साहित्य के माध्यम से दबे–कुचले, दयनीय निम्न वर्ग के लिए आवाज उठाते रहते हैं। ऐसे ही साहित्यकारों में स्वयं प्रकाश का नाम भी शामिल है जिन्होंने निम्न वर्ग के लिए अपनी लेखनी चलाई है। भारतीय संस्कृति के वर्तमान स्वरूप के बारे में स्वयं प्रकाश लिखते हैं कि जिसे हम लोग भारतीय संस्कृति समझ रहे हैं वह संस्कृति नहीं हैं। वह कहते हैं कि शाकाहार, आयुर्वेद, योग, घुंघट, मांग में सिंदूर भरना, बड़ों के पैर छूना, यह सब भारतीय संस्कृति नहीं है। बाह्यरूप– रंग, वेश–भूषा एवं क्रिया कलापों का संबंध संस्कृति से नहीं होता। संस्कृति का मूल संबंध है उसमें निहित जीवन मूल्यों, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सर्वमंगल, प्रेम–भाव, बंधुत्व, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों से है। और यह तमाम जीवन मूल्य भारत में आज भी प्रासंगिक हैं। ज्ञात रहे कि यह हिंदू संस्कृति के साथ–साथ मानवीय जीवन का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्वयं प्रकाश के कथा साहित्य में संस्कृति का सीधा अर्थ है किसी जाति विशेष का सम्मान, मर्यादा और पारंपरिक विधि–निषेध, नैतिकता और जीवन दृष्टि। जीवन के जिन आदर्शों को हम मूल्यवान मानते हैं वह हजारों सालों के अनुभव से सचमुच मूल्यवान साबित हुए हैं। स्वयं प्रकाश के कथा साहित्य में समाजवाद उत्तर आधुनिकता और उत्तर यथार्थवाद या उत्तर औद्योगिकता से संबंधित उत्तेजक विचार दिखाई देते हैं। स्वयं प्रकाश का मानना है कि भूख, गरीबी, अशिक्षा बेगारी, बीमारी कम उत्पादन, मानसिक गुलामी, सरमायादारी, शोषण, भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, पिछड़ी हुई जहनियत, सांप्रदायिक मदांधता, सामंतवादी सोच आदि। इन सब स्थितियों में समाजवाद का विचार तो स्वप्न ही कहा जाएगा, पर ये स्थितियां इस बात की प्रतीक हैं कि इस देश में समाजवाद की नितांत आवश्यकता है।

स्वयंप्रकाश की कहानी 'जंगल का दाह' लोक कथा शैली में लिखी हुई है। यह कहानी आदिवासी संस्कृ ति के साथ–साथ वर्तमान में विकास के खोखलेपन को भी दर्शाती है। राजकुमार के आखेट सीखने की आड़ में पारंपरिक जीवन मूल्यों को तहस–नहस कर जंगल के मूल निवासियों की जीवन शैली में किस प्रकार हस्तक्षेप किया जा रहा है इसका सटीक चित्रण कहानी में किया गया है। 'आज मामा सोनके वंशज शहर में बांस की

टोकरियां, तार के छींके और गत्ते के तोते, चिड़िया आदि बनाकर बेच रहे हैं। सुना है उनके इलाके में कोई बड़ा बांध बन रहा है जिससे देश की बड़ी तरक्की होगी। मामा सोनके वंशजों और शिष्यों को जंगल से हकाल दिया गया है।'[5]

स्वयंप्रकाश की कहानी 'बलि' में एक आदिवासी लड़की एक आधुनिक तौर–तरीकों वाले घर में काम करने चली जाती है और उनकी जीवन शैली को आत्मसात कर लेती है। उसे पड़ोस के एक नौकर से प्रेम हो जाता है अंततः उसे घर भेज दिया जाता है। जहाँ वह अपने आपको असहाय महसूस करती है। स्वयंप्रकाश इस कहानी के विषय में लिखते हैं – 'मेरी एक लंबी कहानी है 'बलि' जिसमें एक आदिवासी लड़की एक साहब के घर बचपन से काम करती–करती इतना हिल जाती है कि एक तरफ शहरी जीवन शैली में पारंगत हो जाती है तो दूसरी तरफ अपने नैसर्गिक परिवेश से कटती जाती है। अंत में जब उसे अपने नैसर्गिक परिवेश में लौटना पड़ता है तो वह मानसिक सामंज न कर पाने में असफल होती है और परिणाम स्वरूप आत्महत्या कर लेती है।'[6]

वैश्वीकरण और उससे उपजी अपसंस्कृति को रेखांकित करने वाली कहानियों में स्वयंप्रकाश की 'गौरी का गुस्सा' नामक कहानी को रखा जा सकता है। कहानी में बेरोजगार रतनलाल अशांत की दुर्दशा देखकर गौरी का दिल पसीज जाता है। वे रतनलाल को सुख– सुविधाएं प्रदान करने के लिए महादेव से अनुरोध करती हैं। तमाम सुविधाएं पाकर भी रतनलाल संतुष्ट नहीं होता। आखिर गुस्से में आकर गौरी उसे फिर से पहली हालत में पहुंचा देती हैं। भूमंडलीकरण के साथ बदल रहे जीवन–मूल्यों की विवेचना करती यह कहानी अपनी इच्छाओं की मार से झुंझलाए मानव को चित्रित करती है।

जाति की श्रेष्ठता और हीनता ने समाज के सुगंठित ढांचे को कमजोर बना दिया है। 'बर्थडे' कहानी मध्यवर्गीय मानसिकता से परे निम्न वर्ग के प्रति हिकारत के भाव को उजागर करती है। स्वीटू के बर्थडे पर तांगे वाले बन्ने भाई में श्रीमती बैजल को 'मुसट्टा' तो दिखाई देता है मगर उसके द्वारा स्वीटू के लिए लाए गेंदे की माला में छिपा हुआ प्यार दिखाई नहीं देता। इससे भी बड़ी विडंबना यह है कि वह बन्ने भाई को जूठन खाने को देती हैं और बन्ने भाई वह झूठा गुलाब जामुन प्यार में स्वीटू हो के मुंह में डाल देता है। तब श्रीमती बैजल ग्लानि से भर जाती हैं। यहां मध्य वर्ग के पाश्चात्य संस्कृति अपनाने और निम्न वर्ग को हिकारत की दृष्टि से देखने का बड़ा सटीक चित्र खींचा गया है।

'नैनसी का धूड़ा' कहानी मनुष्य के पशु और पशु के मनुष्य में परिवर्तित हो जाने की कहानी है। यह कहानी मानवों की दुनिया से इतर भी मानवीय सरोकारों को तलाशने की कोशिश है। धूड़ा के माध्यम से कथाकार ने पशुवत जीवन को अपने शाब्दिक अर्थ में व्यक्त किया है। निम्नवर्गीय मानव का जीवन भी पशु से बेहतर कहाँ है? कहानी का अंत आते–आते नैंनसी कब धूड़ा और धूड़ा कब नैंनसी की तरह दिखने लगता है पता ही नहीं चलता। शक्तिहीन और मूक प्राणियों को मरने के लिए छोड़ देना किसी भी प्राणी को चेतना–रहित बनाने के लिए काफी है। 'रामनगर की कच्ची बस्ती से बाहर कूड़े के ढेर पर एक लाश मिली है। हालांकि जीते–जी उसे किसी ने आदमी नहीं समझा हो, पर कहना तो यही पड़ेगा कि वह एक आदमी की लाश है।'[7]

स्वयंप्रकाश की 'परिधि' नामक कहानी में निम्नवर्गीय परिवारों के तंग मकान और खस्ता हालत का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। जिसके पास आय का कोई अच्छा स्रोत नहीं है और खुद के बच्चों के रहने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है फिर भी वह स्त्री अपने माता–पिता को रखने के लिए तैयार हो जाती है। स्वयंप्रकाश

लिखते हैं– 'श्रमिक परिवारों में दरिद्रता की कोई सीमा नहीं है पर फिर भी उनके जीवन में मानवीयता और उत्तरदायित्व की भावनाएं विद्यमान हैं। उनके रहने वाले कमरे में माता–पिता को समाहित करने के लिए जगह न हो पर उनके दिल में यह स्थान है।'[8]

'ज्योतिरथ के सारथी' स्वयंप्रकाश का प्रथम एवं यथार्थवादी दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है। स्वतंत्रता के बाद स्वतंत्रता पूर्व के सारे सपने ध्वस्त होते देख लेखक की आत्मा विचलित हो उठी। जॉन की जगह गोविंद को शोषण करते देख वे बेचैन हो उठे। देश में वही पिछड़ापन, अशिक्षा, बेरोजगारी और बदहाली है। गांवों के गरीब भोले–भाले लोग छल–कपट नहीं जानते। वे अपने आपको शोषण से बचाने का तरीका नहीं जानते। स्वयंप्रकाश लिखते हैं–' सब खुश हैं। सब संतुष्ट हैं। सूखे के बावजूद। अकाल के बावजूद। शोषण के बावजूद।'[9]

स्वयंप्रकाश का उपन्यास 'जलते जहाज पर' एक यथार्थवादी रचना है। उन्होंने यथार्थ को आधार बनाकर समाज की वास्तविकता का जीवंत चित्रण किया है। उन्होंने जिन घटनाओं एवं पात्रों के सहारे इस उपन्यास की रचना की है वह सब उनके मुंबई प्रवास का यथार्थ है। इस बात का जिक्र उन्होंने अपनी पुस्तक 'धूप में नंगे पांव' में भी किया है। वे लिखते हैं– 'अब वह जमाना नहीं रहा, उसके किसी सूरत में लौटने की कोई संभावना भी नहीं और तेजी से बदलते इस मतलब परस्त दौर में उसकी स्मृतियां भी सुरक्षित नहीं।'[10]

अपने उपन्यास 'उत्तर जीवन कथा' में स्वयंप्रकाश ने अपनी मौत की कल्पना की है और उसी को आधार बनाकर सारा विवरण प्रस्तुत किया है। कल्पना के आधार पर लिखे गए उस उपन्यास की मूल संवेदना वास्तविक जगत का यथार्थ है। कल्पना में भी उन्हें स्वर्ग से ज्यादा संसार ही प्रिय लगता है। मानव सभ्यता के विकास और धरती को स्वर्ग से अधिक सुंदर बनाने का आधार है प्रेम और संघर्ष। वे लिखते हैं– 'स्वर्ग में सिवा आनंद के कुछ नहीं। और आनंद की शाश्वत निरंतरता से अधिक उबाऊ कुछ नहीं। मजा किसी चीज के पाने में नहीं, उसके लिए संघर्ष करने में है। मिलने में नहीं, लड़खड़ाने, गिरने, फिर–फिर उठने और दौड़ पड़ने में है। मजे की बात है तैरना, और सो भी धारा के खिलाफ। बहता तो कचरा है।'[11]

मनुष्य की कमजोरियों और वैज्ञानिक प्रगति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न विकृतियों से अवगत कराते हुए स्वयंप्रकाश राजेंद्र सिंह बेदी से कहते हैं– 'जैसे–जैसे हम प्रकृति से दूर होते गए हैं, हमारी प्राकृतिक सुंदरता नष्ट होती गई है, कपड़े, मेकअप और शर्म उतारते ही हम निहायत बदसूरत रह जाते हैं।'[12]

बाजारवाद और उपभोक्तावाद ने निम्नवर्गीय और मध्यवर्गीय परिवारों को किस कदर प्रभावित किया है तथा सांप्रदायिकता ने देश की एकता और भाईचारे को कितना नुकसान पहुंचाया है इस बात का चित्रण स्वयंप्रकाश के उपन्यास 'ईंधन' मे किया गया है। भूमंडलीकरण, निजीकरण, सट्टा बाजार, मुनाफा खोरी, भ्रष्टाचार, सरकार की उदासीनता एवं नौकरशाही जैसी व्यवस्थाओं ने देश की बुनियाद हिलाकर रख दी है। इन सबका यथासंभव चित्रण उपन्यास में किया गया है। इन सबके घातक परिणाम की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है। एक प्रसंग में वे लिखते हैं– 'आठवीं कक्षा का बच्चा भी समझ जाएगा कि जिस देश के लोग मंदिर बनाने की खातिर एक दूसरे का गला काट रहे हों। जहां घोटालों पर घोटाले हो रहे हों और जहाँ दस साल में छह–छह बार प्रधानमंत्री बदल रहे हों, वहाँ अब समझदारी इसी में है कि वही करो जो कर दोलकर कह रहा है? हमें ऐसे धंधे में जाना चाहिए जो भले छोटा हो पर स्वतंत्र, नियमित, स्थानीय और स्वावलंबी हो, जहाँ अपनी रोटी खाने के लिए दूसरे के मूड पर निर्भर न रहना पड़े।'[13]

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है। इस प्रभाव ने भारतीय संस्कृति के 'सर्व धर्म समभाव' और 'वसुधैव कुटुंबकम्' जैसे विचारों को भारी नुक़सान पहुंचाया है। मानवता, नैतिकता एवं जीवन–मूल्यों का लगातार ह्रास हो रहा है। निजीकरण, उपभोक्तावाद एवं बाजारवाद ने भारतीय मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग की कमर तोड़कर रख दी है। मनुष्य सामान एकत्रित करने को ही विकास समझने लगा है। ऐसे युग में इन सबके खिलाफ आवाज उठाने वाले साहित्यकारों की बहुत आवश्यकता है। स्वयंप्रकाश का साहित्य इस कसौटी पर खरा उतरता है। निम्न वर्ग या सर्वहारा वर्ग भारतीय संस्कृति का पोषक है। यही बात स्वयंप्रकाश के कथा साहित्य के मूल में है। निम्नवर्गीय जीवन के प्रत्येक सांस्कृतिक पहलू का चित्रण करने में वह पूर्णतः सफल हुए हैं।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. डॉ० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ–181
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृष्ठ–69
3. डॉ. रवींद्र दरगन : आधुनिक हिंदी कविता : सांस्कृतिक मूल्य, पृष्ठ–24
4. डॉ. पी.एस. थामस : भारतीय मध्य वर्ग और सामाजिक उपन्यास, पृष्ठ–49
5. रचना सिंह : नैनसी का धूड़ा, पृष्ठ–107
6. स्वयंप्रकाश : एक कहानीकार की नोट बुक, पृष्ठ–95
7. रचना सिंह : नैनसी का धूड़ा, पृष्ठ–121
8. स्वयंप्रकाश : आसमां कैसे– कैसे, पृष्ठ–61
9. स्वयंप्रकाश : ज्योतिरथ के सारथी, पृष्ठ–66
10. स्वयंप्रकाश : धूप में नंगे पांव, पृष्ठ–07
11. स्वयंप्रकाश– उत्तर जीवन कथा, पृष्ठ–27
12. वही, पृष्ठ–50
13. स्वयंप्रकाश– ईंधन, पृष्ठ–249

फुरकान शाह, शोधार्थी

(हिंदी विभाग) कुमारी मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, गौतमबुद्धनगर (उत्तरप्रदेश)

संपर्कसूत्र– 9756446695 fs9315241@gmail-com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 75-78

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

राजस्थान के लोक गीतों का स्त्रियों के जीवन पर प्रभाव

डॉ० गीता रानी, सहायक आचार्य (हिन्दी),
गुरु हरगोबिन्द साहिब, स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, सी.सी. हैड, पदमपुर जिला श्रीगंगानगर (राज०)

राजस्थानी लोक गीतों का धरातल बड़ा रंग–बिरंगा उन्मुक्त तथा जीवन की करवटों पर आधारित है। इन गीतों में मानव जीवन के हृदय की प्राकृत भावना निहित है। राजस्थान में प्रचलित लोक गीत हर प्रान्त की सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं को उद्घाटित करने वाले होते है। सामाजिक रीति–रिवाज एवं परम्पराएं जीवन की सच्ची अनुभूति है। बहुरंगी छटा, नाट्यों, गाथाओं व नृत्यों के माध्यम से लोक गीतों का स्त्रियों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। स्त्रियों के जीवन का कोई भी प्रसंग राजस्थानी लोकगीतों से अछुता नहीं है। कोई भी ऐसा कार्य नहीं, जिसकी अभिव्यंजना राजस्थानी लोक गीतों में न हुई है। संगीत के प्रति हमारी जनता की प्राचीन काल से ही रूचि रही है। इसलिए लोकगीतों के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक है। जिसका स्त्रियों के जीवन पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इन्होंने अपने सुख–दुख वेदना, हाव–भाव इत्यादि भावों को गीतों के माध्यम से चित्रित किया है – महात्मा गाँधी के शब्दों में – ''लोक गीत ही जनता की भाषा है..... लोक गीत हमारी समूची संस्कृति की पहरेदारी है।''[1]

राजस्थान के लोकगीत न कि केवल जनता की भाषा है अपितु कथा, स्वर, लय एवं ताल के उत्तम समन्वय का अहसास होता है। इन गीतों में उल्लास, उसकी उमंगों उसकी करूणा को उसके रूदन की एवं उसके समस्त दुखः–सुख की कहानी वर्णित इन लोक गीतों में मानों स्त्री के जीवन का सच्चा रहस्य छिपा हुआ है। स्त्रियों ने अपने जीवन पर घटित होने वाली घटनाओं को लोकगीतों की कड़ियों से इस तरह जोड़ रखा है। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा सारा जीवन ही संगीत मय हो गया है।

राजस्थानी लोक गीतों पर दृष्टि डाले तो यह प्रतीत होता है कि महलों, नगरों, गावों के गीतों में अलग–अलग आनंद छिपा है। संकुचित दृष्टि से इन सबका मूल्यांकन तो नहीं किया जा सकता किन्तु विरह गीत शौर्य एवं वीरता परक लोक गीत, श्रृंगार परक लोक गीत मनोमुग्धकारी एवं औजपूर्ण शैली चित्रित है। इस तरह से स्त्रियों के जीवन की अनुभूतियों को राजस्थानी लोक गीतों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

प्राचीन काल से लोक गीतों के आधार पर हमारे समाज में स्त्रियाँ भले ही निरक्षर हो किन्तु उन्होंने जीवन के उतार–चढ़ाव में अपना मार्ग प्रशस्त किया है। इन्होंने मानव समाज के प्रत्येक मनोभाव का सूक्षम चित्रण लोक गीतों में किया है।

अगर हम कहें कि राजस्थान में धार्मिक तत्व अपने मूल रूप में विद्यमान है, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। समय–समय पर देवी–देवताओं को लोकगीतों से रिझाया है कोई भी मांगलिक कार्य का प्रारम्भ स्त्रियाँ

धार्मिक लोक गीत से करती है। यह एक परम्परा है जिसका निर्वाह वर्तमान में भी बखूबी से लोक गीतों के द्वारा किया जाता है। लोक गीतों के माध्यम से अपने आराध्य को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है।

गणेश स्तुति का एक लोक गीत उधृत है :–

''आओ म्हारा लाडला गजानन्द
शोभा थारी बरणी न जाय.... ।''

राजस्थान के आस्तिक वर्ग में देव पूजा की अनेक परम्पराएँ प्रचलित है। जन्म से मृत्यु तक प्रचलित परम्पराओं में राजस्थानी लोक गीतों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने भाव व्यक्त करती है।

पुत्र जन्मोत्सव पर माता अपने आन्तरिक स्नेह और वात्सल्य से रीति–रिवाज के अनुसार पुत्र के नामकरण का आयोजन करवाती है। इस समय स्त्रियाँ (जच्चा) पीला वस्त्र जिसे सौभाग्य और मंगल का सूचक कहा जाता है। जिसे धारण कर नामकरण, सूरज पूजन, जलवा पूजन आदि अवसरों पर बड़े उत्साह से परम्पराओं का निर्वाह करती है। लोक गीतों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त करती है।

गीत :– ''पीलो तो ओढ म्हारी जच्चा पीढे जी बैठी
बड़ी तो सराही सहर सराही गाढा मारूजी।''[2]

साथ ही इस अवसर पर गेहूँ चने को उबालकर बनाई गई घुघरी स्त्रियाँ अपने नाते रिश्तेदारों को बांटती है। स्त्रियाँ अपने पुत्र के दीर्घायु होने की कामना करती हुई लोक गीतों के माध्यम से अपने भाव व्यक्त करती है–

गीत :– ''आबो जी नाई का बैठो म्हारे पास
म्हारी इस विध बाटों घूघरी जी।''[3]

इतना ही नहीं बालक के उपनयन संस्कार मुंडन, कर्णच्छेदन आदि रीति–रिवाजों मं लोकगीतों के माध यम से अपने भावों को व्यक्त करती है। छोटे–छोटे रस्में–रिवाजों जिनका समाज में स्त्रियों के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वो इन्हीं के माध्यम से आन्नदपूर्ण जीवन व्यतीत करती है।

जैसा कि इतिहास साक्षी है, राजस्थान अपने वीर एवं पौरूष के लिए विश्व में जाना जाता है। इतिहास शौर्य एवं बलिदान की गाथाओं से लिप्त है। उसकी दिग्दर्शिका यहाँ के लोक गीत वीर गाथा, लोक गाथा एवं लोक कलाएं है। लोक गीतों के माध्यम में स्त्रियाँ अपने देश के प्रति लगाव को इस प्रकार व्यक्ति करती है –

गीत :– वाल्हो लागै छै म्हारो देसड़ो
किम कर जाकू परदेस वाल्हा जी।
ऊँचा–ऊँचा राणाजी रा गोखड़ा
नीचे म्हारे पीछोला री पाल वाल्हा जी
बादल छाया देश में
नदियाँ नीर हिलोर ....''[4]

अर्थात् – मेरा देश प्यारा लगता है। प्यारे। मैं परदेश कैसे जाऊँ
ऊँचे–ऊँचे राणाजी के झरोखे है और नीचे पिछौला सरोवर का बाध है।
देश में बादल छाये हुए है और नदियों में पानी लहरा रहा है।

राजस्थान के लोक गीतों में अपने प्रांत की कुछ मौलिक विशेषता है जैसे राजस्थान के पुरुष अपनी वीरता के लिए एवं नारिया अपनी सतीत्व ओर तेजस्विता के लिए विख्यात है। ये वीर वीरांगनाएं अपनी काया को मिटाने मे ंकभी नहीं झिझकती थी। इस तरह से शौर्य एवं बलिदान की भावना से पूर्ण ऐसी वीरांगनाओं की जब भी बात आती है तब जन–जन में वीरता की भावना लोक गीतों के माध्यम से गुंजती है।

शौर्य एवं वीरता को लिए हुए राजस्थान की वीर भूमि प्रसिद्ध है जब वीर पुरुष युद्ध में चले जाते है उस समय विरहणी स्त्री अपने जीवन के सुख–दुख की बात सामाजिक रीति–रिवाज के बन्धनों के कारण सामने आकर कुछ नहीं कह पाती, इस समय वह पक्षियों के द्वारा अपनी संवेदना व संदेश को लोक गीतों में अभिव्यक्त करती है। विरह की इस स्थिति मे ंएक प्रियतमा अपने (पति) ढोला को 'काक' के हाथों सन्देश कहलाती है जो इस प्रकार है –

गौरी तो बैठी रे झूरै मेडियाँ
स्याम समदरा जी पार,
काला रे कागा एक सनेसो रे पिव नै जाय कहो।
खाबो तो पिबो थारी धण छोड़यो।
छोड़ी छै जीवाँ केरी आम,
मिलणों होवे तो ढोला थै मिलो,
दिन–दिन पींजर हुती जाय–म्हारा काला रे।''[5]

इतना ही नहीं विरहणी नायिका प्रिय के प्रदेश जाने पर वह अपनी दिनचर्या के सारे काम अर्थात् रसोई से प्रारम्भ घर के सारे काम काज को पति की याद में करती हुई लोक गीतों में अपनी भावना व्यक्त करती है।

म्हारा राजीड़ा री छिन–छिन ओल्यू आवै,
जो मै जाऊँ राम रसोयाँ जन री सुध आवै।
कुण जीमैं मेंरी राम रसोयाँ, कुण मेरे भोजन सरावै म्हारा .....
जद मैं जाऊँ भूरी दुयबा
साजन की सुध आवै .....
कुण पकड़े मेरी बाली पाड़ी
कुण मोहे दूध दुबावै – म्हारा .....
जब मैं जाऊँ साजन की मैड़्याँ
साजन की सुध आवै – म्हारा.....
कुण बूझै सुख दुखरी बाताँ
कुण हँस–हँस बतलावै – म्हारा.....
टप–टप टपके नैण दीरहाड़ा
हिबड़ो भर–भर आवै – म्हारा।''[6]

लोक व्यवहार में होने वाली गतिविधियों का स्त्रियों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिसकी सृष्टि लोक गीतों में होती है।

अगर हम कहें कि राजस्थान धार्मिक तत्व अपने मूल रूप में विद्यमान है, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। क्योंकि राजस्थान में सगुण व निर्गुण भक्ति की परम्परा बहुत पुरानी है। भक्ति संगीत में अगर मीरा बाईं का नाम नहीं ले तो भक्ति गीत अपूर्ण से प्रतीत होते है। मीरां ने भी अन्य नारियों की तरह अपने भावों को कृष्ण भक्ति के प्रबल प्रवाह में व्यक्त किए है। उन्होनें समाज की रूढ़ियों को बहाकर कृष्ण का कीर्तन किया, प्रियतम की तरह देखा तो कभी प्रेम योगी की तरह, तो कभी नटनागर गिरधर पर सर्वस्व न्यौछावर कर दिया मीरां की भक्ति का राजस्थान में ऐसा अंकूर फूटा प्रदेश भर में उनकी भक्ति परम्परा का सूत्रपात किया जाता है। मीरां के द्वारा रचे अनेक लोक गीत आज भी भक्तजनों के कण्ठ्य की शौभा बने हुए है।

''माई मै तो बाल कुँवारी जी
कानुड़ो ना जाणै म्हारी प्रीत .....।''

इस तरह से राजस्थान में लोकगीतों का स्वरूप बहुत विस्तृत है। यहाँ एक तरफ ऐसे गीत मिलते हैं, जिनकी धुन किसी शास्त्रीय राग पर आधारित है, जिनका मूल तत्व भक्ति रस प्रधान है। वहीं दूसरी तरफ राजस्थान के ग्रामीण अंचलों या गांव के गीतों में स्त्रियाँ अपने भाव व्यक्त करती है।

समाज में होने वाली घटनाओं सामन्ती जीवन और ऐतिहासिक घटनाओं पर इन लोक गीतों का स्त्रियों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

अतः हम कह सकते है, कि समाज के हर पहलू पर स्त्रियों ने अपने लोक गीतों का पहरा लगा रखा है। जिसमें किसी भी प्रकार का संगीत प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि :-

1. राजस्थानी लोक गीत – डॉ० पुरूषोतम मेनारिया पृष्ठ –03
2. राजस्थानी साहित्य का इतिहास – डॉ० पुरूषोतम मेनारिया पृष्ठ संख्या 152
3. राजस्थान लोकगीत – श्री रावत पृष्ठ संख्या 30–31
4. राजस्थानी लोक गीत– डॉ० पुरूषोतम मेनारिया – पृष्ठ संख्या 88–89
5. राजस्थानी सामान्य ज्ञान, राजस्थानी भाषा तथा संस्कृति प्रो० के० के० शर्मा, डॉ० ऑ० पी० शर्मा पृष्ठ सं. 207
6. राजस्थान सामान्य ज्ञान, राजस्थान की भाषा तथा संस्कृति प्रो० के० के० शर्मा, डॉ० ओ० पी० शर्मा पृष्ठ 207

kanaramverma2@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 79-82

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति एवं संगीत

डॉ. गीता शर्मा

असिस्टेंट प्रोफेसर/विभागाध्यक्षा (संगीत गायन), जैन कन्या पाठशाला (पी.जी.) कॉलेज मुजफ्फरनगर यू.पी.

संस्कृति का तात्पर्य किसी भी देश के दर्शन, धर्म, संस्कार, सभ्यता, कला भाषा वस्त्र व जीवन शैली से है। भारतीय संस्कृति और समाज का जन्म जन्मान्तर का रिश्ता रहा है। संस्कृति और समाज मानवता के विकास के दो स्तम्भ कहे जाते हैं। समाज के बिना मनुष्य का जीवन कठिन है और संस्कृति सामाजिक व्यवहार की एक पद्धति है। संस्कृति का सम्बन्ध मानव के अन्तर जगत, आदर्शों, मूल्यों, एवं मान्यताओं से है।

भारतीय संस्कृति में शब्द के अनुरूप ही जीवन शैली की समस्त क्रियाओं को समाहित किया गया है जैसे व्यवहार, खान–पान, शिक्षा, संगीत, कला व कौशल। संस्कृति की प्रबन्ध पहचान भारतीय साहित्य पद्य व गद्य में भी झलकती है। हिन्दी भाषा में प्रयुक्त किये जाने वाला संस्कृति शब्द मूल रूप से संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृत में दो शब्द है– सम+कृति। इस शब्द का मूल 'क' धातु में है– जिसका अर्थ है क्रिया। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का शाब्दिक अर्थ– सम प्रकार अथवा भली प्रकार किया जाने वाला व्यवहार अथवा क्रिया है। संस्कृति शब्द का एक अर्थ संस्कार से भी जोड़ा जाता है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण जीवन दर्शन को दैनिक व्यवहार में समाहित करती है। भारतीय संस्कृति के गीत संगीत खान–पान, वस्त्र, भाषा आशीष, आर्शीवाद, सभी कुछ दैनिक जीवन में भी किसी न किसी तरह पूर्व विद्वानों के विचारों का ही अनुसरण करते हैं।

भारत के विद्वानों ने संस्कृति को लेकर सदैव ही आत्म मंथन किया है इसमें आचार–आचरण, जीविका ,जन्म व अनुशासन पर सदैव ही गहन शोध हुआ है जिससे की संस्कृति को निश्चित करने वाले मूल तत्वों को उजागर किया जा सके। भारत की सम्पूर्ण संस्कृति अधिकतर बड़ी नदियों या सागर के तटों पर फली फूली हैं यहां प्रकृति व उसके पुरस्कारों को आदर देने की प्रथा है। भारत में पशुओं, पक्षियों, नदियों, पर्वतों व वृक्षों को भी आदर भाव से लिया जाता है तथा लोग इनकी पूजा व अर्चना भी करते हैं। भारतीय संस्कृति में कला का भी विशेष योगदान रहा है। भारतीय कला विशेष तौर पर संगीत में तो सदैव ही अपनी विशिष्टता के कारण प्रभाव में रही है। विभिन्न प्रकार के संगीत के द्वारा भारतीय संस्कृति को सर्वप्रिय बनाया गया है।

संगीत आधुनिक सभ्य समाज का एक प्रधान अंग है। यह शब्द इतना लोकप्रिय हो गया है कि इसकी व्याख्या करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गयी है। संगीत के वैसे तो कई अर्थ होते हैं उनमें से एक अर्थ है, जो साथ चले उसे संग कहते हैं। उसी से संगति हो गई है और संगति से ही संगत बनता है जिसका अर्थ एक साथ मिलना एक साथी बन जाना होता है। इस तरह एक साथ चलने और चलाने वाली यानी एकता की डोरी में सबको बांध देने वाली चीज का नाम संगीत है। संगीत की महान विशेषता प्रेम उत्पन्न करना है, इसमें

प्रत्येक प्राणी को एकता के सूत्र में बांधने की अपूर्व शक्ति है। बैर, बैम्नस्य, विरोध तथा नाना प्रकार के सांसारिक झगड़ों में फंसे लोग आपसी मतभेद के कारण यह भूल जाते हैं कि हमारा आधार सर्व व्यायी सर्व शक्तिमान ईश्वर ही है। आप में चाहे कितना भी मतभेद हो परन्तु ईश्वर की एकमात्र शक्ति माया जिसका सम्पूर्ण आधार संगीत ही है, उसकी एक आवाज, एक ही स्तर तथा एक तान सबको मिलाकर एक सूत्र में बांध देती है।

संगीत एवं साहित्य अपरिहार्य है। यदि ऐसा कहा जाए तो अतिश्योक्ति न होगी। दोनों ही अपना अलग–अलग स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, परन्तु फिर भी अन्योनाशित है।

''साहित्यसंगीत कला, विहीन,
साक्षात्पशु प्रच्दविषाणद्वीन।''[1]

भारतीय संगीत की गौरवशाली परम्परा की अनन्य धरोहर, संस्कृति सभ्यता का परिचायक, धार्मिक आध्यात्म की सशक्त बुनियाद, हमारा भारतीय संगीत सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से ही अखिल विश्व की प्रत्येक सजीव गतिविधि में व्याप्त रहा है। प्राचीन काल से ही यह हमारे आध्यात्मिक एवं भावात्मक जीवन का एक अभिन्न अंग माना जाता रहा है, क्योंकि मानवमात्र की प्रत्येक क्रिया ही संगीत्मय हैं। संगीत अर्थ शोध के लिए काव्य का सहारा लेता है और काव्य प्रभाव वृद्धि के लिए संगीत का। काव्य में अतिकटु मानकर कुछ वर्णों का तयाग, वृत्ति विधान, लय अन्तायानु प्रास आदि नाद सौंदर्य साधन के लिए है।[2] अतः संगीत आधार प्रधान है तो काव्य सार्थक संगीत है।[3]

संगीत कला धर्मप्रधान नहीं है अतः सब एक प्रकार से ही मंत्र मुग्द हो तन मन की सुध भूलकर संगीत सुधा में स्नान करने लगते हैं। उस समय सभी खुद को भूल बैठते हैं। सुर तथा लय की लहर में इस संसार की हलचल को लांध कर एक नैसर्गिक शान्ति तथा आनंद और संतोष की मौज में बहने लगते हैं। संगीत एकता की जड़ है, इसको किसी सीमा में या बंधन में नहीं बांधा जा सकता। ताल स्तर के अपने बंधन के अतिरिक्त यह कोई बंधन स्वीकार नहीं करता, साथ ही काव्य को भी पूर्ण मानकर संगीत के प्रभाव को नगन्य माना जाए तो व्यर्थ है क्योंकि काव्य में भी रसात्मकता तभी सम्भव है जब कि संगीत का पूरा प्रभाव काव्य पर हो। किसी भी काव्य की सार्थकता लय ताल से सम्भव है – डॉ0 सम्राट सुधा

सच्चे अर्थों में काव्य. स्तर तथा कंठ की अपेक्षा करता है, इसलिए संगीत भी काव्य का सहारा लेकर स्वर साधना द्वारा मानव को रसप्लावित कर देता है। इस प्रकार दोनों मिलकर संगठन की शक्ति का बोध कराते हैं। संगीत विहीन काव्य और काव्य विहीन संगीत बहुत अच्छा प्रभाव नहीं डालते इसलिए पंत ने भाव तथा स्तर के मधुर मिलन को सरस सन्धि कहा है।[4]

नाद सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। ताम्रपत्र भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जुबान पर रहती है। अतः नाद सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ अवश्य होता है। इसे हटाया नहीं जा सकता।[5] अतः संगीतमय कविता और काव्यात्मक संगीत ही पूर्ण रूप में कविता या संगीत कहे जाने के अधिकारी हैं।[6]

संगीत का अपना धर्म व अपनी राष्ट्रीयता है तभी संगीत में तन्मयता तथा मोहकता फूट–फूट कर भरी है। संगीत एवं संस्कृति एक दूसरे के पूरक है। भारत की संस्कृति में जीवन की छोटी से छोटी घटनाओं अथवा दुर्घटनाओं में भी संस्कृति या कर्मकाण्ड की महत्ता विद्यमान है। भारतीय जीवन शैली में यहां के मानव जगत

ने अपनी सर्वाधिक जिज्ञासाओं व भावों को संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति वास्तव में संगीतमयी संस्कृति है जिसमें समाज व जीवन के सभी तत्व अपना विशेष स्थान रखते हैं।

संगीत का सम्बन्ध वेदों से है अतएवं संगीत भी अनादि है, इसका न आदि है न अन्त इसलिए निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि संगीत का प्रारम्भ कब से हुआ, परन्तु भारतीय धर्म परम्परानुसार जिस प्रकार वदों के रचयिता ब्रहम्मा जी माने जाते हैं, उसी प्रकार संगीत के अवतारक के रूप में दो आदि देव भगवान शंकर और सृष्टिकर्ता ब्रहम्मा जी माने जाते हैं।

संगीत एक कला है और कला संस्कृति का अटूट सम्बन्ध सवर्था माना है। मानव जीवन में तीन आदर्श हैं सत्य, शिव तथा सुन्दर धर्म के भी तीन स्तम्भ हैं, कला इन्हीं में से सुन्दर को मूर्त रूप प्रदान करती है। मानव निहित चित्त शक्ति ही रंगों द्वारा चित्रों में मूर्तियों द्वारा आकार ग्रहण करती है। वही शब्द ध्वनि के माध्यम से संगीत का रूप लेते हैं। अतः कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति एन्द्रिक साधनों द्वारा होती है। यहां हीगल का कथन उपर्युक्त प्रतीत होता है कि कला, आध्यात्मिकता एवं ऐन्द्रियकता का विवाह है। अतः दोनों में सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। मूर्तिपूजा इश्वरीय चरित्रों के चित्र तथा उसके कार्यों लीलाओं से सम्बन्धित पद उनका गायन आदि धर्म को सम्बल प्रदान करते हैं, कला धर्म को प्रभावशाली बनाती हैं। उपासना द्वारा धना में विभिन्न कलाएं मनुष्य को सहायता प्रदान करती है। दूसरी ओर धर्म कला की रक्षा करता है, उसे परिमार्जित कर उच्चता प्रदान करता है। जब–जब भारत पर बाहरी आक्रमण हुआ और हमारी संस्कृति व कलाओं को नष्ट करने का प्रयास किया गया तो धर्म ने उन्हें प्रश्रय देकर बचाए रखा।[7]

विभिन्न कलाओं की तरह संगीत भी संस्कृति से सदा जुड़ा रहा है। जिस प्रकार संगीत दो रूपों शास्त्रीय तथा लोक संगीत रहा उसी प्रकार संगीत भी दो धाराओं में बहता रहता है। आलौकिक संगीत व लौकिक संगीत। वैदिक काल से लेकर आज तक के कुछ कालों में संगीत तथा धर्म व संस्कृति का क्या सम्बन्ध रहा इस पर हम विचार व्यक्त करेंगे।

भारतीय विचारधारा के अनुसार संगीत केवल वैयक्तिक आत्म प्रदर्शन के लिए नहीं है, वरन वह समूची संस्कृति की घोतक होती है, वह देवताओं की सांकेतिक भाषा है, वह देवताओं, की संदेशवाहिका हैं। यही कारण है कि भारतीय कलाएं निर्वयक्तिक हैं। विशाल मंदिरों, मूर्तियों के शिल्पी तथा भित्ति चित्रों के चित्रकारों के बारे में हम नहीं जानते क्योंकि कलाओं का प्रयोग व्यक्तित्व की महिमा बताना नहीं है। भारतीयों में भी संगीत कला को मनोरंजन, अर्थ प्राप्ति, यश प्राप्ति के साधन के रूप में समय समय पर देखा गया पर ऐसी कलाएं निम्न कोटि की मानी जाती रही हैं। कला का प्रयोजन जिस प्रकार का होता है कला वैसा ही रूप धारण कर लेती है, जब कला का उद्देश्य आत्मानुभूति होता है तब आत्मा पर चढी धूल (काम, क्रोध, लोभ, मोह) हट जाती है।

प्राचीन काल से ही भारतीय दार्शनिक तथा चिन्तन आत्मा अथवा सत्य से सौन्दर्य का साक्षात्कार करने के उपरान्त अभिव्यक्ति रूप में आनंदवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते आए हैं। इसी के सौंन्दर्य का भावात्मक रूप आनंद चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। अतः यह सौन्दर्य विषयक अप्रत्यक्ष संकेत हैं, जिसके आधार पर उपनिषद, योग–दर्शन, न्याय दर्शन वेदान्त तथा अन्य धर्म ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। डा0 नगेन्द्र के मतानुसार योगदर्शन में संस्कार के स्वरूप का निर्णय करने में रस–सिद्धान्त के स्थाई भावों के विवेचन से सम्बन्धित

महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। योग दर्शन में वृत्तियों और संस्कारों के निरंतर चक्र की कल्पना की गई है। चित्त में नाना वृत्तियों का उदय तथा क्षय होता रहता है। वृत्तियों का रूप स्थूल होता है और संस्कार का सूक्ष्म। प्रतिभा क्षीण होकर संस्कार बन जाती है और अवचेतन मानस में बस जाती है। इसी प्रकार मानव चेतना में प्रेम, भय, क्रोध, शौक आदि समस्त चित्त वृत्तियां संस्कार रूप में विद्यमान रहती हैं। रस सिद्धान्त मे विभाग व स्थाई भाव के सम्बन्ध की कल्पना का मूल आधार यही है और भाव सौंदर्य अथवा भाव के आस्वादन रूप सौंदर्य की कल्पना इसी का प्रतिफल है।

संगीत का समाजशास्त्रीय चिंतन आधुनिक समाज में संगीत की सत्ता और सार्थकता की पहचान के बौद्धिक प्रयत्न की देन है। संगीत का समाजशास्त्र आधुनिक समाज में संगीत की वास्तविक स्थिति और भूमिका को यथार्थवादी ढंग से सोचने का प्रयत्न करेगा। संगीत के समाजशास्त्र का उद्देश्य है समाज से संगीत के सम्बन्ध की खोज और उसकी व्याख्या। ऊपरी तौर पर समाज से संगीत का संबंध बड़ा सहज और सरल दिखाई देता है। संगीत के समाजशास्त्र के अर्न्तगत समाज से संगीत के सम्बन्ध का विवेचन करने वाले दो तरीके हो सकते हैं – प्रथम में समाज को समझने के लिए संगीत का उपयोग करे और दूसरे में संगीत को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाए।

संगीत समाज तथा जीवन के बारे में नई दृष्टि देता है, यह संगीत की एक भूमिका है। अगर समाज में संगीत की कोई भूमिका या महत्ता न हो तो उसकी समाज में जरूरत भी नहीं होगी। संगीत विद्वानों के लिए यह जरूरी है कि व संगीत की विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं का विवेचन करें।

भारतीय समाज एवं संस्कृकति की यह विशेषता है कि सभी कलाओं, विधाओं एवं शास्त्रों के सृजन का लक्ष्य समान है। संगीत हमारे शास्त्रों में वर्णित सभी चौदह विधाओं और चौरठ कलाओं में सर्वोत्कृष्ठ कला है।

संदर्भ सूची :-

1. प्रो0 विश्वनाथ प्रसाद, कला एवं साहित्य प्रवृत्ति और परम्परा, पृ0 161
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणीय भाग 1, पृ0 142
3. बाबू गुलाबराय सिद्धात, अध्ययन काव्य और कला, पृ0 61
4. सुमित्रानंदन पंत, ग्रन्थावली (खण्ड 1) पल्लव प्रवेश (क), पृ0 1611
5. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणी भाग 1, पृ0 144
6. बाल कृष्ण राव संगीत, मई 1941 (संगीत और काव्य), पृ0 3021
7. डा0 सुनीता शर्मा, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 386

मो0 . 7906349755, ईमेल. drgeeta24@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 83-88

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

लोक कलाओं का मानव जीवन पर प्रभाव

डॉ. हेमलता

सहायक प्रोफेसर (हिन्दी), राजकीय महाविद्यालय, फर्रुखनगर, (गुरुग्राम) हरियाणा

लोककला आदि काल से लोक जीवन का अभिन्न अंग और सौन्दर्य रही है। लोककला का सदा से सामूहिक सृजन होता रहा है। मनुष्य द्वारा किये जाने वाली सभी क्रियाएं जिनमें सौन्दर्य अनुभूति और लोक मंगल की कामना होती है, वे कला की श्रेणी में आती हैं। एक तरह से कहे तो हर मनुष्य कलाकार होता है। उसके अंतर्मन में कला का रूप सुप्तावस्था में निवास करता है और अवसर मिलते ही वह कला उसके भीतर से स्फूर्त हो जाती है। लोककला मानवीय भावनाओं के साथ चली आ रही हैं। जो अति प्राचीन है। अपने जीवन को प्रचलित मान्यताओं और विश्वासों के अनुसार सुख एवं षान्तिमय बनाने हेतु पारलौकिक षक्तियों से आषीर्वाद प्राप्ति के लिए किया जाता है।

लोक जीवन में कला का जो स्वरूप होता है उसमें मात्र सौन्दर्यानुभूति नहीं होती वरन् उसका सम्बन्ध जन जीवन और विष्वासों से होता है। इस प्रकार की कला का कोई भी रूप मनोरंजक और साजो सज्जा के लिए नहीं निर्मित किया जाता, वरन वह उन सभी लोकानुष्ठानों का अंग होता है। जिसमें जादू, टोना, तंत्र, मंत्र धर्म का आष्चर्यजनक सब मिश्रण होता है।

लोककला को परिभाषित करते हुये सत्यवती शर्मा लिखती हैं–''कला का लोकपक्ष शास्त्रविहीन है तथा लोक कला का मनुष्य की जिन्दगी से अविच्छेद सम्बन्ध है। लोक कला किसी एक व्यक्ति की उपज नहीं है, प्रकृति और समाज के साथ मनुष्य के निरंतर संघर्ष–क्रम में जिस प्रकार भाषा का रूप स्वयं निर्धारित होता रहता है ठीक उसी प्रकार लोक कला भी मनुष्य के सामाजिक व आर्थिक आवष्यकताओं के बीच अपनी प्राण प्रतिष्ठा का संचरण करती रहती है।''[1]

भारतीय संदर्भ में अधिकांष लोक कलाऐं जीवन के विविध संस्कारों, तिथि तथा त्यौहार आदि से जुड़ी हुई हैं। इस अवसरों पर जमीन में अथवा दीवारों पर मांगलिक प्रतीक चित्रित बनाए जाते हैं। जिसके लिए पिसा हुआ चावल, गेहूँ का आटा, सूखे रंग रोली हल्दी, आदि से काम चल जाता है। उपनयन एवं विवाह संस्कारों के समय स्त्रियाँ इस सामाग्री से फूल पत्तियाँ, लताऐं आदि दीवारों पर अंकित करती हैं। शंख, आम्रपत्र, कलष, सूर्य, चन्द्र, स्वस्तिक, मछली, हाथी आदि के मांगलिक प्रतीक इस अवसरों पर उकेरे जाते हैं।

भारतीय ग्रामीण परिवेष में आज भी सामाजिक/धार्मिक कार्यक्रमों जैसे, होली, दीपावली, कृष्ण जन्माष्टमी, तीज, नवरात्रि, तथा गणेशोत्सव आदि पर लोक गीतों एवं लोक नृत्यों का आयोजन जगह–जगह पर आसानी से देखा जा सकता है। पारिवारिक कार्यक्रमों जैसे जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि में लोक गीतों/लोकनृत्यों का

आयोजन किया जाता है। यही नहीं अनेक क्षेत्रों में लोक गीतों/लोक नृत्यों के आयोजन के बिना जन्मोत्सव/विवाहोत्सव आदि कार्यक्रम पूर्ण नहीं माने जाते हैं।

डॉ. सत्यवती शर्मा लोक कला की उत्पत्ति के बारे में कहती हैं–''मानव समाज के आदिम युग में जब सम्पत्ति का बॅटवारा ही सम्भव नहीं था, समाज की प्रत्येक वस्तु पर जब सामूहिक अधिकार के सिवाय कोई चारा ही नहीं था, तब एक ही समाज के भीतर दो वर्गों का अस्तित्व भी कैसे सम्भव होता? इसीलिए आदिम समाज की सम्पूर्ण कला ही लोक कला थी। कला की आदिम समाज में सामूहिक आवश्यकता थी। सामूहिक आवश्यकता के अनुरूप उसका रूप भी पूर्णतया सामूहिक ही था। पर समाज अपनी अपनी इसी आदिम स्थिती पर हमेशा के लिये स्थिर नहीं रह सकता। अनुभव और संघर्ष के दौरान मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन लाजिमी होता गया। उत्पादन प्रणाली के बदल जाने पर समाज के बीच मनुष्यों के उत्पादन सम्बन्ध भी अपना रूप बदलते रहे, और इसी परिर्वतन के क्रम में समाज की एकरूपता नष्ट हो गई तथा समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। समाज के बॅट जाने पर कला का वह सामूहिक लोक रूप भी अपने अपने वर्गों के स्वार्थ और उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप खण्डित हो गया। उत्पादन कार्य में जुटे रहने के कारण दास वर्ग की कला का आधारभूत गुण तो वही रहा, पर उसकी सामूहिकता का क्षेत्र अवष्य कुछ सीमित हो गया।

उधर प्रभु वर्ग में कला की परिधि क्रमशः सिमटती ही गई, और उसके साथ उसका आदिम स्वभाव भी बदल गया। उत्पादन कार्यों के लिये अपेक्षित श्रम से सर्वदा अलग हट जाने के कारण उसकी कला का सहज रूप नष्ट होता गया। प्रभु वर्ग की कला में क्रमषः कृत्रिमता का प्रवेश होता रहा, क्योंकि उसके लिये कला जीवन की आवष्यकताओं से उत्पन्न अनिवार्य परिणाम नहीं रहकर विलासिता और मनोरंजन का साधन मात्र ही रह गई थी। परिवर्तन के इस विकास चक्र में भाषा का वांछित परिवर्तन तो होता रहा पर लोक कला की तरह उसकी एकरूपता में किसी भी प्रकार का दखल संभव नहीं हो सका।''[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लोक कला मानव की प्रारंभिक कला है।

लोक कलाओं के मूल स्त्रोत हमारी सभ्यता व संस्कृति में खोजे जाते हैं। लोक कला के द्वारा मानव ने अपने सुन्दर मनोभावों को अलग–अलग रूपों में व्यक्त किया है। ये मनोभाव जिन कलात्मक रूपों में सामने आए वहीं लोककला बन गये। इसीलिये लोक कलाओं का अधिक महत्त्व होता है व कलाकार का कम। जबकि अभिजात कला में कृतिकार अपनी कृति से जुड़ा रहता है। इसी कारण वह स्वयं का नाम तक जोड़ देते हैं। लोक कलाएँ लोक जीवन की उपज हैं। यही कारण है कि इसमें समाज के निकट की वस्तुएँ होती हैं। लोक चित्रकला, लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोकगीत, लोकगाथाएँ, एवं लोककथाएँ आदि लोक कलाओं के उपनाम हैं।

लोक कलाओं मे लोक–समाज की स्वतंत्र अभिव्यक्ति का आत्म प्रकाष आलोकित रहता है। उस पर किसी के भी बन्धन या अंकुश का जोर नहीं रहता। इसलिय उसमें जन–जीवन का इतिहास अधिक स्पष्ट, सीधा, निर्विकार, सुगम और विशुद्ध बना रहता है। इसी सहज और सुगम पथ से प्राचीन समाज तक पहुँचने में उतनी कठिनाई नही होती। लाके कलाएं मानव जीवन को सुगम बनाती हैं। इनका प्रभाव मानव को प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है। अतः लोक कला समाज से उत्पन्न होती है।

लोक कलाएं भारतीय ग्रामीण समाज की मूल संस्कृति का तात्विक अंश है। भारतीय संस्कृति एवं लोक

कलाओं में परिवर्तन भी हुए किन्तु इन परिवर्तनों ने भी मानव जीवन को प्रभावित किया है। लोक कलाओं को कुछ बिन्दुओं में विभाजित करके उसे समझना आसान रहेगा।

लोक नृत्य :-

लोक नृत्य लोक संस्कृति के मूल प्राण हैं। इन्हीं के प्रस्तुतीकरण में लोक संस्कृति के दर्शन अधिक होते हैं। लोकनृत्यों में मनुष्य के सुख–दुःख की कहानी, उसकी खुशी तथा गम का प्रदर्शन, अपने इष्ट के प्रति श्रद्धा, हंसी मजाक तथा सामाजिक बहिष्कार आदि की व्याख्या सहज ढंग से की जाती है।

लोकनृत्य की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए विनोद तिवारी लिखते हैं– ''लोक संस्कृति के सहज चित्र लोकनृत्यों में प्राप्त होते हैं। अनेक शैली, बोली, भाषा में किए गए नृत्य एक ही लोक संस्कृति का शास्वत रूप प्रस्तुत करते हैं। एक तार में गुथे अनेक रंगीन रत्नों के समान प्रदेश–प्रदेश के लोकनृत्य स्वयं में एक ही संस्कृति को समाहित किये हुए होते हैं। अनेक लोक नृत्य मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान आदि में समान मिलेंगे। लोकमानस की एक–एक रेखा, सुख–दुख, हास–परिहास, विजय–पराजय के इतिहास के दर्शन लोकनृत्यों में होंगे। आस्था, विश्वास, कर्मण्यता, सौजन्यता, शालीनता आदि लोक संस्कृति के मूल तत्व ग्रामीण समाज के मूल प्राण हैं।''[3] इन तत्वों को अवलोकन जब मानव करता है तो वह इन लोक नृत्यों से प्रेरणा लेता है। उसके अपने जीवन में इतिहास की भूमिका अहम हो जाती है। अतः लोकनृत्य मनुष्य को आलाद्दित करते हैं। उसमें आधुनिक चकाचौंध नहीं होती है किन्तु उसमें सौम्यता और रसात्मकता इतनी अधिक होती है कि वह अपनी ओर मानव को खींच लेते हैं। यह लोक कलाओं की ताकत है।

शरीर की गतियों द्वारा उत्पन्न सुन्दर अभिव्यक्ति को नृत्य कहते हैं। यह गति हाथ, पैर, आंख, शरीर के अन्य अंग या सारे शरीर की हो सकती है। परंतु केवल हाथ पैर हिलाने से ही वह नृत्य नहीं हो जाता, जब तक वह गति ताल और लय के नियमों के अनुसार अर्थपूर्ण रुप से अभिव्यक्त न हो। नृत्य की एक मुद्रा देखकर दर्षक कह सकता है कि उससे क्रोध का अथवा उल्लास का भाव प्रकट हो रहा है। रवीन्द्र नाथ मुखर्जी नृत्य की विशेषता बताते हुए लिखते हैं– ''नृत्य में शरीर की एक विशिष्ट गति होती है। विशिष्टता इस अर्थ में कि नृत्य में शरीर की गति मनमाने ढंग से नहीं होती। इन गतियों में संगीत की भांति ताल होती है या अन्य वाद्य यन्त्रों द्वारा। नृत्य के साथ साथ संगीत गाया जा सकता है और नहीं भी। आधुनिक नृत्य में विशुद्ध शरीर मुद्राओं द्वारा समस्त भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। परंतु फिल्मी नृत्यों में बहुधा नृत्य के साथ संगीत का भी समन्वय किया जाता है। आदिवासी लोग भी नाच और गाने दोनों को ही सुन्दर ढंग से मिला देते हैं।''[4]

अधिकतर भारतीय लोक–नृत्य दल–बद्ध सामाजिक नृत्य हैं। अल्प–कलाओं की भांति लोक नृत्य का उद्देष्य भी समाज के सामूहिक जीवन को पूर्णता प्रदान करना है। इस कारण इसका कलाकार नृत्य में अंश ग्रहण करता है, दूसरों का ध्यान आकर्षित करने या आजीविका पालन करने के लिये नहीं बल्कि आत्म सन्तोष तथा आत्म विनोद के लिये।

दल–बद्ध लोक–नृत्य एकता और समरूपता का नृत्य है। इसीलिये नाचते समय सबका हृदय एक प्रकार की एकता और मिलन के सूत्र में बंध जाता है। नृत्य में जो लोग भाग लेते हैं, वे विभिन्न आयु, परिवार तथा मनोवृत्ति के व्यक्ति होते हैं। परन्तु नृत्य के समय मन तथा शरीर की ये सब भिन्नताएं स्वतः ही दूर हो जाती हैं और वे सब अपने भेद–भाव को भूलकर नृत्य में भाग लेते हैं। एकता का वातावरण लोक नृत्यों की ही नहीं सम्पूर्ण

समाज की एक अमूल्य सम्पदा है, क्योंकि सामाजिक दृष्टिकोण से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। एकता, समरसता, समरूपता, आपसी प्रेम और स्नेह आदि का संदेष लोक कलाओं से मानव ग्रहण करता है।

लोक नृत्य में प्रयोग की जाने वाली पोशाक में जातीय तथा क्षेत्रीय विशेषताएं अवश्य ही होती हैं। वैंसे भी भारत वर्ष के प्रत्येक प्रदेश में वेश–भूषा में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। नृत्य के समय भी कलाकार अपने प्रदेश की विशिष्ट वेश–भूषा को ही शोभन व सुन्दर रूप में पहनते हैं।

भारतीय लोक नृत्य बहुधा गोल घेरा बनाकर प्रस्तुत किए जाते हैं। परंतु कभी–कभी एक या अधिक पंक्ति बनाकर भी किए जाते हैं। लोक नृत्य के साथ जो लोग वाद्य–यन्त्रों को बजाते हैं वे आधुनिक नृत्य में बाजा बजाने वालों की भांति एक कौने में या पर्दे की ओट में बैठकर वाद्य–यन्त्रों को नहीं बजाते। अपितु वे समक्ष होते हैं और उनका सक्रिय भाग नृत्य में होता है। लोकनृत्य लोक समुदाय को पूर्णता प्रदान करता है। इनमें सहभागिता करके व्यक्ति को आनंद एवं आत्म संतोष प्राप्त होता है, उसे नृत्य में सहभागिता करने वाले नृत्यकार ही समझ सकते हैं।

लोक गीत :–

वस्तुतः सामाजिक जीवन का सच्चा स्वरूप लोक गीतों के दर्पण में देखा जा सकता है। भाई–बहिन का स्नेह, पति–पत्नि का प्रणय, माता का वात्सल्य और सास बहू, ननद–भाभी का ईर्ष्या–द्वेष भी लोक गीतों में देखा जा सकता है। जीवन का प्रतिबिंब एक तरह से लोक गीत प्रस्तुत करते हैं। निस्पृहता, पवित्रता, दिव्यता के साथ कलुषता, द्वेष–भाव, विषमता आदि का वर्णन जीवन के यथार्थ तक पहुंचा देता है। तात्पर्य यह है कि मानव–जीवन के सुन्दर और असुंदर दोनों पक्षों का चित्रण लोक गीतों में अत्यन्त कुशलता से किया जाता है। लोक नायक ने जीवन और समाज के उभय पक्षों को सहेजा है। वह मात्र सुख–सम्पदा और वैभव का पुजारी नहीं है। उसके हृदय में सुख और दुख दोनों ही अवस्थाओं के प्रति भी स्नेह और सहानुभूति का भाव है। वह समस्त समाज के हृदय से तादाम्य करता चलता है। यही कारण है कि लोक गीतों में जो कुछ है, वही मानव जीवन और समाज का सत्य है।

लोकगीतों की खूबियों को रेखांकित करते हुए डॉ विनोद तिवारी कहते हैं– ''भारतीय संस्कृति का मूल रूप यहां की लोक कलाओं में देखा जा सकता है। जीवन के आदर्शों का सत्य, षिव एवं सुन्दर रूप ही लोक एवं लोक संस्कृति है। लोक संस्कृति का स्वाभाविक रूप देखने के लिये लोकगीतों की ओर उन्मुख होना आवष्यक है। लोक गीतों का गायक जीवन का सच्चा चित्र चित्रित करता है। वह राम, सीता, शिव या हनुमान आदि को भी देवत्व प्रदान नहीं कर पाता अपितु समाज के प्रतिनिधि और आदर्ष के रूप में देखता है। वस्तुतः एक मर्यादित और आदर्श जीवन ही देवत्व प्रदान करने में समर्थ है।''[5] लोक काव्य में सभ्यता का आडम्बर नहीं, जीवन का यथार्थ बोध है। समता, विषमता, पारिवारिक जीवन, सम्बन्ध निर्वाह आदि यथार्थ रूप में देखना हो तो लोक गीतों का ज्ञान एवं अध्ययन आवष्यक है। लोक गीतों में एक ओर यदि सम्पन्नता का वर्णन है तो दूसरी ओर अकाल, भुखमरी और विपन्नता का भी।

लोक गीतों के सम्बन्ध मे देवेन्द्र सत्यार्थी कहते हैं– ''किसी क्षेत्र अथवा देश के जनसाधारण का परंपरागत गीत जो उनकी विषिष्ट संस्कृति का अंग होता है लोकगीत कहलाता है, वह गीत जो लोक–मानस की अभिव्यक्ति हो अथवा जिसमें लोक मानस हो।''[6] वस्तुतः लोकगीत लोक की परंपरागत विरासत है। व्यक्ति जो

अपने जीवन और समाज में अनुभव करता है उसे ही अपने गीतों में प्रस्तुत करता है। अतः लोकगीत अनुभूत–अभिव्यक्ति तथा हृदयोगार हैं और जीवन का साफ तथा स्वच्छ दर्पण है, जिसमें समाज के व्यक्त जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

श्यामचरण दुबे लोकगीतों की प्रमुखता को इस प्रकार रेखांकित करते हैं–''लोकगीत स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक काव्य के अंग हैं। लोक गीतों में उनके रचयिता अथवा रचना काल का प्रष्न महत्वपूर्ण नहीं होता, उनका महत्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है, व्यक्ति विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोकगीत समुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लांघ, लोकगायकों और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोकगीत अतीत की परम्परा को वर्तमान में अंशतः जीवित बनाये रखते हैं।''[7] समय के व्यवधान से लोकगीतों के बाह्य स्वरुप में कतिपय परिवर्तन अवश्य होते हैं, किन्तु उनके अनेक मूल भाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यतः अपरिवर्तित ही रहते हैं। ये लोकगीत मानव को अपने से प्रेरित करते हैं और जीवन के क्षणिक पलों को प्रस्तुत कर मानव को प्रभावित करते हैं।

लोकगीतों की परंपरा सदियों से चली आ रही है। सदियों से चली आ रही इस परंपरा में बहुत कम परिवर्तन दिखाई देता है। लोकगीतों को इतने सालों से सहेज कर रखने का कार्य परंपरागत रूप से होता है। सूर्यकरण पारीक एवं नरोत्तम स्वामी कहते हैं–''लोकगीत न पुराना होता है न नया, वह तो जंगल के एक वृक्ष जैसा है, जिसकी जड़ें तो जमीन में धंसी हुई हैं, परंतु उसमें निरंतर नयी नयी टहनियां, पल्लव और फल लगते हैं।''[8]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव हृदय की प्राकृतिक भावनाओं एवं विभिन्न रागवृत्तियों की अभिव्यक्ति लोकगीतो में होती है। लोक गीतों जुडाव मानव का सिर्फ मनोरंजन के लिए ही नहीं होता है अपितु वे जीवन का राग गाते हैं। जीवन से, समाज से मनुष्य को जोडते हैं। अतः दर्शकों हो या स्वयं कलाकार लोक कलाओं से हमेशा प्रेरित होता रहता है।

लोक कलाओं की विशेषताएं एवं प्रभाव :-

स्थानीय भाषा की प्रमुखता–लोक कलाओं में किसी स्थान विशेष की स्थानीय भाषा का स्थान प्रमुख रूप से होता है। उन लोक कलाओं के लोक गीतों, लोक नृत्यों अथवा लोक नाट्यों में उसी भाषा का प्रयोग अधिकांशतः किया जाता है, जो उस क्षेत्र विशेष में प्रचलित होती है। अन्य किसी भाषा का इनमें प्रयोग पारम्परिक रूप से उचित नहीं माना जाता है। लेकिन ये लोक कलाएं उस क्षेत्र विशेष की खुशबू ही अपने में नहीं रखती हैं अपितु संपूर्ण राष्ट्रीयता की महक इनमें रची बसी होती है।

स्थायीपन–लोक कला की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह किसी भी स्थान पर लम्बे समय तक प्रचलन में रहती है। इसका काल वर्षों या दशकों तक का नहीं बल्कि सदियों तक का होता है।

मौखिक सांस्कृतिक परम्परा– लोक कलाएं प्रत्यक्ष रूप से पुस्तकों पर आधारित न होकर मौखिक परम्परा में ही एक दूसरे को हस्तांतरित की जाती हैं। लोक कलाओं से सम्बन्धित धर्म, लोकगीत, लोकनृत्य आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि इनकी शिक्षा व्यक्ति को सुनकर एवं देखकर ही प्राप्त हो जाती है। पीढी दर पीढी एक से दूसरे तक के हस्तांतरण होती रहती हैं। उदाहरण के

लिये विवाह, जन्मोत्सव आदि में गाये जाने वाले गीतों को सभी लोग गा लेते हैं। इसके साथ ही लोकनृत्यों के प्रस्तुतीकरण में नर्तक स्वयं गायक, वादक एवं दर्शक होता है। इन नृत्यों की नियमावली सभी को पारम्परिक रूप से ज्ञात होती है।

जीवन का एक सामान्य ढंग–लोक कलाओं को लोगों के जीवन में एक सामान्य रूप में देखा जा सकता है। क्योंकि समाज पर इन लोकगीत, लोकनृत्य, कहावते, मुहावरे तथा नाटक आदि का प्रभाव मानव जीवन में देखा जा सकता है। ग्रामीण परिवेश में अनेक सामूहिक कार्यो में या व्यक्तिगत जीवन में लोक कला के तत्वों को समाहित और संदर्भित किया जाता है।

सृजन करने की शक्ति–लोक कला में सृजनात्मक शक्ति होती है। लोकगीत, लोकसाहित्य, भजन, कीर्तन, धार्मिक उत्सव, व्रत, त्यौहार, नृत्य, नाटक, कहानियों एवं गाथाओं में लोगों के जीवन के अनुभव निहित होते हैं और वे लोक समाज की सृजनात्मकता के स्पष्ट सूचक हैं। जिससे लोगों को प्रेरित किया जाता है तथा उनका मनोरंजन कर उत्साह का प्रसार किया जाता है।

लोक कला एवं अभिजात कला में सम्बन्ध होता है–लोक कला एवं अभिजात कला/संस्कृति में कुछ तत्वों का आदान प्रदान होता रहता है। इनकी यह प्रक्रिया चक्रीय होती है। लोक कलाएं एवं संस्कृति अभिजात् संस्कृति से कुछ सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण करती है, उनके स्वरूप में परिवर्तन करती है और उसे आत्मसात् कर लेती है। इसी प्रकार अभिजात संस्कृति भी लोक कलाओं से कुछ सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण करती है। उन्हें परिष्कृत कर उनका प्रयोग करती है। वर्तमान में ग्रामीण परिवेश में सम्पन्न होने वाले विवाहोत्सव, जन्मोत्सव आदि में गाये जाने वाले गीतों में फिल्मों गीतों की पैराडी देखी जा सकती है। इसी तरह से शहरों में सम्पन्न होने वाले कार्यक्रमों में लोक कलाओं का मिश्रण दिखाई देता है।

सामूहिक सहभागिता–लोक संस्कृति की कलात्मक क्रियाओं में समाज के सभी लोगों की सहभागिता होती है। नाटक, संगीत, नृत्य आदि में समूह की आवश्यकता होती है। कुछ कलाओं में तो दर्शक एवं कलाकार का भी भेद समाप्त हो जाता है। अर्थात वे आपस में इतने निकट आ जाते हैं कि पता ही नहीं लगता कौन कलाकार है और कौन दर्शक। यह लोक कलाओं की ताकत है कि वह दर्शक को अपनी कला में इतना आत्मसात कर लेती है कि दर्शक अपनी स्थिति भूल जाता है।

संदर्भ :-

1. शर्मा, सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, जयपुर, पंचशील प्रकाशन, पृ.–131
2. शर्मा, सत्यवती, संगीत का समाजशास्त्र, जयपुर, पंचशील प्रकाशन पृ.–133
3. तिवारी, विनोद, बुन्देली बघेली लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन, इलाहाबाद, साहित्यवाणी पब्लिकेशन्स, पृ.–3
4. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा, नई दिल्ली, विवेक प्रकाशन, पृ.–347
5. तिवारी, विनोद, बुन्देली बघेली लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन, इलाहाबाद, साहित्यवाणी पब्लिकेशन्स, पृ. 17
6. सत्यार्थी, देवेन्द्र, धीरे बहो गंगा, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.–9
7. दुबे, श्यामाचरण, मानव एवं संस्कृति, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.–165
8. पारीक, सूर्यकरण एवं स्वामी, नरोत्तम, राजस्थान के लोकगीत, जयपुर, मंगल प्रकाशन. पृ.–2

ई मेल–hemacug26@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 89-93

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

छत्तीसगढ़ के लोकनाट्य

डॉ. इसाबेला लकड़ा, शोध निर्देशक,
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय माता शबरी नवीन कन्या महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
हेमपुष्पा नायक, शोधार्थी
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी), शासकीय मदनलाल शुक्ल स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सीपत, बिलासपुर (छ.ग.)

प्रस्तावना :–

प्रत्येक देश की अपनी–अपनी संस्कृति होती है जो उस देश के अस्मिता का आधार होती है। भारत देश की भी अपनी संस्कृति है जिसे हमारे देश के ऋषियों–मुनियों ने तप, त्याग और चिंतन से पल्लवित किया है। देशों की तरह हर राज्य की अपनी विशिष्ट लोक संस्कृति है जो वहाँ के लोक परम्परा से प्रवाहित है। छत्तीसगढ़ राज्य की भी अपनी संस्कृति है।[1]

छत्तीसगढ़ व्यापक रूप से गाँवों, कस्बों का प्रदेश है। छत्तीसगढ़ की संस्कृति 'लोक' की संस्कृति है, जो जनजातीय भू–भागों में अपनी पृथक सांस्कृतिक अस्मिता के साथ संरक्षित है। इसके आचार–विचार, रीति–रिवाज, पर्वोत्सव, मूल्य और मान्यताएँ, जीवन शैली, भाषा, कथाएँ, लोक गाथाएँ, लोकनृत्य, लोकगीत, लोक संगीत, लोकनाट्य का विराट संसार है, जो समष्टि रूप में इस प्रदेश की समग्र वृहत्तम संस्कृति है।[2]

लोक में अपने आप में एक समग्र लोकविधा है जिसमें लोक साहित्य की सभी विधाओं का समावेश होता है, पारम्परिक संगीत, नृत्य, अभिनय और कथानक से मिलकर लोकनाट्य का सृजन होता है। लोकनाट्य लोकजीवन का संपूर्ण प्रतिबिम्ब होते है। लोकनाट्य सामाजिक अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा साधन है।[3]

छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य की परम्परा छत्तीसगढ़ के गाँवों में, यहाँ के जन–जन में बहुत गहरी रही है। जनरंजन और लोक शिक्षण का सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशील स्वरूप लोक नाट्य में समाया हुआ है। लोकनाट्य का मूल आधार "नाचा" है। हास्य और व्यंग्य की प्रबल धारा के साथ प्रचुर सांगीतिक वैभव नाचा की विशेषता है। नाचा को छत्तीसगढ़ की जनता रात रात भर उतावली और बावली होकर देखती है।[4]

छत्तीसगढ़ के परम्परागत लोकनाट्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– पहली स्त्री प्रधान लोकनाट्य–डिड़वानाच और दूसरा–पुरूष प्रधान लोकनाट्य–रहस, दहिकांदो, पंडवानी, चनैनी, ढोलामारू, घोड़वानाच और गम्मत नाचा।[5]

निरंजन महावर लिखते हैं – छत्तीसगढ़ के मैदानी क्षेत्र के दो पूर्ण–विकसित नाट्य स्वरूप विद्यमान है – एक रहस और दूसरा नाचा। 'रहस' भगवान कृष्ण के बाल्य स्वरूप पर केन्द्रित एक परम्पराशील नाट्य विधा है। छत्तीसगढ़ का दूसरा नाट्य स्वरूप 'नाचा' एक सर्वजातीय रंगविधा है। जिसका उद्‌भव एवं विकास

ग्रामीण समाज में हुआ है तथा उसमें अनेक परम्परागत विधाओं ने सम्मिलित होकर उसे समृद्ध किया है।"[6]

लोकनाट्य उतने ही पुराने हैं जितना हमारा सामाजिक जीवन। भारत के विभिन जनपदों में अनेकानेक लोकनाट्य प्रचलित है। ये मानव जीवन की शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के गहरे और प्रचलित रूप हैं। रंग और रस के साथ ही हास्य व्यंग्य के वैभव से ओतप्रोत लोकरंजन और लोककल्याण इनकी मूल भावना है। लोकरंजन और लोककल्याण इनकी मूल भावना है। लोकरंजन और लोककल्याण इनकी मूल भावना है। लोकनाट्यों की उत्पत्ति सामाजिक तत्वों के साथ हुई है और इसका मूल उद्देश्य ही सामूहिक मनोरंजन तथा सामाजिक उपयोगिता का रहा है।[7]

लोकनाट्य क्षेत्र विशेष की लोक संस्कृति और उसकी जीवन्त कला के प्रमाण होते है। इसके लोकसाहित्य और लोकगीतों में समाज की तात्कालिक परिस्थितियों का बोध होता है। लोकनाट्य उस जन समाज की प्रस्तुति है जिनके जीवन का आधार ग्रन्थ न होकर व्यवहार है। जो गाँव से भाहर तक फैला हुआ है और लोकानुशासन से अनुशासित है। प्राचीन काल से लेकर आज तक लोक नाट्य की प्रस्तुति आंचलिक बोलियों में ही होती आ रही है।

छत्तीसगढ़ में लोकनाट्य के अंतर्गत आने वाले तथ्य रहस व नाचा प्रमुख है। यों तो आजादी के पूर्व छत्तीसगढ़ के अधिकांश गाँव श्रीकृष्ण लीला मंडली या श्रीराम लीला मंडली अथवा नाटक मंडली के माध्यम से अपने लोकनाट्य कला को अभिव्यक्त कर लोक मनोरंजन करते थे। पर लोक मनोरंजन में जो स्थान गम्मत और रहस का है, वह स्थान इनका नहीं है।[8]

रहस :–

रहस रास या रासलीला का छत्तीसगढ़ी रूपान्तरण है। संगीत, नृत्य प्रधान कृष्ण का विविध लीलाभिनय। रहस छत्तीसगढ़ की अनुष्ठानिक नाट्य विधा है, जो यहाँ के समृद्ध लोकरंग का सम्पूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करती है। रहस का उद्गम श्रीमदभागवत के दशम स्कन्ध, रास बिहार व ब्रजविलास से हुआ है। छत्तीसगढ़ में 'रहस' की बाबू रेवाराम की पाण्डुलिपियाँ प्रचलित है।[9]

रहस के दो स्वरूप छत्तीसगढ़ में प्राप्त होते हैं – खड़े साज का एवं बैठे साज का। छत्तीसगढ़ में 'खड़े साज' का रहस अधिक लोकप्रिय है। इसका आयोजन सामूहिक होता है और पूरा गाँव इसका मंच होता है। रहस को कई लीलाओं में विभाजित करके खेला जाता है। राजा भोज की वंशावली से उग्रसेन को कृष्ण द्वारा राजगद्दी सौंपने तक कथा चलती है। कंस जन्म, कंस का अत्याचार, देवकी विवाह, देवकी पर कंस का आक्रमण, कृष्ण का गोकुल पहुँचना, पूतना मरण, कृष्ण का नामकरण, सखियों द्वारा कृष्ण को गाली, बकासुर वध, यशोदा विरह, चीरहरण, गोवर्धन लीला, रासलीला, महारास मंगल लीला, राधाविलाप, सुदामा माली लीला जैसे अनेक प्रसंग रहस के आकर्षण होते हैं।[10]

रहस के आयोजन का आरम्भ थुन्ह (एक प्रतीक खम्भ) गाड़ने से होता है और मूर्तिकार द्वारा मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। रहस के रंग को 'बेड़ा' कहा जाता है। नागनाथन तालाब में, महारास गौठान में और कंस वध मूर्तियों के पास होता है। 9 से 11 दिनों का रहस रात्रि 8–9 बजे से शुरू होकर सुबह 6 बजे तक चलता है। मुख्य पात्र रासदारी होता है जो कथा वाचन, व्याख्या, संगीत निर्देशन आदि का कार्य करता है। उसके साथ उसकी मंडली होती है। रहस का उत्स ब्रज से है, पर छत्तीसगढ़ी जीवन और संस्कृति से मिलकर यह अपने

स्वतंत्र रूप में यहाँ विद्यमान है। छत्तीसगढ़ी जीवन व संस्कृति के मूल तत्वों से परिचित कराने वाला यह आयोजन अंचल की समृद्ध परम्परा का दर्पण है।[11]

नाचा :–

छत्तीसगढ़ का दूसरा नाट्य स्वरूप 'नाचा' एक सर्वजातीय रंगविधा है। जिसका उद्‌भव एवं विकास ग्रामीण समाज में हुआ है तथा उसमें अनेक परम्परागत विधाओं ने सम्मिलित होकर उसे समृद्ध किया है।[12]

नाचा छत्तीसगढ़ का एक अंतर–जातीय लोकनृत्य है। यह महाराष्ट्र के तमाशा से प्रभावित है। गीत, प्रहसन, संवाद तथा व्यंग्य का समावेश इसके महत्वपूर्ण पहलू है। समूचे छत्तीसगढ़ में नाचा सर्वप्रसिद्ध है। छोटे से छोटे गाँव में नाचा के कलाकार और मंडलियाँ है।[13]

नाचा में किसी भी घटना को तुरंत प्रस्तुत किया जा सकता है। सामाजिक कुरीतियों, विषमताओं, दूषित राजनीति, ढोंग और आडम्बरों पर तीखी चोट नाचा द्वारा की जाती है। नाचा के अंतर्गत 'गम्मत' का विशेष महत्व होता है। इनमें हास्य व्यंग्य का पुट पाया जाता है। इसमें जोकर की अहम् भूमिका होती है। जीवन के किसी भी मार्मिक प्रसंग को इसका आधार बनाया जाता है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी स्तर पर लोकमानस जिस बात को स्वीकार नहीं कर पाता, उसका मखौल वह नाचा द्वारा करता है।[14]

इस अंचल में नाचा का अतीत में क्या स्वरूप था? यह निश्चित ही अनुसंधान का विषय हो सकता है। लेकिन पिछले पचास साठ वर्षों में इसके स्वरूप और विकास पर थोड़ी चर्चा की जा सकती है। नाचा के प्रारम्भिक रूप को समझने के लिए उस परिवेश और परिस्थितियों को समझ लेना प्रासंगिक होगा। उस समय न तो शिक्षा का ही अधिक विस्तार था और न प्रचार, प्रसार और मनोरंजन के सुविकसित साधन। जमींदारों और मालगुजारों की छत्रछाया में रात में टिमटिमाते हुए दिये की रोशनी में रसोई से उठते हुए धुंए से धुंधवाई आँखें इन्तजार करती थी उन क्षणों का जब उनके गाँव में था आसपास पन्द्रह मील तक के क्षेत्र में कहीं यह आयोजन होगा। माइक में एनाउन्स करने के स्थान पर तब गाँव का कोटवार गाँवो में प्रमुख बाजारों के दिन यह सूचना हांका पार कर प्रसारित कर देता। चूंकि यह नाचा किसी पर्व, त्यौहार या मड़ई मेला के विशेष अवसरों पर ही आयोजित होते अतः उत्सुक चेहरों से चारों तरफ एक मुंह से दूसरे मुंह होते हुए यह बात फैल जाती थी।

आयोजन के दिन गाँव वाले तो आते ही थे दूरदराज के गांव से भी लोग टूट पड़ते थे। आयोजन आज की तुलना में एकदम सीधा सादा होता। चार बांस गड़ाकर एक टट्‌टा डाल दिया जाता, नीचे जमीन को बुहार दिया जाता और चारों तरफ दर्शक कटाकट बैठ जाते और कार्यक्रम भुरू हो जाता। यह नाचा ही उस समय मनोरंजन का प्रचलित और प्रमुख माध्यम था। साजिन्दे और कलाकार भी बहुत नहीं होते थे, एक चिकारा वाला और ब्रम्हानन्द के भजन से शुरू करते। छत्तीसगढ़ी गीत गाते और रात भर नाचते। इन नाच वालों में से ही कुछ लोग गीत बनाते। तुकबन्दी करते या पूर्व प्रचलित गीतों को पूरी आवाज में गला खोलकर गाते। चूंकि माइक के अभाव में तब दूर–दूर बैठे लोगों तक अपने गले के जोर से ही आवाज पहुँचानी होती थी। अतः उस वक्त जो अपने गले के जोर से जितनी दूर तक आवाज पहुँचा पाता वह उतना अच्छा गायक माना जाता। प्रकाश के लिए लैम्प का उपयोग किया जाता जो मिट्‌टीतेल से जलता था। रातभर चिकारे के स्वर और तबले के बोल के साथ नाचते हुए ये दर्शकों को रिझाये रखते।[15]

छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य 'नाचा' लोकजीवन की विशद और सशक्त अभिव्यक्ति है। जनजीवन की हर

अनुभूति और कल्पना उसके संघर्षों की गाथा उसके उल्लास की मिठास और विजय की मुस्कान है। उसकी वेदना के साथ ही उसका आक्रोश भी व्यंग्य में लिपटकर मुखर होता है।[16]

छत्तीसगढ़ के आदिवासी लोकनाट्य :-

भतरा नाट –

बस्तर की जनजाति में नाट्य का एक पूर्ण विकसित एवं सशक्त स्वरूप पाया जाता है। इसे बस्तर में 'भतरानाट' के नाम से जाना जाता है। 'भतरानाट' बस्तर में ओडिसा से आया है। इसलिए कुछ लोग इसे 'उड़ीया नाट' भी कहते है। यह बस्तर के भतरा जनजाति के लोगों द्वारा किया जाने वाला नृत्य नाट्य है। इस नाट की बोली 'भतरी' होती है। भतरा नाट की कथावस्तु के उद्‌गम पौराणिक प्रसंग ही है। इसमें अभिमन्यु वध, कीचक वध, जरासंध वध, हिरण्यकश्यप वध, दुर्योधन वध, रावण वध, लक्ष्मीपुराण नाट, मेघनाथ शक्ति, रूक्मिणी रमण, लंकादहन और कंस का वध बहुत ही प्रसिद्ध है। जहाँ एक ओर इनमें हास्य और व्यंग्य होता है, वहीं किसी–न–किसी कृत्य पर तीखा प्रहार भी होता है। चारों किनारों पर लकड़ी के खम्भे गाड़कर ऊपर मण्डप (चंदोवा) तान दिया जाता है। नाट्य के साथ में मृंदग, नगाड़ा, मंजीरा, कभी–कभी प्रसंगानुसार मोहरी का भी प्रयोग किया जाता है। अधिकांश नाट युद्ध प्रधान होते है।[17]

भतरा नाट के सभी कलाकार पुरूष होते है। मंडली में 25 से 40 कलाकार होते है। नाट की वेशभूषा अत्यन्त भव्य और कीमती होती है। साटन, मखमल के चमकदार रंगीन वस्त्रों पर काँच के रंग–बिरंगे मोतियों एवं रंगीन रेशमी धागे के कसीदे से परिधान तैयार किए जाते है। बस्तर में इस नाट की वर्तमान स्थिति एक पूर्ण विकसित नाट्य विधा के रूप में है। भतरा नाट में भारतवर्ष की प्रतिष्ठित एवं पारम्परिक अन्य नाट्य शैलियों के भी सभी तत्व पाए जाते है।

माओपाटा :-

माओपाटा मुरिया जनजाति की एक शिकार नाटिका है। इसमें बड़ी खूबी से नकल की जाती है। चेहरे पर काजल, मिट्‌टी और राख का प्रयोग कर मंच पर शिकार कथा को पारंपरिकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इसमें नवयुवकों द्वारा जंगली भैसे या सांभर का शिकार किया जाता था। घायल शिकार के किसी अज्ञात स्थान पर छिप जाने के बाद युवक उसे तलाशते है और युवतियों से पूछते है। युवतियाँ नहीं मालूम है का जवाब देकर लोकगीत गाती रहती हैं। लंबे प्रयास के बाद शिकार मिल जाता है और फिर शिकार का भोजन बनाया जाता है। इस नृत्य के दौरान लोकनृत्य वाद्य टिमकी और कोटोड़का बजाया जाता है। यह नृत्य लगभग एक घंटे तक चलता है। शिकार कथा पर आधारित यह नृत्य बड़ा ही रोमांचक होता है। बस्तर के आदिम जीवन में मुरिया जनजाति का यह लोकनाट्य अपनी संपूर्ण पारंपरिकता के साथ मंच पर प्रस्तुत होता है। यह शिकार कथा वस्तुतः बस्तर के वास्तविक जीवन का स्वाभाविक स्पंदन है।[18]

संदर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोक आयाम के विभिन्न स्वरूप, डॉ॰ मदनलाल गुप्ता, पृ–01
2. छत्तीसगढ़ वृहद संदर्भ, संजय त्रिपाठी एवं चंदन त्रिपाठी, पृ–397
3. वही, पृ–407

4. छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य – नाचा, डॉ॰ महावीर अग्रवाल, पृ–07
5. वही, पृ –23
6. वही, पृ –23
7. राजस्थानी लोक नाट्य, भूमिका, देवीलाल सामर, पृ –11
8. छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोक आयाम के विभिन्न स्वरूप, डॉ॰ मदनलाल गुप्ता, पृ–86
9. छत्तीसगढ़ वृहद संदर्भ, संजय त्रिपाठी एवं चंदन त्रिपाठी, पृ–407
10. वही, पृ–407
11. वही, पृ–407
12. छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य – नाचा, डॉ॰ महावीर अग्रवाल, पृ–23
13. वही, पृ–407
14. वही, पृ–408
15. राम चन्द्र देशमुख (रौद्रमुखी स्वर 17 जनवरी 1992)
16. छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य – नाचा, डॉ॰ महावीर अग्रवाल, पृ–23
17. छत्तीसगढ़ वृहद संदर्भ, संजय त्रिपाठी एवं चंदन त्रिपाठी, पृ–408
18. छत्तीसगढ़ – कला एवं संस्कृति, डॉ॰ गीतेश कुमार अमरोहित, पृ – 68

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 94-100

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

ग्रामीण भारतीय संस्कृति का सजीव प्रतिबिम्ब 'गोदान'– अनुवाद की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

इन्दु

पीएचडी शोधार्थी, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली।

शोध सारांश :–

प्रेमचंद हिंदी साहित्य के महान साहित्यकारों में गिने जाते हैं। उनका रचना साहित्य भारतीय समाज का एक सुस्पष्ट दर्पण कहा जा सकता है। प्रेमचंद द्वारा रचित उपन्यास 'गोदान' को एक महाकाव्यात्मक कृति का दर्जा दिया जाता है। 'गोदान' भारतीय जनमानस के अंतर्मन को गहराई और मूल संवेदना के साथ प्रस्तुत करता है। 'गोदान' में ग्रामीण भारतीय समाज के दैनिक संघर्ष और यथार्थ को बहुत ही गहराई और सूक्ष्मता के साथ प्रकट किया गया है। प्रेमचंद जी ने ग्रामीण परिवेश, ग्रामीण संस्कृति, ग्रामीण सभ्यता, ग्रामीण रूढ़ियों, ग्रामीण लोक व्यवहार तथा सामाजिक चाल–चलन आदि का इतनी गहराई और सूक्ष्मता से वर्णन किया है कि ग्रामीण सभ्यता–संस्कृति से जुड़ा प्रत्येक व्यक्ति 'गोदान' से एक अलग ही जुड़ाव महसूस करता है। यहां तक कि ग्रामीण जीवन से इतर शहरी जीवन से जुड़ा व्यक्ति भी 'गोदान' के माध्यम से ग्रामीण भारतीय सांस्कृतिक परिवेश से रूबरू हो पाता है। प्रेमचंद जी ने 'गोदान' के माध्यम से समाज के कमजोर वर्ग की समस्याओं को यथार्थता के साथ उजागर करके समाज को सोचने पर विवश करने के साथ ही समाज को उसके समाधान हेतु एक दिशा भी प्रदान की है।

प्रमुख शब्द :– गोदान, ग्रामीण भारत और कृषि संस्कृति, ग्रामीण जीवन, प्राकृतिक दृश्य, किसान, मजदूर।

'गोदान' –एक महान कृति :–

'गोदान' हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक ऐसी कृति है जो साहित्य जगत के स्वर्णिम पन्नों में अंकित है। यह उपन्यास देशकाल परिस्थितियों से ऊपर उठ चुका है। यह विश्व के किसी भी देश में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना भारत के ग्रामीण क्षेत्र में। इसकी प्रासंगिकता भी समयबद्ध नहीं है, स्वतंत्रता पूर्व भी यह एक प्रासंगिक उपन्यास था और स्वतंत्रता के पश्चात की इसकी प्रासंगिकता बनी हुई है। सन 1936 में प्रकाशित 'गोदान' प्रेमचंद की अंतिम महानतम कृति मानी जाती है। 'गोदान' की महत्ता के संबंध में श्री परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं, 'प्रेमचंद की सबसे महत्वपूर्ण कालजयी कृति तो वह है ही, हिंदी उपन्यास और व्यापक अर्थ में भारतीय उपन्यास के इतिहास में भी उसका अद्वितीय महत्व है।'[1] 'गोदान' के संबंध में श्री विजयदेव नारायण साही का मानना है :– 'गोदान में यथार्थवाद उपयोग की वस्तु नहीं है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके भीतर मानव का केंद्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है। इसीलिए 'गोदान' अन्य उपन्यासों से भिन्न भी है, श्रेष्ठतर भी। और

इसीलिए 'गोदान' महान उपन्यास की कोटि में पहुंचता है।'[2]

'गोदान' उपन्यास को भारतीय कृषक जीवन का महाकाव्य भी कहा जाता है। गोदान में किसान का वास्तविक जीवन स्पष्ट रूप से चरितार्थ होता है। 'गोदान' उपन्यास में एक किसान के मजदूर बनने और बेगारी करने को बहुत ही मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है। 'होरी' का चरित्र भारतीय कृषक का प्रतीक है। इसके शीर्षक 'गोदान' से भारतीय समाज में गाय के महत्व का पता चलता है। इस उपन्यास में होरी की उत्कंट इच्छा है की उसके घर में एक गाय हो। लेकिन जब से वह गाय लेकर आता है गाय का सुख तो नहीं हो पाता बल्कि समस्याओं के चंगुल में फंसता जाता है। भारतीय समाज में मृत्यु के पश्चात भी इस भवसागर से मुक्त होने के लिए 'गोदान' एक महत्वपूर्ण मार्ग है। प्रेमचंद गाय के लिए होरी की इच्छा को इस प्रकार व्यक्त करते हैं – 'गो उसके लिए केवल भक्ति और श्रद्धा की वस्तु नहीं सजीव संपत्ति भी थी'।[3]

'गोदान' एक समस्या प्रधान उपन्यास है। इसमें कर्ज, बेगारी प्रथा, कर्ज वसूली, खेत गिरवी रखना, उसे हड़प लेना, किसान का मजदूर बन जाना, बेमेल विवाह, अंतरजातीय विवाह आदि समस्याएं परिलक्षित की गई हैं। 'गोदान' में प्रमुख समस्या कर्ज़ की है। इस कर्ज ने होरी को एक बंधुआ मजदूर के रूप में बदल दिया। जमींदार, साहूकार, सरकारी अधिकारी, सरकारी नौकर, सभी लोग किसान का शोषण करने के लिए तैयार बैठे हैं। 'होरी' कर्ज में इतना दब जाता है कि अंत में अपनी बेटी की शादी एक अधेड़ उम्र के आदमी से कर देता है। 'गोदान' के संबंध में शिवकुमार मिश्र जी के विचारों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है। उनका मानना है, 'भारतीय किसान के जीवन चक्र की, उसके संघर्ष, उसके जीवट, और अपने श्रम और अपनी आदमीयत के प्रति उसकी अपराजेय आस्था की, जिंदगी के प्रति उसके अक्षत राग की यह कहानी प्रेमचंद ने अपनी रचनात्मक क्षमता के समूचे उत्कर्ष के साथ लिखी और पेश की है।'[4]

'गोदान' उपन्यास में भारतीय किसान की दयनीयता का इतना सजीव चित्रण है कि इसे भारतीय किसान के संपूर्ण जीवन चक्र की समस्याओं का एक उपन्यास कहा जा सकता है। प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' की प्रासंगिकता का इस बात से ही पता चल जाता है कि अभी तक विश्व की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। 'गोदान' हिंदी एवं भारतीय भाषाओं में ही नहीं अपितु अभी तक भी विश्व की अन्य भाषाओं में भी एक कालजयी रचना के रूप में मानी जाती है। 'गोदान' की प्रासंगिकता के विषय पर सत्यप्रकाश मिश्र जी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं, 'गोदान का शोषण तंत्र ज्यादा महीन और मारक है, आज की स्थितियों में समाज और राजनीति के जो नए महाप्रभु शोषण के अपने तंत्र के साथ गांव की सतह में उभरे हैं, वे रायसाहब से भी ज्यादा समझदार और विनम्र हैं, परंतु उनसे भी ज्यादा घातक और हिंसक भी हैं।'[5] सत्यप्रकाश जी वर्तमान समय में शोषण के बदलते स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'बदलाव है परंतु सतही और ऊपरी। यह बदलाव नहीं, जैसा कहा गया है, भिन्नता है। ऐसी स्थिति में प्रेमचंद की परिकल्पना की आजादी अभी भी प्रतीक्षित है, संघर्ष तथा सक्रियता की मांग करती है।'[6]

इस प्रकार 'गोदान' युगों तक अपनी प्रासंगिकता को अक्षुण्ण बनाए रखने वाली कृति है। आज गांवों में किसानों की और शहरों में मजदूरों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। किसान आए दिन सूखे और बाढ़ जैसी समस्याओं से घिरे हैं और कर्ज के बोझ तले दबे जा रहे हैं, वहीं दूसरी और मजदूर भी अपने मालिकों के मनमाने रवैए के चलते शोषण की चक्की में पिस रहे हैं। पुष्पपाल सिंह जी 'गोदान' की प्रासंगिकता के बारे में लिखते

हैं, 'गोदान कृषक से मजदूर बनते भारतीय कृषक की त्रासद महागाथा बन जाता है, ऐसी गाथा जिसमें आज के छोटे किसान की तस्वीर भी देखी जा सकती है। यही 'गोदान' की प्रासंगिकता है। किसान की इस पीड़ा के चित्रण से प्रेमचंद अपने समय सत्य का शाश्वत सत्य में रूपांतरण करते हैं।'[7]

ग्रामीण जीवन और कृषि संस्कृति का महाकाव्य :-

जब भी किसी उपन्यास को 'महाकाव्य' की संज्ञा दी जाती है तब उसके रूप पक्ष पर हम उतना ध्यान नहीं देते जितना ध्यान हम उसमें चित्रित विषय की व्यापकता और गहराई पर देते हैं। रूप की दृष्टि से देखें तो 'उपन्यास' और 'महाकाव्य' में उसके आकार की विशालता के अतिरिक्त और अन्य कोई समानता प्रतीत नहीं होती। दोनों के मध्य सबसे प्रमुख और दृष्टव्य भिन्नता यह है कि महाकाव्य पद्य रचना है और उपन्यास की गणना गद्य साहित्य में की जाती है। महाकाव्य का रूप निश्चित और रूढ़ हो चुका है, जबकि उपन्यास का कोई निश्चित रूप नहीं है। यह लगातार प्रयोग के विविध चरणों से होकर गुजर रहा है। वर्तमान समय में महाकाव्य को एक मृत विधा के रूप में देखा जाता है जबकि उपन्यास जीवित और विकासशील रूप है। 'उपन्यास' आज की सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली विधा है।

'महाकाव्य' और 'उपन्यास' में एक प्रमुख समानता यह है कि दोनों ही किसी सामाजिक विषयवस्तु का विस्तार और गहराई के साथ चित्रण करते हैं। 'महाकाव्य' और 'उपन्यास' दोनों ही युग चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। महाकाव्य में उदात्तता, सौंदर्य और समृद्धि परीलक्षित होती है जबकि उपन्यास में जीवन और संस्कृति की जटिलताएं, अंतर्विरोध और समस्याओं का प्रस्तुतीकरण होता है। डॉ गोपाल राय 'गोदान' को दी गई 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' की संज्ञा को इस प्रकार परिभाषित करते हैं :– 'गोदान के प्रसंग में भी महाकाव्य और उपन्यास के अंतर को ध्यान में रखना जरूरी है। जब हम 'गोदान' को 'महाकाव्य' या 'महा काव्यात्मक उपन्यास' की संज्ञा देते हैं तो हमारा बल इस बात पर होता है कि इसमें एक समाज विशेष का बड़े पैमाने पर, गहराई के साथ, चित्रण किया गया है।'[8]

'गोदान' ग्रामीण परिवेश और संस्कृति के विशाल आकार को उसकी संपूर्णता के साथ प्रस्तुत करने वाला एक अनोखा उपन्यास है। गोदान में स्वतंत्रता पूर्व के ग्रामीण परिवेश का प्रस्तुतीकरण किया गया है किंतु अपनी यथार्थता, व्यापकता और संवेदनात्मक दृष्टि से यह उपन्यास प्रत्येक काल जगत में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर देता है। हम कह सकते हैं कि गोदान कृषि जीवन को प्रस्तुत करने वाला एक अद्वितीय उपन्यास है, तब उसमें यह तथ्य स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इसमें किसानों की मान्यताओं, धार्मिक विश्वासों, नैतिक विश्वासों, संस्कारों और मूल्य धारणाओं का समावेश है। नलिन विलोचन शर्मा जी 'गोदान' को 'भारतीय जीवन की विशाल धारा का बड़े पैमाने पर यथार्थ चित्र'[9] कहा है।

'गोदान' की पूरी कथावस्तु ग्रामीण जीवन को उसके विविध पक्षों के साथ प्रस्तुत करती है। प्रेमचंद ने श्गोदानश में ग्राम्य जीवन के यथार्थ परिवेश को रूपायित करने के लिए उसके विविध पक्षों को रूपायित किया है। डॉ गोपाल राय इस के विविध पक्षों को इस प्रकार उल्लिखित करते हैं :–

1. गांवों की भौगोलिक स्थिति, उनकी बनावट और प्राकृतिक परिवेश।
2. पात्रों का नामकरण, वेशभूषा और शारीरिक बनावट।
3. पात्रों की आर्थिक सामाजिक स्थिति।

4 पात्रों के कार्य एवं वार्तालाप के विषय।

5. पात्रों की भाषा।' [10]

ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण :-

'गोदान' ग्राम्य जीवन के विभिन्न पक्षों को उसकी सूक्ष्मता के साथ साहित्य जगत में रुपायित करता है। गांवों का परिवेश, वहां की भौगोलिक स्थिति, आचार–व्यवहार, भाषा, पात्र, पात्रों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति आदि को इतने कुशल तरीके से प्रकट किया गया है कि गोदान को पढ़ते समय यह महसूस होता है जैसे स्वयं गांवों को प्रत्यक्ष रूप से देख रहे हों। प्रेमचंद ने स्वतंत्रता पूर्व के ग्रामीण जीवन के चित्र को साहित्य जगत में उकेरा है। आज भी उसके चिन्ह भारतीय गांवों में देखे जा सकते हैं। तत्कालीन ग्राम्य समाज के यथार्थ एवं उसके परिवेश को हू–ब–हू प्रकट करने का प्रयास प्रेमचंद द्वारा किया गया है।

रामविलास शर्मा जी प्रेमचंद के प्रकृति एवं गांवों के वर्णन के बारे में लिखते हैं :– 'प्रेमचंद ने 'गोदान' में गांवों की प्रकृति, वहां के किसानों और उनके जीवन के बारे में ऐसे प्रेम से लिखा है मानो ये अब बिछुड़ने वाले हों और वह अब इन्हें बार–बार न देख पाएंगे। 'गोदान' के वर्णन और चित्रण में अपूर्व आत्मीयता और तल्लीनता है.....।'[11] प्रेमचंद द्वारा 'गोदान' में गांव के चित्रण के अंश उसके परिवेश और संस्कृति की झलक देते हैं। इसमें से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :– 'द्वार पर बड़ी सी चरनी थी जिस पर दस–बारह गायें भैंसे खड़ी सानी खा रही थीं। ओसारे में एक बड़ा सा तख्त पड़ा था जो शायद दस आदमियों से भी नहीं उठता। किसी खूंटी पर ढोलक लटक रही थी, किसी पर मजीरा। एक ताख पर कोई पुस्तक बस्ते में बंधी हुई थी, जो शायद रामायण हो।'[12]

गांव के जीवन को साहित्यिक फलक पर प्रस्तुत करने वाला एक अन्य दृश्य इस प्रकार है :– 'एक कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर ढेढों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के गट्ठे हैं। समीप ही ओखल है जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा हुआ है। खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियां ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर की ओसरी में एक गाय बंधी हुई है।'[13] गोदान में प्रेमचंद द्वारा प्रस्तुत किए गए इस प्रकार के वर्णन उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचंद ने गांवों का अत्यंत सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। इससे प्रेमचंद की सूक्ष्म एवं गहन दृष्टि का परिचय मिलता है।

प्राकृतिक दृश्यों का सजीव चित्रण :-

प्रेमचंद गांव के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते समय गांव में प्राप्त होने वाले पेड़–पौधों, वनस्पतियों और स्थलों का यथार्थवादी रूप प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत कुछ वर्णन इस प्रकार हैं :– 'जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकल कर आकाश पर छाई हुई लालिमा को अपने रजत–प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गर्मी आने लगी थी।'[14]

इसी प्रकार का एक अन्य वर्णन दृष्टवय है :– 'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति ले कर आ पहुंचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर के सुगंध बांट रहे थे, और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।'[15] प्रेमचंद द्वारा गोदान में प्रस्तुत इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णन यथार्थ तो हैं ही साथ ही ग्रामीण जीवन से मेल खाते हैं। इनसे ग्रामीण जीवन के वास्तविक स्वरूप का पता चलता है।

पात्रों का नामकरण एवं वेशभूषा :–

गोदान में पात्रों का प्रस्तुतीकरण गांव के परिवेश एवं चलन के अनुसार ही किया गया है। होरी, गोबर, धनिया, शोभा, हीरा, सोना, रूपा, झुनिया, पुनिया आदि पात्र गांव के सीधे सरल नामकरण को दर्शाते हैं। जाति में उच्च कुल के लोगों को या संपन्न वर्ग के लोगों के नाम के आगे पदवियां लगी हुई है, जैसे :– पंडित दातादीन, दुलाई सहुआइन, झिंगुरी सिंह, रायसाहब और मेहता जी आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं। ग्रामीण लोगों के नाम तद्भव रूप में अधिक हैं, जबकि शहरी नाम जैसे :– मालती, गोविंदी, वेद प्रकाश खन्ना आदि तत्सम प्रकृति के हैं। गोदान के पात्रों के नामकरण के बारे में डॉ गोपाल राय लिखते हैं :– 'गोदान के ग्रामीण पात्रों के नाम ऐसे हैं जो गांवों में सामान्यतः प्रचलित हैं। यथार्थपरक नामकरण के द्वारा प्रेमचंद ग्रामीण पात्रों को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने में सफल हुए हैं।'[16]

गोदान में पात्रों के नामकरण के साथ–साथ ग्रामीण पात्रों की वेशभूषा के वर्णन द्वारा भी ग्रामीण सभ्यता–संस्कृति का प्रस्तुतीकरण किया गया है। इस संबंध में डॉ गोपाल राय का मानना है :– 'प्रेमचंद ने ग्रामीण पात्रों की वेशभूषा के यथार्थ वर्णन द्वारा भी उनकी आर्थिक–सामाजिक स्थिति और सभ्यता संस्कृति का सही परिचय दिया है।'[17] लाठी, मिरजई, जूते, पगड़ी और तंबाकू का बटुआ, ये सभी होरी के बाहर निकलने के वस्त्र या पोशाक हैं। जब भी होरी घर से बाहर किसी से मिलने के लिए निकलता है तो इन्हें पहनता है। होरी के पास धन का सदैव अभाव रहता है इसका पता उसके इस स्वगत चिंतन से चलता है :– '5 साल हुए यह मिरजई बनवाई थी। धनिया ने एक प्रकार से जबरदस्ती बनवा दी थी और कंबल तो उसके जन्म से भी पहले का है. .....।'[18] एक अन्य प्रसंग में गोबर लखनऊ से लौटता है तो देखता है, 'धनिया की साड़ी में पेंवदे लगे हुए थे, सोना की साड़ी सिर से फटी हुई थी और उसमें से बाल दिखाई दे रहे थे। रूपा की धोती में चारों तरफ झालरें लटक रही थीं।'[19] इस प्रकार प्रेमचंद ने ग्रामीण पात्रों की वेशभूषा का इतना सटीक चित्रण किया है कि उनकी विपन्नता और दयनीय जीवन अपनी सूक्ष्मता के साथ चित्रित हुआ है।

वैश्विक फलक पर 'गोदान' :–

1936 में प्रकाशित उपन्यास 'गोदान' प्रेमचंद का अंतिम महत्वपूर्ण उपन्यास है। हिंदी साहित्य में इसे जितनी ख्याति मिली है विश्व साहित्य में भी उतनी ही मान–प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। 'गोदान' का पहला अंग्रेजी अनुवाद जय रतन सिंह और पुरुषोत्तम लाल ने वर्ष 1957 में किया था। इसका दूसरा अनुवाद जोर्डन चार्ल्स रोडरमल ने 1968 में किया था। 'गोदान' के अनुवाद के संबंध में अज्ञेय जी का नाम भी लिया जाता है। कृष्ण दत्त पालीवाल जी के शब्दों में, 'नंद किशोर आचार्य ने प्रेमचंद के 'गोदान' (गिफ्ट ऑफ काऊ) तथा श्रीकांत (शरतचंद्र चटर्जी) के अंग्रेजी अनुवादों की चर्चा की है; लेकिन इन अनुवादों को प्रयास करने पर भी प्राप्त नहीं किया जा सका। दरअसल, 'गोदान' का अज्ञेय जी ने अनुवाद नहीं किया। अनुवाद में गोर्डन सी रोडरमल को अज्ञेयजी ने इस अनुवाद में सहायता दी है। इसीलिए रोजरमल में अनुवाद कार्य में उनका नाम ही नहीं दिया है।'[20]

इसके अतिरिक्त मुरली मनोहर प्रसाद सिंह जी ने भी इसी बात को पुष्ट करते हुए लिखा है, 'प्रेमचंद के अंतिम महान उपन्यास 'गोदान' का हाल कुछ अच्छा रहा। पहले जय रतन और पी लाल का किया हुआ एक अंग्रेजी अनुवाद (1956 ई.) था। उस अनुवाद को उच्च कोटि का कहना कठिन है। गोर्डन रोडार्मल ने भूमिका

और व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ एक कुछ अच्छा अनुवाद प्रस्तुत किया है।'[21] अतः स्पष्ट है कि अज्ञेय जी ने गोदान के अंग्रेजी अनुवाद को स्वयं प्रकाशित नहीं कराया। बल्कि रोडरमल जी को अनुवाद कार्य में सहायता दी थी। 'गोदान' के अन्य दो अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। मोहम्मद मजहर ने 'गोदान' का अंग्रेजी अनुवाद वर्ष 2005 में तथा अनुराग यादव ने इसका अंग्रेजी अनुवाद 2009 में प्रकाशित किया था। 'गोदान' के उपलब्ध इन अंग्रेजी अनुवादों में से जय रतन और पी. लाल तथा जार्डन सी रोडरमल द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजी अनुवाद काफी लोकप्रिय तथा सफल अनुवाद माने जाते हैं।

'गोदान' के अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन :-

प्रेमचंद की महान कृति 'गोदान' और जय रतन और पी लाल तथा रोडरमल द्वारा किए गए अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करने करते समय दोनों अनुवादकों की अपनी विशिष्ट शैली दिखाई पड़ती है। जय रतन और पी लाल द्वारा अनूदित "GODAN A Novel Of Peasant India" में उन्होंने कई स्थानों पर अनुसृजन का बहुत ही बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत किया है। जय रतन और पी लाल ने 'रिटेंशन थ्योरी' को भी ध्यान में रखते हुए कई स्थानों पर भारतीय सभ्यता–संस्कृति के विशिष्ट शब्दों को अंग्रेजी पाठ में बनाए रखा है। अनूदित रचना में कई स्थानों पर अर्थ संकोच और अर्थांतरण की समस्या भी उत्पन्न हुई है। जय रतन और पी लाल जी ने कई स्थानों पर मूल रचना के कुछ प्रसंगों के अनुवाद को छोड़ भी दिया है।

वहीं यदि हम रोडरमल द्वारा अनूदित 'The Gift Of Cow' A Translation of the classic Hindi Novel 'Godaan' के बारे में बात करें तो हम देखते हैं कि वे समतुल्यता के सिद्धांत का अनुपालन बहुत ही सुंदरता के साथ करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अपने अनुदित पाठ में भी 'न छोड़ो–न जोड़ो' सिद्धांत का भी बखूबी पालन करते दिखाई पड़ते हैं। रोडरमल जी ने 'गोदान' के प्रत्येक शब्द और भाव को पृथक–पृथक अभिव्यक्ति प्रदान करने का भरसक प्रयास किया है। उन्होंने भी कई स्थानों पर 'रिटेंशन थ्योरी' का पालन किया है और संस्कृति–विशिष्ट शब्दों को अंग्रेजी पाठ में बनाए रखने का यथासंभव प्रयास किया है। हालांकि कई स्थान ऐसे भी आए हैं कि उन्होंने संस्कृति–विशिष्ट शब्दों को भी शब्द–पर्याय और अर्थ–पर्याय प्रदान करने की हर संभव कोशिश की है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि दोनों ही अनुवाद 'गोदान' की मूल भावना को अपने–अपने तरीकों से बखूबी प्रकट करते हुए दिखाई पड़ते हैं। दोनों अनुवादकों की शैली भिन्न–भिन्न है। कई स्थानों पर दोनों के प्रस्तुतीकरण में समानताएं दिखाई पड़ती हैं तो कई स्थानों पर शैलीगत भिन्नताएं भी दिखाई पड़ती हैं। जय रतन और पी लाल जी के अनुवाद में 'अनुसृजन' का बेहतरीन प्रयोग किया गया है जबकि रोडरमल जी ने 'न छोड़ों–न जोड़ो' सिद्धांत का बड़े ही सुंदरता के साथ प्रयोग किया है। दोनों ही अनुवादकों को कई स्थानों पर अर्थांतरण की समस्या भी सामने आई है। इसके बावजूद दोनों ही अनुवाद 'गोदान' को वैश्विक पर प्रस्तुत करने में काफी सक्षम दिखाई पड़ते हैं। आशा है कि प्रस्तुत शोध प्रबंध 'गोदान' और इसके अनुवादों से संबंधित विषयों पर शोध कार्य करने वाले छात्रों के लिए संदर्भ ग्रंथ के रूप में काफी लाभकारी होगा।

निष्कर्ष :-

प्रेमचंद के इस महान उपन्यास 'गोदान' ने ग्रामीण भारतीय संस्कृति को विश्व पटल पर प्रस्तुत कर दिया। प्रेमचंद द्वारा रचित उपन्यास 'गोदान' एक ऐसा उपन्यास है जिसने भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप को बड़ी ही यथार्थता के साथ जनमानस के समक्ष प्रस्तुत किया है। 'गोदान' ने भारतीय समाज के गरीब दबे–कुचले वर्ग

को साहित्य में प्रमुखता से स्थान देकर उनकी समस्याओं को विश्व जगत के समक्ष प्रस्तुत किया और इनके समाधान हेतु विचार करने पर विवश किया। 'गोदान' में ग्रामीण भारतीय समाज के दैनिक संघर्ष और यथार्थ को बहुत ही गहराई और सूक्ष्मता के साथ प्रकट किया गया है। प्रेमचंद जी ने ग्रामीण सभ्यता–संस्कृति का इतनी गहराई और सूक्ष्मता से वर्णन किया है कि ग्रामीण सभ्यता–संस्कृति से जुड़ा प्रत्येक व्यक्ति 'गोदान' से एक अलग ही जुड़ाव महसूस करता है। यहां तक कि ग्रामीण जीवन से इतर शहरी जीवन से जुड़ा व्यक्ति भी 'गोदान' के माध्यम से ग्रामीण भारतीय सांस्कृतिक परिवेश से रूबरू हो पाता है।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. मिश्र, सत्यप्रकाश (प्रथम संस्करण 1992), 'गोदान का महत्व', इलाहाबाद, नई कहानी, 170, आलोपी बाग।
2. मिश्र, सत्यप्रकाश (प्रथम संस्करण 1992), 'गोदान का महत्व', इलाहाबाद, नई कहानी, 170, आलोपी बाग।
3. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
4. मिश्र, शिवकुमार (2011), प्रेमचंद की विरासत और गोदान, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन।
5. मिश्र, सत्यप्रकाश (प्रथम संस्करण 1992), 'गोदान का महत्व', इलाहाबाद, नई कहानी, 170, आलोपी बाग।
6. मिश्र, सत्यप्रकाश (प्रथम संस्करण 1992), 'गोदान का महत्व', इलाहाबाद, नई कहानी, 170, आलोपी बाग।
7. मिश्र, सत्यप्रकाश (प्रथम संस्करण 1992), 'गोदान का महत्व', इलाहाबाद, नई कहानी, 170, आलोपी बाग।
8. राय, गोपाल (परिवर्धित संस्करण 1991) गोदान : नया परिप्रेक्ष्य, पटना, अनुपम प्रकाशन।
9. शर्मा, नलिन विलोचन, आलोचना, 5।
10. राय, गोपाल (परिवर्धित संस्करण 1991) गोदान : नया परिप्रेक्ष्य, पटना, अनुपम प्रकाशन।
11. शर्मा, रामविलास (प्रथम संस्करण 1952) 'प्रेमचंद और उनका युग', दिल्ली, मेहरचंद मुंशीराम।
12. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
13. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
14. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
15. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
16. मिश्र, शिवकुमार (2011), प्रेमचंद की विरासत और गोदान, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन।
17. मिश्र, शिवकुमार (2011), प्रेमचंद की विरासत और गोदान, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन।
18. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
19. प्रेमचंद (2019) गोदान, नोएडा, मैपल प्रेस प्राइवेट लिमिटेड।
20. पालीवाल, कृष्णदत्त (प्रथम संस्करण 2011), अज्ञेय रचना सागर : मोती और सीपियां, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन।
21. मनोहर, मुरली प्रसाद सिंह (2008) प्रेमचंद : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।

मोबाइल नं.– 8860093307

ईमेल–bhardwajindu786@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 101-105

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

इंदु
शोधार्थी, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

भूमिका :–

मनुष्य का प्रारम्भ से ही स्वभाव रहा है कि वह अपनी मां प्रकृति द्वारा निर्मित किसी भी रचना को उसी रूप में पूर्ण मानकर संतोष नहीं प्राप्त करता है, अपितु उस रचना को पहले से बेहतर बनाने का नित्य ही प्रयास करता रहता है। किसी भी रचना को और अधिक सुंदर बनाने तथा उसको सुधारने या पूर्ण बनाने के लिए प्रयत्न करना ही मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य भावना का परिचय देता है। मनुष्य की यही विकास करने की प्रक्रिया ही संस्कृति कहलाती है। संस्कृति सामान्यतः हमें अपने पूर्वजों से विरासत में प्राप्त हुई है। जिसे समाज के लोग संजोकर अपने जीवन का एक अहम हिस्सा बनाए हुए हैं। समय परिवर्तन के कारण मनुष्य अपने अनुसार उसे ढालकर अपनी उन्नति करता है और बाद में उन परिष्कृत तत्वों को आने वाली पीढ़ी को सौंप देता है। यही परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है इसे ही संस्कृति कहते हैं।

संस्कृति का सजृन एक दिन में नहीं होता यह प्रक्रिया तो निरंतर चलती रहती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इसका विकास चलता रहता है। प्राचीन काल में संस्कृति का स्वरूप कुछ और था अब कुछ और है यह परिवर्तित होती रहती है।

हमारे दादा के जमाने में संस्कृति का स्वरूप रहन–सहन, खान–पान, भाषा, वेशभूषा अलग थी और अब सब कुछ बदल गया है। पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कृति का उद्भव एवं विकास होता रहता है किसी भी जाति, समाज एवं राष्ट्र के समस्त गुणों, नियमों, आदर्शों एवं संस्कारों का नाम ही संस्कृति है। किसी भी देश की पहचान वहां की संस्कृति से की जाती है जैसे देश एवं विदेश की संस्कृतियों में अंतर है हम किसी भी व्यक्ति की संस्कृति की पहचान उसकी भाषा एवं वेशभूषा से कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति की पहचान उसकी भाषा उसके शुद्ध भोजन संस्कारों से होती है। प्रत्येक देश की अपनी–अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति के संदर्भ में डी.डी. शर्मा ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि :–

"संस्कृति का निर्माण न तो एक दिन में होता है और न एक व्यक्ति द्वारा।यह तो समुदाय विशेष के समस्त सदस्यों का दीर्घकाल के अनुभूत तथ्यों का निचोड़ होता है। जिसे समाज के कर्णधारों द्वारा लोकहित को ध्यान में रखकर मान्यता प्रदान की गई होती है।"[1]

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएं :–

भारतीय संस्कृति भी संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में अपनी अलग पहचान रखती है। वैसे तो संस्कृति

अनंत अनादि व अवर्णनीय है किन्तु फिर भी राष्ट्र या समाज का आपसी लोक व्यवहार, आचार–विचार, वेश–भूषा, रीति–रिवाज, खान–पान पर्व–त्योहार आदि के आधार पर यहाँ की संस्कृति का रूप निर्धारित किया जा सकता है "संस्कृति शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु से पूर्व सम उपसर्ग तथा 'धन' (ति) प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है– सुधारना, पूरा करना, सज्जित करना, कोंच पर चमकाना, सजावट, परिमार्जन, परिष्करण इत्यादि" ।[2] संस्कृति को परिभाषित करने एवं इसके स्वरूप को समझने से पूर्व अंग्रेजी के 'Culture' शब्द पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। 'Culture' शब्द लेटिन के 'Colere' से बना है, जिसका अर्थ है– रक्षा करना, बसना प्रवृत्त।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार संस्कृति की परिभाषा :–

हार्बल के अनुसार– "यह संस्कृति ही है जो एक मनुष्य को अन्य मनुष्यों से एक समूह को अन्य सभी समूहों से और एक समाज को दूसरे से अलग बनाती है।"[3]

एफ०जे० ब्राउन ने संस्कृति के संदर्भ में लिखा है– 'संस्कृति मानव के सम्पूर्ण व्यवहार का ढाँचा है जो अंशतः भौतिक पर्यावरण से प्रभावित होता है। यह पर्यावरण प्राकृतिक एवं मानव निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है, किंतु प्रमुख रूप से यह ढाँचा सुनिश्चित विचार धाराओं, प्रवृत्तियों मूल्यों और आदतों द्वारा प्रभावित होता है जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।"[4]

पाश्चात्य विद्वान एन०एनेस्टे जी ने संस्कृति को संक्रमण–शीलता के प्रभाव से मुक्त माना है, उनके अनुसार– 'संस्कृति का विस्तार अत्यधिक विविधता पूर्ण है जिससे केवल भौतिक वस्तुएँ ही नहीं वरन् भाषा, रीति–रिवाज, कौशल्य, रुचियों और विश्वास भी समाविष्ट है जोकि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रमित होते रहते हैं।"[5]

जगद्गुरु शंकराचार्य प्रभुस्वामी ब्रह्मानंद सरस्वती के अनुसार, 'जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों से उन्नति करता हुआ सुख–शांति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिए भूषण भूत चेष्टाएँ कही जा सकती हैं अथवा मनुष्य की आधि भौतिक, आधि दैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएँ ही उनकी भूषण भूत समय चेष्टाएँ हैं या मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक–पारलौकिक अभ्युदय के अनुकूल देहन्द्रिय, मन, बुद्धि, चिता, अहंकार की क्रमशः आचार–विचार संबंधो की चेष्टा ही भूषण भूत चेष्टा या ससंस्कृति है।"[6]

बाबू गुलाबराय के अनुसार 'युग–युग में जिन आदर्श आचार वान्महापुरुषों ने गहन गंभीर ज्ञान सागर के मंथन से जिन शाश्वत मूल्यवान मणिरत्नों का आविर्भाव किया उन्हीं से संस्कृति कोष को समृद्धि मिली।"[7]

नालंदा विशाल शब्द सागर ने संस्कृति शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है– 'किसी व्यक्ति, जाति राष्ट्र आदि की वे सब बातें जो उसके मन, रूचि, आचार–विचार, कला–कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है।"[8]

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में अंग्रेजी के कल्चर शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, ''मन की अभिरूचियों और मन के आचरण का प्रशिक्षण तथा परिष्करण एवं वह स्थिति जिसमें नाम की अभिरूचियों और मन का आचरण, प्रशिक्षित और परिष्कृत हो जाते हैं। सभ्यता का बौद्धिक पक्ष, संसार में जो कुछ सर्वोत्तम जाना और कहा गया है उससे परिचय।"[9]

रामधारी सिंह दिनकर के मतानुसार" संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। यह

एक आत्मिक गुण है, जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार फूलों में सुगना और दूध में मक्खन इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं बल्कि युग–युगांतर में होता है। जिस प्रकार संस्कृति जन्य गुणों का निर्माण कठिन है उसी प्रकार नष्ट होना भी संस्कार हजारों सालों में निर्मित होते हैं।"[10]

भारतीय संस्कृति भी राष्ट्र की विभिन्न संस्कृतियों में अपनी एक अलग पहचान बनाए हुए है संस्कृति को बनाए रखने के पक्षों का होना अनिवार्य है।

व्यक्ति समाज का महत्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति से ही संस्कृति का निर्माण होता है व्यक्ति के बिना संस्कृति को आगे बढ़ाया नहीं जा सकता है। इसलिए दोनों एक–दूसरे पर निर्भर है। संस्कृति जीवन को सुख प्रदान करती है यह मनुष्य को सामंजस्य और समाजिकरण दोनों का ज्ञान देती है। संस्कृति मानवता की पहचान है मनुष्य अपने संस्कृति एवं सभ्यता से ही पहचाना जाता है कि वह हिंदू है या मुसलमान। व्यक्ति में संस्कृति के बाहरी एवं भीतरी दोनों गुणों का समावेश होता है। बाहरी रुप से वह आचार–विचार, वेशभूषा, खानपान से जाना जाता है तो अंदर से वह आदर व सम्मान को प्रदर्शित करता है। अतः व्यक्ति और संस्कृति दोनों का आपस में घनिष्ठ संबंध है। जीवन में आने वाली सकारात्मक एवं विपरीत दोनों ही स्थितियों में संस्कृति मनुष्य के लिए एक मार्गदर्शक और प्रेरणा लेकर आती है अतः संस्कृति का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण योगदान है।

समाज और संस्कृति आपस में जुड़े हुए हैं। सभ्यता और संस्कृति समाज का गौरव होते हैं। सामाजिक जीवन को पूर्ण रूप से चलाने के लिए संस्कृति का आधार ग्रहण किया जाता है। समाज के बिना संस्कृति अधूरी है मनुष्य जो भी कार्य करता है चाहे वह अच्छे हो या बुरे वह समाज को प्रभावित करते हैं। समाज तो एक विस्तृत इकाई है जिसमें अनेक धर्म एवं जाति के लोग रहते हैं भारत एक ऐसा देश है जहां विभिन्न धर्म एवं जाति के लोग आपस में मिलकर रहते हैं तथा एक दूसरे की संस्कृतियों का, त्योहारों का आदर सम्मान करते हैं। बाहरी रूप से भारत में विभिन्नता दिखाई देती है लेकिन आंतरिक रूप से भारत में एकता कायम है। भारत में 26 जनवरी और 15 अगस्त पर विभिन्न संस्कृतियों की कलाओं का प्रदर्शन किया जाता है तथा उनका आदर किया जाता है। क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना ही सभी को आपस में जोड़े रखती है अतः समाज एवं संस्कृति एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि समाज उन्नत होगा तो संस्कृति को प्रभावित करेगा तभी संस्कृति का विकास होगा इसलिए समाज एवं संस्कृति एक दूसरे के पूरक हैं।

संस्कृति के अंदर दर्शन शास्त्र का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। संस्कृत हिंदी शब्द कोश के अनुसार दर्शन का अर्थ है–"देखना, प्रत्यक्ष जानना, नियम आदि।"[11]

दर्शन का संबंध मनुष्य की आंतरिक दृष्टि या अंतर्मन से होता है। मनुष्य अपने भीतर जिन विषयों पर विचार करता है उनके संबंध में निर्णय लेना दर्शन कहलाता है। गहन तथ्यों की जांच करना ही दर्शन कहलाता है। बिना किसी तर्क–वितर्क के दर्शन में किसी बात को विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन तर्क पर आधारित होता है और वह भौतिक तथ्यों से दूर रहता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार– "मानव अनुभव के दो पक्ष हैं– ज्ञानलोक और भावलोक। ज्ञानलोक दर्शन तथा भावलोक साहित्य व ना–ना कलाओं से अन्वित होता है। फिर भी दोनों में अंतर नहीं समझना चाहिए क्योंकि ज्ञान प्रसार के भीतर भाव प्रसार होता है।"[12]

इस प्रकार दर्शन का कार्य मानव के गुढ़ रहस्यों को बाहर निकालना है। यह भाव और ज्ञान दोनों से

संबंधित है इसलिए दर्शन संस्कृति का अभिन्न अंग माना जाता है।

राजनीति संस्कृति और समाज दोनों से जुड़ा होता है। समाज में होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रभाव राजनीति पर दिखाई पड़ता है। राजनीति के द्वारा ही संस्कृति का विकास संभव है। जिस समाज में अच्छे कानून एवं नियम होंगे वहां संस्कृति सुरक्षित रहेगी उसे किसी प्रकार का विनाश के डर का भय नहीं रहेगा। जिस प्रकार संस्कृति मानव को मानसिक रूप से अपने आप में बांधे रखती है। राजनीति बाहरी रूप से मनुष्य की क्रियाओं पर नियंत्रण रखती है। राजनीति की भागीदारी सदैव समाज के साथ रही है। इससे प्रभावित हुए बिना संस्कृति का कोई भी कार्य फलीभूत नहीं हो सकता है।

सौंदर्य भी संस्कृति को प्रभावित करता है। सौंदर्य दो प्रकार का होता है बाहरी एवं आंतरिक। बाहरी सौंदर्य जैसे पहाड़, झरने, पेड़–पौधे, वायु ये सभी हमारी संस्कृति एवं विरासत की धरोहर है। संस्कृति के बाहरी रूप को देखने के लिए ही दूर–दूर से पर्यटक आते हैं और हमारी संस्कृति का गुणगान करते हैं। आंतरिक सौंदर्य हैं हमारा आदर एवं संस्कार। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि–

"कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या वदाकार परिणतिजितनी अधिक होगी, उतनी ही वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जाएगी।"[13] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सौंदर्य ही असीम शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु को अपनी तरफ आकर्षित कर सकती है। वह मनुष्य को अपने वश में कर सकती है। प्रकृति में सौंदर्य सीधे तौर पर संस्कृति को प्रभावित करता है। संस्कृति के सौंदर्य को निहारने के लिए ही दूर–दूर से पर्यटक आते हैं।

जयशंकर प्रसाद के अनुसार – "यह संसार बड़ा अनुपम एवं अनोखा है। सौंदर्य कहीं पर वस्तुगत होता है तो कहीं परसहृदय की भावनुभूति में होता है।"[14]

इसी विषय को और अधिक सौंदर्यमय बनाने के लिए रामसजन पाण्डेय का विचार है कि "सौंदर्य की सत्ता सृष्टि में सिर्फ सर्वाजनित एवं सार्वभौमिक है।"[15]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सौंदर्य और संस्कृति में तालमेल होने से मानव जीवन सुंदर बन जाता है। संस्कृति में सौंदर्य निहित होने से मानव के भाव, विचार एवं उसकी क्रियाएं भी सकारात्मक बन जाती हैं तथा वह नई–नई भावनाओं को जागृत करने का प्रयास करता रहता है। अतः संस्कृति एवं सौंदर्य में आपसी समन्वय होना बहुत ही आवश्यक है। जिससे मानव जीवन भी सुंदर एवं आनंदमयी बन जाता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :-

1. डी.डी. शर्मा, हिमालयी संस्कृति के मूलाधार, पृ०– 17
2. डॉ.दीपिका वालिया, हरियाणवी संस्कृति के विविध परिदृश्य, पृष्ठ सं. 16
3. रॉबर्ट पीरस्टीड, द सोशल ऑर्डर, पृष्ठ संख्या 137
4. जे. ब्राउन, एजुकेशन सोशलॉजी, पृष्ठ 63
5. N.Emestessy, Encylopacdio of Educational Research, P.350
6. अज्ञेय, केंद्र और परिधि, पृष्ठ 290–291
7. बाबू गुलाब राय, भारतीय संस्कृति, पृष्ठ संख्या–4

8. संपादक नवल जी, नालंदा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ सं. 388
9. Oxford dictionary, the trouning and refinement of mind taste and manners, the condition of being thus, the intellectual side of curdization the aquanting our selvers with the best.
10. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ सं. 545
11. वामन शिवराम आप्ते, संस्कृत हिंदी शब्दकोश पृ०– 491
12. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, भाग 1
13. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि –1, पृ० सं–113
14. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ०–102
15. रायसजन पाण्डेय, विद्यापति सौंदर्य बोध, पृ०–9

Ph. 8744838453, 8285971990
Induyadavsi509@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 106-108

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

डॉ० जे०के० संत

सहायक प्राध्यापक, राजनीति शास्त्र शास० तुलसी मावि० अनुपपुर।

प्रस्तावना :–

भारतीय संस्कृति ने एकता में अनेकता और अनेकता में एकता स्थापित करके इसी मानव मंगल को परिमंडित किया है। भारतीय संस्कृति के शाश्वत तत्व–सत्य शिव और सुंदर ने मानव चेतना को सुसंस्कृत और परिष्कृत किया। दर्शन में उसके सत्य स्वरूप का राजनीति में उसके शिव स्वरूप का और कला में उसके सुंदर स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ है। इन तीनों मूल तत्वों का समाहार ही संस्कृति है, जिसके द्वारा मानवता का हित और कल्याण होता आया है। जब भी विश्व संस्कृति के संदर्भ में भारतीय संस्कृति का विषय उभरता है तो हमारे मन मस्तिष्क में यह शाश्वत सत्य ही विद्यमान होते हैं। भारतीय संस्कृति सदैव से ही संयमशील और सहिष्णु बनी रही है। इसके मूल में भारतीय समाज की अध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है, जिसमें भारतीय संस्कृति विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृति बनी हुई हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रतिदर्श आधुनिक भारतीय समाज में भी मिलता है। यद्यपि विज्ञान के आविष्कारों तथा पश्चिम के अंदर अंधानुकरण से यह संस्कृति भी अपना स्वरूप परिवर्तन कर रही है। तथापि हमारे प्रचलित संवैधानिक मूल समानता, सामाजिक न्याय, भ्रातत्वभाव, धर्मनिरपेक्षता इस संस्कृति की विशाल हृदयता की ही परिणति है। भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने पर विचलित होता है, कि अतीत के युगों और परिस्थितियों में उसकी अंतधारा निरंतर आगे बढ़ती रही।

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के संदर्भ में यदि उसके विकास क्रम का अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि अत्यंत विकट और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसके अपने अस्तित्व की अशुष्णता को सदा बनाए रखा, विदेशी आक्रमणों तथा शासन सत्ता में निरंतर परिवर्तनों के बावजूद भी उसकी सांस्कृतिक परंपरा कभी अवरुद्ध नहीं हुई, अपितु उसने विभिन्न धर्मों की अवधारणाओं को अपने अंदर समाहित कर स्वयं को परिपुष्ट और समृद्ध बनाए रखा, भारत में प्राचीन काल से ही अनेक जातियों और विभिन्न उपजातियों की असमान संस्कृतियों में एकता स्थापित करने की जटिल समस्या समय–समय पर उपस्थित होती रही है, किंतु भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने ही उसे सफल बनाया।

किसी समाज की संस्कृति से तात्पर्य उस समाज के व्यक्तियों के रहन–सहन एवं खानपान की विधियों, व्यवहार, प्रतिमानो, आचार–विचार, रीति रिवाज, कला–कौशल, संगीत–नृत्य, भाषा–सहित, धर्म–दर्शन, आदर्श–विश्वास और मूल्यों के उन विशिष्ट रूप से होता है। जिसमें उसकी आस्था होती है, और जो उसकी अपनी पहचान होते हैं। मनुष्य की अमूल्य निधि उसकी संस्कृति है, संस्कृति एक ऐसा पर्यावरण है, जिसमें रहकर व्यक्ति एक

सामाजिक प्राणी बनता है, और प्राकृतिक पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता अर्जित करता है। 'होबेल' का मत है वह संस्कृति ही है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से, एक समूह को दूसरे समूहों से और एक समाज को दूसरे समाजों से अलग करती है।

संस्कृति का अर्थ :-

संस्कृत भाषा में "सम" उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में "ति" प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द उत्पन्न होता है। संस्कृति = सम+ कृति अर्थात अच्छी प्रकार से सोच समझकर किए गए कार्य–उत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द परिष्कृत कार्य अथवा उत्तम स्थिति का बोध कराता है, किंतु इस शब्द का भावार्थ अत्यंत व्यापक है। अंग्रेजी में वस्तुतः संस्कृति के लिए "Culture" शब्द का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः संस्कृति शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्ति नैसर्गिक शक्तियों और उसके परिष्कार का घोतक है। किसी देश की संस्कृति अपने को विचार धर्म दर्शन काव्य संगीत न्रत्य कला आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग करके इन क्षेत्रों में जो सृजन करता है, और अपने सामूहिक जीवन को हितकर तथा सुखी बनाने हेतु जिन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रथाओं को विकसित करता है, उन सब का समावेश ही "संस्कृति" में पाते हैं। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विभिन्न विधियों, प्रविधियों, उपकरणों, रीति–रिवाजों तथा प्रथाओं को जन्म दिया है। यह सब पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। इन सब के योग को संस्कृति कहते हैं। दूसरे शब्दों में संस्कृति हमारे द्वारा सीखा गया वह व्यवहार है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित रहता है।

संस्कृति की परिभाषा (Definition of Culture) :–

संस्कृति समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है संस्कृति का अर्थ उस सब कुछ से होता है, जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समझ पाता है. संस्कृति की कतिपय परिभाषाएं निम्न प्रकार हैं–

कोबर ने लिखा है–

"संस्कृति सदैव एक ऐसी विशेषता है जिसे अपनाया जा सके उपयोग किया जा सके, जिसमें विश्वास हो और जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो। अपने अस्तित्व के लिए यह अपने सम्पूर्ण समूह के जीवन पर निर्भर होती है।" इस दृष्टिकोण से संस्कृति के संचरण में सामाजिक सीखना तथा अनुकरण का विशेष स्थान है।

हॉबल के अनुसार, "संस्कृति सम्बन्धित सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है, जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है और जो इसलिए प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता।'

'बोगार्डस के अनुसार, "संस्कृति किसी समूह के कार्य करने व सोचने की समस्त विधियाँ हैं।"

क्यूबर (Cuber) के अनुसार– 'मानव विज्ञान के शब्दों में संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों और सिखे हुए व्यवहारों के परिणाम के सतत परिवर्तनशील रुप को कहते हैं. इन सीखे व्यवहारों में अभिवृत्ति, आदर्श, ज्ञान एवं भौतिक पदार्थ सम्मिलित हैं. जिन्हें समाज के सदस्य परस्पर एक दूसरे को प्रदान कर देते हैं।'

'टायलर (Tylor) के अनुसार– 'संस्कृति बहुत जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।'

'मैकाइवर (Maclver) के अनुसार– 'संस्कृति हमारे जीवन के दैनिक व्यवहारों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन व आमोद–प्रमोद, रहन–सहन और विचार की विधियों में हमारी प्रकति की अभिव्यक्ति है।

'महात्मा गांधी (Mahatma Gandhi) के अनुसार– 'संस्कृति नींव है, प्रारंभिक वस्तु है, तुम्हारे सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवहारों से इसे प्रकट होना चाहिए।"

राबर्ट बीरस्टीड के शब्दों में, "संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमें वे सभी विशेषताएँ सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज का सदस्य होने के नाते उन्हें अपने पास रखते हैं।'

'मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, 'हमारे रहने तथा सोचने के तरीकों में, रोज की अन्तक्रियाओं में, कला में, धर्म में, मनोरंजन तथा आमोद–प्रमोद में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति ही है।"

निष्कर्ष :–

संस्कृति एक ऐसा पर्यावरण है, जिसमें रहकर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बनता है। वास्तविकता यह है, कि यदि मनुष्य से उसकी संस्कृति छीन ली जाय तो वह पशु बन जायेगा। प्रसिद्ध समाजशास्त्री हावेल ने 'संस्कृति को एक अनोखी मानव घटना कहा है। यह संस्कृति ही है जो व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों से, एक समूह से दूसरे समूह को और एक समाज को अन्य समाजों से अलग करती है।'

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. दिनकर, रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद।
2. सिंह एवं यादव प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति, आगरा।
3. कृष्णकुमार भारतीय संस्कृति के आधार तत्व दिल्ली।
4. मोहन, हरि संस्कृति, पर्यावरण और पर्यटन, नई दिल्ली।
5. कृष्णकुमार प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, दिल्ली।
6. वेबसाइट।

मो० न० 9893076404

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 109-112

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

जयनारायन
शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय।

संस्कृति किसी भी देश की किसी विशिष्ट काल की जीवन–पद्धति, उसके आदर्श तथा उनके प्राप्त करने की विधियाँ एवं इस प्रक्रिया में होने वाले बाह्य एवं आंतरिक परिवर्तनों का लेखा–जोखा है जीवन की समग्रता का धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, स्थापत्य, विज्ञान, सामाजिक दैनंदिन व्यवहार इत्यादि में प्रगतिशील आदर्शों का अध्ययन संस्कृति कहलाता है। संस्कृति शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में संस्कृति के लिये 'कल्चर' शब्द प्रयोग किया जाता है जो लैटिन भाषा के 'कल्ट या कल्टस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है जोतना, विकसित करना या परिष्कृत करना और पूजा करना। सामान्यतः सुसंस्कारों की योजना को संस्कृति मान लिया जाता है और इस अर्थ में ऐसे व्यक्ति या समूह जिनकी जीवन–विधि में सुसंस्कारों का अभाव होता है, संस्कृति विहीन समझे जाते हैं। कभी–कभी इसका संबंध विशेष वेश–भूषा, भाषा और रहन सहन से जोड़ा जाता है।

वाल्टेयर के शब्दों में संस्कृति सुखमय जीवन व्यतीत करने की कला है। संस्कृति का अर्थ है – सृजनात्मक अभिव्यक्ति। यह अभिव्यक्ति मानव की सृजनात्मक बुद्धि के सहारे अभिव्यक्ति होती है, जो अपने परिवेश को अपने अनुकूल और अपने नियंत्रण में रखने की चेष्टा करती है। यह सृजनात्मक बाह्य वास्तविकता और आंतरिक जीवन दोनों में व्याप्त मिलती है। पहली दशा में उसका लक्ष्य होता है, भौतिक उपयोगिता और दूसरी दशा में वह मनुष्य के आंतरिक जीवन का विकास और समृद्धि करता है। "संस्कृति जीवन का संस्कार है जिसका अर्थ है पाशविक प्रवृत्तियों का परिमार्जन तथा स्वार्थ का परित्याग।"[1]

"संस्कृति का एक अर्थ परिष्कार अथवा परिशोधन भी है जिसका अर्थ है परिपक्वता।"[2] बौद्धिक परिपक्वता और नैतिक परिपक्वता मानव संस्कृति की कसौटियाँ हैं। बौद्धिक परिपक्वता मनुष्य को विवेकपूर्ण निर्णयों को लेने की शक्ति प्रदान करती है। उपनिषद् का एक मंत्र है कि श्रेय और प्रेय मनुष्य के सामने मिले–जुले रूप में समुपस्थित होते हैं। जो मंद हैं (अपरिपक्व) वे प्रेय को स्वीकार करते हैं तथा जो धीर (परिपक्व) हैं, वे श्रेय का वरण करते हैं। उपनिषद् आगे कहती है कि जो योगक्षेम के लालच में आकर प्रेय का वरण करते हैं, वे विनष्ट होते हैं। श्रेय और प्रेय की जाधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से व्याख्या की जा सकती है। किंतु इतना निर्विवाद है कि धैर्य बौद्धिक परिपक्वता से ही प्राप्त होता है। जो व्यक्ति परिस्थिति के आवेश और आवेग में अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं, जो तात्कालिक लाभ अथवा क्षुद्र स्वार्थ के वशीभूत होकर जीवन के लक्ष्य से भटक जाते हैं, वे बौद्धिक रूप से परिपक्व नहीं कहला सकते।

सामान्य रूप से कह सकते हैं : संस्कृति समाज के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन रूपों की सृष्टि और उनका

उपयोग है। संस्कृति शब्द का संबंध किसी निर्दिष्ट समाज के विशिष्ट आचार–विचार क्रियाकलाप तथा अनुचितन के साथ होता है, जो मानवता के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं और प्रत्येक समाज का चिंतन भिन्न होता है। वह अनुचितन कभी–कभी भौगोलिक सीमाओं में बँध जाता है या किसी विशिष्ट समय या धारा से जुड़ जाता है। तभी तो उस धारा या समाज को निर्दिष्ट संस्कृति का नाम और रूप दिया जा सकता है। संस्कृति का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव रहता है, क्योंकि संस्कृति मानवता को असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर, अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसित करती है।

संस्कृति की व्युत्पत्ति :–

संस्कृति शब्द में मूल धातु 'कृ' है 'सम्' उपसर्ग तथा 'सु' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर शब्द बनता है। 'कृ' का अर्थ क्रिया या किया हुआ या निर्मित होता है। सम् से अर्थ है 'पूर्णतः' या 'सम्यक्' इस तरह 'सम्यक् कृति' ही संस्कृति है। कृति के अर्थ के संबंध में सर्वप्रथम कृति या कर्म का अर्थ समझने का प्रयास करना चाहिये, कर्म की व्याख्या भगवद्गीता में बड़े ही अर्थपूर्ण शब्दों में की है। अष्टम् अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न पूछा है कि कर्म क्या है? इसका उत्तर कृष्ण ने तृतीय श्लोक में दिया है, 'भूत भावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'।

इसका अर्थ है भूतों की सत्ता का उद्भव करने वाला विसर्जन या त्याग। 'भूतों की सत्ता' का अर्थ होगा– स्थावर जंगम समस्त भूत प्राणी का अस्तित्व में आना'।"[3] इस 'सत्ता के सृजन' के लिये किसी शक्ति की आवश्यकता होती है, अतः इस सृजनात्मक शक्ति का त्याग, विसर्जन या विसर्ग है।

संस्कृति की परिभाषा :–

श्री गोपाल स्वरूप पाठक के अनुसार– ''भौतिक साधन, विचारधाराएं, आदर्श तथा आस्थाएं, भावनाएं, शुद्ध मूल्यएवं सामाजिक रीति–रिवाज, जो किसी भी समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत में मिलते हैं, उन्हीं के सामूहिक रूप से संचयन को संस्कृति कहते हैं।''

एडवर्ड बनार्ट टायलर के द्वारा सन् 1871 में प्रकाशित पुस्तक Primitive Culture में संस्कृति के संबंध में सबसे पहले उल्लेख किया गया है। टायलर मुख्य रूप से संस्कृति की अपनी परिभाषा के लिए जाने जाते हैं, इनके अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला आचार, कानून, प्रथा और अन्य सभी क्षमताओं तथा आदतों का समावेश होता है जिन्हें मनुष्य समाज के नाते प्राप्त करता है।" टायलर ने संस्कृति का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। इनके अनुसार सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति अपने पास जो कुछ भी रखता है तथा सीखता है वह सब संस्कृति है।

डॉ० देवराज की पुस्तक 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' में संस्कृति के संबंध में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं, "संस्कृति मूलतः विशिष्ट क्रियाओं का नाम है और किसी देश के निवासियों की संस्कृति का अर्थ उनकी आत्मिक क्रियाओं की तीव्रता और निखार है।"[4] 'संस्कृति उस बोध या चेतना को कहते हैं जिसका सार्वभौम उपभोग या स्वीकार हो सकता है, और जिसकी विषय वस्तु सत्ता के वे पहलू हैं जो निर्वव्यक्तिक रूप से अर्थवान हैं।"[5] 'संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किंतु अर्थवती छवियों से, फिर ये छवियाँ चाहे प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, संबंधित करता है।"[6] लक्ष्मण शास्त्री जोशी का मत है कि, 'संस्कृति वास्तव में वह जीवन पद्धति है जिसकी स्थापना मानव, व्यक्ति तथा समूह के रूप में, निर्माण करता

है, उन आविष्कारों का संग्रह है, जिनका अन्वेषण मानव ने अपने जीवन को सफल बनाने के लिये किया है। उक्त अन्वेषण में मानव तब सफल होता है, जब वह अपनी आत्मा तथा बाह्य विश्व दोनों का संस्कार करे सच बात तो यह है कि संस्कृति मानव द्वारा प्रकृति पर प्राप्त विजय की क्रमबद्ध कहानी है।'[7] डॉ० पाण्डे की पुस्तक 'दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर में संस्कृति को मूल्यों की, आत्मबोध की परंपरा माना गया है।"[8] इन परिभाषाओं से थोड़ा हटकर डॉ० भगवत शरण उपाध्याय संस्कृति को समान प्रयत्नों से उत्पन्न विरासत तथा संयुक्त और समन्वित प्रयासों का प्रतिफलन मानते हैं इनके अनुसार इतिहास अखण्ड है; वह स्थानीय नहीं हो सकता। उनका मत है कि "संस्कृति समग्र है, इतिहास और कलाएँ समग्र हैं। इतिहास उसी तरह राष्ट्रीय नहीं हो सकता, जैसे रसायन और गणित राष्ट्रीय नहीं हो सकते।"[9]

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार–''संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य के स्वाभाव में उसी तरह व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निमार्ण एक अथवा दो दिन में नहीं होता, युग–युगान्तर में होता है।"[10]

मैलिनोव्स्की (Malinowski) के अनुसार, 'संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था और उद्देश्य पूर्ण क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है।'

मैकाइवर एवं पेज (Maclver and Page) के अनुसार, "संस्कृति हमारे नित्य प्रतिदिन के रहन–सहन, साहित्य, धर्म, कला, मनोरंजन तथा आनन्द में पाए जाने वाले विचारों के ढंग में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।'

उपर्युक्त विवेचन में संस्कृति की परिभाषाओं की अतिव्यापकता, वर्णनात्मकता या अस्पष्टता से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह शब्द अपरिभाषेय है, इसका वर्णन मात्र संभव है। डॉ० पाण्डे ने अपनी पुस्तक 'दी मोर्निंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर' में इस मत का प्रतिपादन किया है कि 'संस्कृति की कोई सर्वमान्य परिभाषा न तो संभव है, नहीं उचित, वह स्वरूपेण परिभाषित है, अर्थात् प्रत्येक संस्कृति का परिभाषित रूप उसका तत्वतः प्रकट है'। इस प्रकार के कथन से यह प्रकट होता है कि प्रत्येक संस्कृति की अपनी अलग परिभाषा या पहचान होगी। प्रत्येक समाज या जाति को भी अपनी–अपनी संस्कृति होगी, और प्रत्येक की अपनी अलग–अलग परिभाषा। जातीयता, राष्ट्रीयता या किसी भी संकुचित दायरे से ऊपर उठकर मानवता की किसी सामान्य प्रेरणा को ढूंढ पाने का कार्य कठिन अवश्य है परंतु असंभव नहीं। यदि सीमित मानव क्षेत्र (जैसे भारत या फांस) की संस्कृति की विशिष्टता को अपरिभाषेय स्वीकार कर लें तो विश्व मनुष्य या मानवता की कल्पना असंभव होगी और मानव कल्याण का स्वप्न भी चूर–चूर हो जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति का स्वरूपेण परिभाषित बताने या यह मानने में कि उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो सकती, वेदांती दृष्टिकोण ही है जिसमें कि ब्रह्म विशेष्य है, विशेषण नहीं, अनिर्वचनीय है। ब्रह्म सत्यम् याज्ञानम् या आनंदम् है। सत्यम् या ज्ञानम्स्व रूपेण परिभाषित हैं, ये शब्द विशेषण नहीं विशेष्य हैं तथा यही कहा जा सकता है कि सत्यं ब्रह्म या आनंद ब्रह्म। ब्रह्मानुभव अनिर्वचनीय होने से उसकी परिभाषा संभव नहीं है। इन्हीं अर्थों में कहा गया है कि संस्कृति भी ब्रह्म सरीखा अपरिभाषेय शब्द है। लेकिन चूंकि प्रत्येक का अपना अलग–अलग अनुभव होता है इस कारण वह व्यक्ति सापेक्ष वर्णन अवश्य कर सकता है।

साहित्य में भी अनुभव की साम्यता बताकर किसी उपमा से बात स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है जैसे मुख के सौंदर्य की अनुभूति की व्याख्या उसे चन्द्र के समान बताकर करना प्रचलित है। अतः संस्कृति अपने आप में एक मूल्य है, एक प्राप्तव्य है जिसके मूल में पाशविक प्रवृत्तियों पर आत्म नियंत्रण अथवा संयम का भाव

निहित है।

संस्कृति के प्रकार :–

समाज शास्त्रियों के अनुसार संस्कृति के प्रकार के आधार पर दो भागों में बांटा गया है–

1. **भौतिक संस्कृति :–** इसमें भौतिक तथा पार्थिव वस्तुऐं आती है जो कि मनुष्य के व्यवहार अर्थात् दैनिक क्रिया कलापों में आती हैं। जैसे– रहने के लिये मकान, घरों का सामान, विभिन्न आवागमन के अर्थात् उपकरण औजार, हथियार, बर्तन तथा वे सभी भौतिक वस्तुएं जिनका उपयोग हम दैनिक दिनचर्या में करते हैंतथा उन्हीं के आधार पर हम अपना जीवन आसानी से तथा सुगमता से चलाते हैं।

2. **अभौतिक संस्कृति :–** इसके अंतर्गत अदृश्य वस्तुएं शामिल होती हैं जैसे– समाज के विभिन्न रीति–रिवाज, रूढ़ियां, विधियां कलाएं, ज्ञान और धर्म आदि आते है। जिनको केवल हम एक–दूसरे के द्वारा सीखते हैं, समझते हैं और जानने का प्रयास करते हैं तथा उसको समझने के बाद अपने जीवन में उतारते हैं तथा उसी प्रकार से व्यवहार करते हैं जैसे हमें करना चाहिये और अपने इसी व्यवहार को हम पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाते रहते हैं।

वस्तुतः संस्कृति एक जटिल अवधारणा है। इसे एक ऐसी व्यवस्था माना जा सकता है जिसमें व्यवहार के ढंग, भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परम्पराएँ, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। संस्कृति सदैव एक ऐसी वस्तु है जिसे अपनाया जा सके, जिसका उपयोग किया जा सके, जिस पर विश्वास हो, जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो तथा जो अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण समूह के जीवन पर निर्भर करती हो।

निष्कर्ष :–

उद्देश्य यह है कि हम संस्कृति की परिभाषा देने के पूर्व किसी कृति के कर्ता का स्वरूप जान लें, क्योंकि संस्कृति सामाजिक मनुष्य की देन है प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं होती, और प्रत्येक कर्म आनंद नहीं देता। हमारे विचार ही कर्मों में प्रतिफलित होते हैं, अतः विचार एवं कृति को अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मनुष्य अविच्छिन्न सुख की चाह करता है। इसी प्रयास में उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता रहता है। पूर्णता का परिचय आनंद की अनुभूति में मिलता है। सौंदर्यानुभूति भी आनंद ही है जो आनंदप्रद है, वह कल्याणकारी भी होता है, और यह सब वायवी नहीं, इसका अस्तित्व होता है। अतः सत्यं शिवं एवं सुंदरं का परिचय प्रदान करने वाली प्रत्येक कृति सांस्कृति कही होगी। अंत में निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तावित करते हैं :– 'मानव समग्रता की वह प्रगतिशील कृति जो व्यक्तित्व की पूर्णता की प्रक्रिया में सत्यं शिवं एवं सुन्दरं की अनुभूति प्रदान करे।'

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. भारतीय जीवन और संस्कृति, संपादक डॉ. शंभूनाथ पांडेय, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।
2. भारतीय जीवन और संस्कृति, संपादक डॉ. शंभूनाथ पांडेय, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, पृष्ठ संख्या–२
3. राधाकृष्णन, दी भगवद्गीता, जार्ज एलन एण्ड अनविन (१६८०), पृ० संख्या– २२७
4. डॉ. देवराज की पुस्तक 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ संख्या–१५
5. डॉ. देवराज की पुस्तक 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ संख्या–१६७
6. डॉ. देवराज की पुस्तक 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ संख्या–१६६
7. लक्ष्मण शास्त्री जोशी की पुस्तक 'वैदिक संस्कति का विकास', हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, मुंबई
8. डॉ. पांडे की पुस्तक 'द मीनिंग एंड प्रोसेस ऑफ कल्चर, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी।
9. डॉ. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पी. पी. एच., पृष्ठ संख्या–६
10. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय।

narayanjay43@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 113-117

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

21वीं शताब्दी की महिला कहानीकारों की कहानियों में वर्णित सांस्कृतिक जीवन मूल्य

कफील अहमद, शोधार्थी
डॉ० कविता त्यागी, शोध निर्देशिका
एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग), मेरठ कॉलेज, मेरठ (उत्तर प्रदेश)

किसी भी देश के प्राण उस देश की संस्कृति में बसते हैं। संस्कृति से ही किसी देश को एक अलग पहचान मिलती है। प्रत्येक देश की संस्कृति भिन्न–भिन्न होती है। यदि हम संस्कृतियों की विभिन्नता की बात करें तो भारतवर्ष, संसार में अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान रखता है। प्रत्येक मनुष्य का अपना एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश होता है, जिसमें रहकर वह अपना जीवन व्यतीत करता है तथा समाज में रहकर अपनी संस्कृति को अपनाते हुए प्रगति के मार्ग की ओर बढ़ता रहता है। वह उसकी सामान्य चेतना को परिवर्तित करके विशिष्ट चेतना बनाती है। किसी भी मनुष्य एवं समाज का सर्वांगीण विकास उसकी संस्कृति में निहित होता है। संस्कृति और संस्कार दोनों का अटूट संबंध है। संस्कृति को साध्य माना जाता है तो संस्कार उसका साधन है। संस्कृति से जीवन की पूर्ण अवस्था का बोध होता है तथा संस्कार ऐसे विधि विधान हैं जो मनुष्य को पूर्णता की तरफ ले जाते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि संस्कृति संस्कारों की जननी है।

भारत की संस्कृति किसी एक संस्कृति का परिणाम न होकर विभिन्न संस्कृतियों का संगम है। इसकी यह विशेषता है कि यहाँ पर विभिन्न धर्म एवं जाति के लोग निवास करते हैं तथा यहाँ इनकी भाषा, संस्कार, परंपरा, त्यौहार, रीति रिवाज भिन्न–भिन्न होने के बावजूद भी यहाँ की संस्कृति एक सूत्र में बंधी हुई है। इसी अनेकता में एकता के विशिष्ट गुण के कारण भारतीय संस्कृति प्राचीनकाल से ही विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। संस्कार, परंपरा तथा रीति रिवाज मनुष्य को एक धर्म, समुदाय में जुड़े रहने और नियंत्रण में रखने के लिए बनाए गए हैं। यह एक औपचारिक विधि होती है, जिससे किसी भी कार्य को नियंत्रित एवं व्यवस्थित रूप में किया जाता है। इसमें पूर्ण रूप से परिवर्तन नहीं हो सकता है क्योंकि एक धर्म एवं समुदाय के व्यक्ति आपस में उन विचारों एवं विश्वासों से जुड़े होते हैं। लेकिन समय के साथ–साथ पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण संस्कृति के प्रमुख तत्व रीति–रिवाज आदि में होने वाले परिवर्तन को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

संस्कृति किसी भी समाज का प्रमुख अंग होती है। यह जीवन मूल्यों का संग्रह भी करती है। क्योंकि सांस्कृतिक जीवन मूल्य बहुत वर्षों से निरंतर परिष्कृत तथा प्रतिष्ठित होकर हम तक पहुंचे हैं। किसी भी देश की गरिमा को पूर्ण बनाने में संस्कृति मुख्य भूमिका निभाती है और समाज को जीवन प्रदान करती है। वर्तमान

में भारत के सांस्कृतिक गौरव की गाथा पूरी दुनिया की अन्य संस्कृतियों में भी गाई जाती है और गाई जाती रहेगी। जो हमारे देश की संस्कृति के कारण ही देश को सर्वोत्कृष्टता प्रदान करती है। इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्य किसी भी देश के अंतर्निहित तत्व माने जाते हैं। संस्कृति और जीवन मूल्य का वह संबंध होता है जो हमारे शरीर एवं आत्मा का। जीवन मूल्यों के आधार पर हम किसी भी देश की आंतरिक शक्ति एवं सत्ता का अध्ययन मनन करते हैं।

हमारी सांस्कृतिक जीवन मूल्य संहिता में दया, स्नेह, परोपकार, बंधुत्व, धर्म, करुणा, त्याग, अहिंसा, चारित्रिक श्रेष्ठता, सहनशीलता तथा वसुधैव कुटुंबकम आदि तत्व समाहित होते हैं। जिसकी वजह से सांस्कृतिक जीवन मूल्य हमारी संस्कृति के घटक माने जाते हैं। इसी तरह हमारी संस्कृति श्रेष्ठ मूल्यों का संवाहक होती है। भारतीय सांस्कृतिक जीवन मूल्य गीता, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस में पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। किसी भी समाज का साहित्य अपने सांस्कृतिक मूल्यों को लेकर चलता है तथा समाज और उससे जुड़े हुए प्रत्येक प्राणी को मूल्यों के निर्वाह के लिए प्रेरित करता है क्योंकि सांस्कृतिक मूल्य किसी भी समाज और उसमें रहने वालों को अमरत्व प्रदान करते हैं। प्राचीन संस्कृत भाषा के साहित्य में कालिदास, भवभूति, माघ, भारवि, दंडी, जयदेव आदि के साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों का निर्वाह पूर्ण रूप से हुआ है। समय के साथ–साथ संस्कृति और भाषा में भी परिवर्तन हुए। संस्कृत भाषा के स्थान पर हिंदी साहित्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई लेकिन साहित्य सांस्कृतिक मूल्यों को ज्यों का त्यों लेकर चलता रहा है।

हिंदी के प्रसिद्ध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के निबंध 'संस्कृतियों का संगम' में वह लिखते हैं कि 'यह भारतवर्ष महामानव–समुद्र है। केवल आर्य होना, द्रविड़, कोल और मुंडा तथा किरात जातियाँ ही इसमें नहीं आयीं हैं। कितनी ही ऐसी जातियाँ यहाँ आयीं हैं, जिन्हें निश्चित रूप से किसी खास श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फिर उत्तर–पश्चिम से नाना जातियाँ राजनीतिक और आर्थिक कारणों से आती रही हैं। उन सबके सम्मिलित प्रयत्न से वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हो गई है, जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।'[1] सांस्कृतिक मूल्य हमें दिशा निर्देश देते हैं कि हमें किस प्रकार अपने देश की सांस्कृतिक विरासत एवं सभ्यता को बनाए रखना है, क्योंकि संस्कृति पर प्रहार करने का मतलब किसी देश की आंतरिक सुरक्षा पर प्रहार करना है। आज का मनुष्य पाश्चात्य संस्कृति के संपर्क में आकर नैतिक मूल्यों एवं आदर्शवाद से दूर भाग रहा है। इसके लिए उनके भीतर सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न करना अति आवश्यक है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में हमें सांस्कृतिक मूल्यों को लेकर चलने वाली कथाएँ मिलती हैं जो वर्तमान समय में आते–आते कहानी विधा के रूप में प्रचलित हुई। कहानी अपने जन्म से जन सामान्य में लोकप्रिय रही है। कहानी जहाँ सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करती है वहीं दूसरी ओर देश की संस्कृति में दूषित तत्वों को परिष्कृत करने के साथ–साथ सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति देश के नागरिकों को जागरूक करने का कार्य करती है। वर्तमान समय आधुनिकता का समय है लेकिन कहानीकार आज भी अपनी कहानियों में सांस्कृतिक मूल्यों का त्याग नहीं कर सका है।

21वीं शताब्दी की महिला कहानीकारों ने अपनी कहानियों में सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का वर्णन करते हुए संस्कार, परंपरा, अंधविश्वास, रीति–रिवाज, गीत, नृत्य एवं त्यौहार आदि को भी अपनी कहानियों का विषय बनाया है। ममता कालिया ने अपनी कहानी 'इरादा' के माध्यम से समाज में परंपरागत विवाह के उपरांत स्त्रियों की

ससुराल में जो दशा होती है उसका यथार्थ चित्रण किया है। शांति जब अपने मायके आती है तो माँ से खूब बातें करती है। फिर उसे पति की चिट्ठी मिलती है तो वह ससुराल जाने की तैयारी करती है। यह बात माँ को भी पता लग जाती है कि दामाद की चिट्ठी आयी है। माँ शांति से ससुराल जाने के लिए कहती है– 'यह तो उसका बड़प्पन है कि तुझे हर साल भेज देता है नहीं तो मालूम है न तेरी बड़की मौसी की दशा क्या थी ! एक बार शादी हो कर गई तो कभी पीहर की दहलीज पर पाँव नहीं रख सकी। जाने कौन बात से उसके ससुराल वाले नाराज थे, बस कभी भेजा ही नहीं। तेरी नानी आखिर तक उसके लिए कलपती रही, पर वह उनके मरने पर ही आई ! तू शाम ही की गाड़ी से चली जा।'[2]

'पापा का घर' कहानी में दीपा अपनी माता के संस्कारों के बारे में बताती है कि 'मम्मी प्रदीप के बाहर पढ़ने, बाहर जाने, हॉस्टल में रहने के सख्त खिलाफ थीं। जब भी बात उठती विरोध करतीं, नहीं बड़े होकर तो उसे दूर जाना ही होगा तब रोक नहीं पाऊँगी, अभी से क्यों अलग करूँ? घर मनुष्य के साथ जीवनभर रहते है हमेशा लाठी बनकर राह दिखाते हैं, विचलित नहीं होने देते।'[3]

'प्रेम भाई एण्ड पार्टी' कहानी में नरेंद्र की पुत्री के विवाह की बात उसके ससुराल वालों से होती है। परंतु वह तिलक कार्यक्रम में नहीं आते हैं। तभी उन्हें शक होता है कि कहीं वह झूठ तो नहीं बोल रहे हैं फिर वह लोग आकर उन्हें समझाते हुए कहते हैं कि –'रही तिलक की बात सो बेटी के घर का अन्न–जल ग्रहण करना उनके उसूलों के विपरीत पड़ता है। नियम धरम वाले सदाचारी आदमी हैं। अब तुम्हीं देख लो कि इतना बड़ा हौदा और संस्कार मर्यादा के ऐसे पालक।'[4]

भारत में अंधविश्वास नामक एक रोग है जो अधिकतम लोगों में पाया जाता है। यह रोग इतना चर्चित हो गया है कि शिक्षित मनुष्य भी इस रोग से पीड़ित है। मनुष्य अपने भाग्य तथा सारी झंझटों से मुक्त होना चाहता है। मनुष्य की विवेक शून्यता एवं नासमझी के कारण अंधविश्वास अपने पैर पसार रहा है। आज का मनुष्य बहुत जल्दी भयभीत हो जाता है कि कहीं उसके साथ कुछ बुरा ना हो जाए इसलिए अंधविश्वासी जीवन जीता है। नासिरा शर्मा ने अपनी कहानी 'मूँगफली' के माध्यम से समाज में व्याप्त अंधविश्वास का चित्रण प्रमुखता के साथ किया है। इस कहानी में एक मूँगफली वाला मूँगफली बेचने का काम करता है। वहाँ से जब भी एक आदमी गुजरता है तो वह उसकी बेटी को मूँगफली दे देता है। वह रोज–रोज यह कार्य करता है तब उसके पिता को यह बात अच्छी नहीं लगती है। लड़की का पिता मूँगफली वाले से मूँगफली देने के लिए मना करता है तो वह कहता है कि– 'आप हमारे माई बाप हैं.... साहब, बुरा ना माने.....बिटिया के हाथों बोहनी करता हूँ..... जबसे बिटिया रानी इधर से गुजरी है सारा ढेर शाम तक बिक जाता है। इसलिए मना ना करें साहब!'[5]

मैत्रेयी जी की कहानी 'गोमा हँसती है' में किड्डा की शादी गोमा के साथ होती है। वह घर के सारे काम को बड़ी लगन के साथ करती है और अपने ससुर की खूब सेवा करती है। एक दिन किड्डा खाना खाने बैठता है तो सोचता है कि – 'किड्डा हाथ में रोटी का गुस्सा (कौर) पकड़े रह गया। यह वही गोमा है, जो कल तक अपने दूध के दाँत उखाड़कर मसे के छेद में डालती फिरती थी। कैसी चतुराई की बातें करने लगी है। कलबतिया चाची की बात सोलह आना सांची है, गिरिस्ती का वजन आदमी को सालों में तो औरत को महीनों में बढ़ी कर देता है।'[6]

'गोमा हंसती है' कहानी में मैत्रेयी जी ने किड्डा के माध्यम से अंधविश्वास का वर्णन किया है। किड्डा की

शादी गोमा से हो जाती है। काफी दिनों के उपरांत गोमा को बच्चा पैदा होने वाला होता है फिर एक दिन किड्डा कहता है कि– 'कलबति चाची कहती हैं– गोला का बीज और मिसरी की डली खाया कर गोमा शर्तिया बेटा होगा।'[7]

मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी 'रास' कहानी में लड़की का गौना होने पर गीत प्रस्तुत किया है। जैमन्ती की शादी के बाद पहली बार गौना होता है। वहाँ बहुत सी औरतें भीड़ लगाकर देखने के लिए आती हैं। 'गौने की पहली रात....आँगन में औरतें जुड़ आई। वह घूँघट में सकुचाई हुई बैठी थी। ढोलक पर थाप पड़ते ही अजब गति हो जाती है, जैमन्ती की। बस एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा गीत चटाचट गाना आरंभ किया तो सास दौड़ी–दौड़ी आई। सिर पर हाथ रख कर बोली बस–बस नजर लग जाएगी, अब और नहीं।'[8]

मैत्रेयी पुष्पा ने 'राय प्रवीण' कहानी में गाइड के माध्यम से पौराणिक कथा का वर्णन किया है। जो पर्यटकों को घुमाने का काम करता है कोई कथा सुनाते हुए गाइड कहता है कि– 'कंचना ने एक सुंदर कन्या को जन्म दिया। नाम रखा सावित्री। सावित्री हमारे पुराणों में ऐसी सती का नाम है जो पति के प्राणों के लिए मौत के देवता यमराज से लड़ी थी, पतिव्रता स्त्री। पतिव्रता हमारे समाज में बड़ा सम्मान पाती है। देवी की तरह माना जाता है उसे। कंचना वेश्या थी, उसे जीवन भर पतिव्रता होने के सामाजिक सम्मान की ललक बनी रही, बेटी का नाम इसलिए रखा–सावित्री।'[9]

'ततइया' कहानी में दशहरे के मेले के आयोजन का वर्णन किया गया है– 'दशहरे के आगमन से मौसम बदलने लगा था। अंदर बाहर उत्सव जैसा लगता। शन्नो ने हल्दी लगे हाथ के छापे के संग दीवार पर गेरू के कई आकृतियाँ बना तुलसी के आने के चारों तरफ कंगूरा उभार दिया था, घर की दीवारों पर राम–कृष्ण के फोटो के कैलेंडर लगाए थे। युद्धवीर पन्नी की रंग–बिरंगी झालर ले आया था, जो दरवाजे पर पड़ी हवा से थरथराती रहती थी। आज चूँकि चौकी इस मोहल्ले से उठने वाली थी, सो नाली की सफाई में मेहतर कल से जुटे थे।'[10]

नमिता सिंह ने 'रामलीला' कहानी में अतुल के माध्यम से सांस्कृतिक कार्यक्रम का वर्णन किया है। अतुल जब रामलीला में सीता की भूमिका अदा करता है, तब रामलीला की समाप्ति पर उसे पुरस्कार प्राप्त होता है। वह मन में सोचता है कि– 'कितनी मुश्किल से पांडे जी ने उसे वी.आई.पी. पास दिए थे। उनके घर से कोई तैयार नहीं हुआ होगा, आने के लिए। फिर दीपा आती तो कैसे? खैर चलो। आखरी दिन ही सही। राम–रावण वध के बाद भरत मिलाप, थोड़ा बहुत बीच में सांस्कृतिक कार्यक्रम और फिर पारितोषिक वितरण। असल चीज तो यही थी, देखने के लिए।'[11]

नासिरा शर्मा ने 'आया बसंत सखी' कहानी में त्यौहार का सजीव चित्रण किया है। 'आज नौरोज नए साल की शुरुआत पर गली मोहल्ले रंग से भरे ठेलों से भर उठे थे। मिठाई की दुकानों पर लोगों की भीड़ थी। इक्कीस मार्च का यह दिन शियों के लिए धर्म से अलग एक त्यौहार होता है। इस दिन सारे फलों, मिठाई, गुलाब जल पर नजर नयाज होती है। इसलिए हर मौसम का फल, मिठाई से बने खिलौने के रूप में जगह–जगह मिल रहे थे। खरबूजा, खरबूजा की फांकों, अमरूद, सेब, अंगूर, ककड़ी बड़ी कलाकारी से तैयार हुए थे। लड़के–लड़कियाँ रंग से खेलने की तैयारी में थे। रंगों से बाल्टियाँ, पतीले आंगन में भरे रखे थे। रंग चमचमाते कपड़े पहने

सजी–धजी औरतें नई चूड़ियों से भरे हाथ मटकाती ठिठोलियाँ कर रहीं थीं। पतली–पतली गलियों में भी जैसे इंद्रधनुष उतर आया था। बड़े अहाते में जवान लड़कियाँ इमली के पेड़ तले गाने गा रहीं थीं।'[12] गीत, संगीत, नृत्य, आभूषण, वेशभूषा, मेले तथा त्यौहार आदि भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। इन के माध्यम से हमें सांस्कृतिक जीवन मूल्य दिखाई देते हैं। किसी भी समाज के लोगों की संस्कृति को प्रकट करने में यह सहायक सिद्ध होते हैं। इनके माध्यम से एक सभ्य समाज का निर्माण होता है जो एक विशेष अवसर पर प्रस्तुत किए जाते हैं।

वर्तमान समय में भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। युवा पीढ़ी पश्चिम के खुलेपन को भारतीय संस्कृति के संस्कारों की अपेक्षा अधिक महत्व दे रही है परंतु किसी भी देश की अंतरात्मा को जीवित रखना है तो उसकी प्राचीन संस्कृति को संरक्षित रखना अति आवश्यक है। यदि समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हो जाएगा मानो उससे संबंधित समाज का ही अंत हो जाएगा। अतः भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को साहित्य के माध्यम से बचाने के लिए साहित्यकारों को और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। उनमें भी महिला साहित्यकारों को सांस्कृतिक मूल्यों के पक्ष में खड़ा होना परम आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. डॉ० विवेक शंकर : गध साहित्य, पृष्ठ – 76
2. ममता कालिया : इरादा : जाँच अभी जारी है, पृष्ठ – 152
3. मेहरून्निसा परवेज : पापा का घर : अम्मा, पृष्ठ – 80
4. मैत्रेयी पुष्पा : प्रेम भाई एण्ड पार्टी : गोमा हँसती है, पृष्ठ – 69
5. नासिरा शर्मा : उसका बेटा : सबीना के चालीस चोर, पृष्ठ – 114
6. मैत्रेयी पुष्पा : गोमा हँसती है : गोमा हँसती है, पृष्ठ – 180
7. वहीं पृष्ठ – 186
8. मैत्रेयी पुष्पा : रास : गोमा हँसती है, पृष्ठ – 144
9. मैत्रेयी पुष्पा : राय प्रवीण : गोमा हँसती है, पृष्ठ – 37
10. नासिरा शर्मा : ततइया : सबीना के चालीस चोर, पृष्ठ – 63
11. नमिता सिंह : रामलीला : नील गाय की आँखें, पृष्ठ – 71
12. नासिरा शर्मा : आया बसंत सखी : सबीना के चालीस चोर, पृष्ठ – 204–205

कफील अहमद, शोधार्थी
(हिन्दी विभाग), मेरठ कॉलेज, मेरठ (उत्तर प्रदेश)
संपर्क सूत्र 8279500929, kafeelahmad680@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 118-122

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

समाज व संस्कृति का अन्तः सम्बन्ध

कोमल वर्मा

सहायक प्राध्यापक, हिंदी, पंडित नेकीराम शर्मा गवर्नमेंट कॉलेज, रोहतक।

भूमिका :–

साधारणतः हम 'समाज' शब्द का प्रयोग जन समूह के लिए करते हैं। बृहत् हिन्दी कोष में समाज शब्द मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ या समान कार्य करने वाले समूह विशेष की उद्देश्य पूर्ति हेतु जो संगठित संस्था होती है उसके लिए प्रयोग में लिया जाता है। समाज के लिए मनुष्यों के पारम्परिक संबंधों की सत्ता अवश्य होती है। जब कोई बच्चा पैदा होता है तो वह स्वतंत्र पैदा होता है लेकिन संसार में पैर रखते ही उसे यह समाज बन्धनों में जकड़ लेता है और अपनी संस्कृति की दुहाई देकर उस पर बचपन से ही अनेक अनुष्ठान व पूजा–पाठ की प्रक्रिया में शामिल करने या होने की पृवृतियों को डालना शुरू कर देता है। और इन सब क्रियाओं का हिस्सा बनना प्रत्येक के लिए आवश्यक हो जाता है जिसका आरोपित करने वाले सदस्य के साथ सम्बन्ध हो यही कारण रहता है कि समाज को संबंधों का जाल कहा जाता है। सामाजिक संबंधों के बिना समाज की कल्पना करना व्यर्थ है। समाज का वर्तमान स्वरूप एक दीर्घ परम्परा की परिणति के फलस्वरूप हमें प्राप्त हुआ है। आरम्भ में व्यक्ति पशुओं की तरह स्वतंत्र विचरण करता था लेकिन बाद में अपनी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक दूसरे के निकट आने लगा और आपसी सम्बन्ध बनते गये इन्हीं सम्बन्धों की दुहाई देते हुए मानव जाति सामाजिक, धार्मिक, मानसिक, आध्यात्मिक रूप से उस देश की एक नवीन संस्कृति का निर्माण होता चला गया।

समाज : अर्थ :–

व्यक्ति या व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के चलते समाज का निर्माण होता है। समाज में मानव व्यवहार व संबंधों के नियंत्रण की व्यवस्था होती है जो समाज में संगठन व उपेक्षित स्थिरता प्रदान करने की दृष्टि से अत्याधिक महत्व रखती है। प्रत्येक व्यक्ति का समाज से गहरा सम्बन्ध रहता है। मनुष्य को समाज का निर्माता व विकास कर्ता माना गया है। इसलिए जब तक व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित और नियमित नहीं होगा तब तक एक सफल व श्रेष्ठ समाज की कल्पना नहीं कर सकते मनुष्य ने समय–समय पर समाज के नियम–परम्पराओं में परिवर्तन किए हैं। समाज के पुराने नियम जब रूढ़ हो जाते है तो मानव जीवन को गहराई से प्रभावित करते हैं अर्थात् दुर्गम बनाते है तो समय के अनुसार नियमों में परिवर्तन करना अति आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के साथ समाज का विकास होता चला जाता है। और सामाजिक विकास से संस्कृति प्रभावित होती रहती है जिसमें समय के साथ रूढ़ परम्परा लुप्त व नवीन परम्परा का जन्म हो जाता है।

समाज की परिभाषाएं :-

गिडिग्स के अनुसार, 'समाज स्वयं संघ है वह एक संगठन और व्यवहारों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले एक–दूसरे से सम्बंधित होते हैं।"[1]

सत्य केतु विद्यालंकार, 'मनुष्यों के जीवन में एक–दूसरे के साथ संबंधों का जाल–सा बिछा हुआ है, समाज शास्त्र में उसी को समाज कहा जाता है।'[2]

अज्ञेय के अनुसार, 'समाज से अभिप्रायः है वह परिवृत्ति जिसके साथ व्यक्ति किसी प्रकार का अपनापन महसूस करें वह मानव समाज का एक अंश हो सकती है और मानव समाज की परिधि से बाहर पशु–पक्षियों को भी घेर सकती है बल्कि (चरमावस्था) मानव समाज को छोड़कर पशु–पक्षियों और पेड़ पत्तों तक ही रह सकती है। समाज की इयत्ता अन्ततोगत्वा समाजत्व की भावना पर आश्रित है।"[3]

डॉ. सम्पूर्णानन्द का मत, 'जिसमें लोग मिलकर एक साथ एक गति से एक से चले वही समाज है। एक साथ या एक से चलने का अर्थ फौजी सिपाहियों की भाँति किसी एक दिशा में कदम मिलाकर चलना नहीं है। तात्पर्य तो यह है कि लोगों की उन लोगों की जो समाज के अंग हो, परिस्थिति एक जैसी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक जैसे हो।"[4]

राबर्ट ब्रिफोल्ट का कथन, "समाज का अर्थ–भाईचारा। एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए काम करने वाले एक भाव से परिचित व्यक्तियों की बिना किसी प्रकार के दबाव के अपनी इच्छा से संचालित संस्था जिसके सभी सदस्य सबके हित के प्रयत्न की सफलता के इच्छुक है।'[5]

एडमस्मिथ का मत, ''समाज पारिवारिक मितव्यापिता की कृत्रिम विधि है।"[6]

संस्कृति अर्थ एवं परिभाषा :-

आधुनिक युग में संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ संस्कृत की (डु) कृ (त्) धातु से बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। आज की हिन्दी में यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का पर्याय माना जाता है। संस्कृति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है, एक व्यापक और दूसरा संकीर्ण अर्थ में। व्यापक अर्थ में उस शब्द का प्रयोग नर विज्ञान में किया जाता है। उक्त विज्ञान के अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहार का नाम है जो सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है 'इस अर्थ में संस्कृति को 'सामाजिक प्रथा' (कस्टम) का भी पर्याय कहा जा सकता है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाध्य व्यक्ति समझा जा सकता है।

इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है, जो व्यक्ति को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं।'[7] 'वाज्सनेयि संहिता, 'ऐतरेय ब्राह्मण, 'ताण्ड्य महाब्राह्मण', 'ऐतरेय आरण्यक', 'छान्दोग्योपनिषद्', 'प्रबन्ध प्रकाश आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में यह प्रयुक्त हुआ है। श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती के अनुसार – 'संस्कृति' शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक धातु से भूषण अर्थ में 'सुट' का आगम करने पर बना है जिसका अर्थ है, भूषण भूत सम्पक् कृति या चेष्टा। अतः जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति प्राप्त करता है उन्हें ही संस्कृति कहा जा सकता है अथवा मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचारों को संस्कृति कहा जा सकता है।"[8]

गोविन्द चातक ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है, 'संस्कृति का उद्भव ही जीवन संघर्ष और

समायोजन के बीच हुआ है इसलिए वह कोई पहले से तैयार माल की तरह नहीं, बल्कि जीवन जीने की स्थिति में भोगे हुए उन विषद अनुभवों की संरचना है जो उसे त्याग, परोपकार और सुरक्षा की भावना के साथ प्राप्त हुए हैं।"[9]

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के अनुसार, 'हमारे रहन–सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था होती है, जो मानसिक प्रकृति है, जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है वही संस्कृति है।"[10]

टाडलर के अनुसार, "संस्कृति वह मिश्रित एवं पूर्ण व्यवस्था है जिसके अंतर्गत दे सभी ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता के सिद्धान्त, विधि–विधान, प्रथाएँ तथा अन्य क्षमताएँ आती हैं, जिन्हें व्यक्ति समाज के सदस्य के नाते समाज से प्राप्त करता है।"[11] इस परिभाषा में टाडलर ने संस्कृति को सामाजिक विरासत माना है जो कि समाज द्वारा व्यक्ति को प्राप्त होती है।

'संस्कृति' शब्द बहुत व्यापक है यह मानव की चिर–साधना, चिर–तपस्या और संयमशीलता की महती देन है। इसी कारण इसका प्रभाव धर्म एवं साहित्य दोनों पर पड़ा है। स्थूल रूप से यह भी कहा जा सकता है कि 'संस्कृति' परिष्कृत विचारधाराओं का वह समन्वय है, जिसमें आदर्श और उत्थान का मूल मंत्र विद्यमान रहता है। संस्कृति और समाज का बड़ा गहरा संबंध है। जब किसी देश का समाज विकृत हो जाता है, राजनीतिक परिस्थितियाँ भ्रष्ट हो जाती है। आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियाँ बिगड़ जाती हैं, तब उस देश की संस्कृति का स्वतः ह्रास हो जाता है। जनता की विचारधारा और बाह्य परिस्थितियों का संस्कृति के स्वरूप पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। संस्कृति का निर्माण और ह्रास वर्षों में होता है। जनता की विचारधारा और बाह्य परिस्थितियों का संस्कृति के स्वरूप पर गम्भीर प्रभाव पड़ने के साथ–साथ इसके स्वरूप को प्रभावित करते हैं। संस्कृति से ही जन–जीवन के संस्कारों का निर्माण और परिष्कार होता है। इतना ही नहीं, संस्कृति को चेतना का उज्ज्वल वरदान भी कहा गया है।

समाज और संस्कृति का अन्तःसंबंध :–

समाज एवं संस्कृति परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं, क्योंकि संस्कृति का सीधा संबंध मानव व्यवहार तथा आचार–विचार की उदात्तता से है और समाज का संबंध मानव–समुच्चय से है। मनुष्य अपने आचार–विचार की अभिव्यक्ति समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर ही करता है। समाज एवं संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। जिस समाज में जाति–पाति, अंधविश्वास, दरिद्रता एवं कुप्रभावों की बहुलता हो तो उस समाज के जीवन में महान् मूल्यों की परिकल्पना संभव नहीं है। संस्कृति का लक्ष्य इस सामाजिक विष को बहिर्गम न कर आदर्श जीवन मूल्यों की स्थापना करना है। अतः जो समाज जितना उन्नत व समृद्ध होगा उसकी संस्कृति उतनी ही उन्नत होगी। समाज में वेशभूषा अन्ततः संस्कृति के ही अंग है। ये सब वस्तुएँ संस्कृति को बहुत प्रभावित करती है। 'यही कारण है कि नंगे सिर की अपेक्षा सिर ढकना अधिक संस्कृतिमय समझा जाता है।"[12]

समाज सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण करता है। आदर्श व्यक्ति के निर्माण से आदर्श समाज का निर्माण होता है, आदर्श व्यक्ति का निर्माण करने से संस्कृति अति सहायक होती है। संस्कृति मानव को सत्–असत् का ज्ञान कराकर समाज में जीना सिखाती है। यही कारण है कि कबीर, तुलसी, नानक एवं गाँधी आदि जहाँ एक ओर समाज सुधारक है वही दूसरी ओर हमारी संस्कृति के उन्नायक भी हैं। ऐसे महापुरूषों के पुरुषार्थ ने अनेक

सामाजिक बुराईयों को निकाल मानव व्यवहार को उच्चता प्रदान की। यहाँ समाज का संस्कृति से घनिष्ठ संबंध में श्री शम्भूरतन त्रिपाठी ने स्पष्ट किया है– 'संगठन और सहयोग का नाम ही समाज है। यदि समाज न होता तो मनुष्य ने प्राकृतिक अवरोधों के समक्ष घुटने टेक दिए होते, उसका अस्तित्व स्वयं लोप हुआ होता, फिर संस्कृति का जन्म ही न हुआ होता।"[13]

भौतिक एवं भौगोलिक परिवेश की भिन्नता के कारण समाज में भी भिन्नता रहती है। जहाँ जैसा सामाजिक परिवेश होता है वहाँ वैसी ही संस्कृति का प्रतिस्थापन होता है। मानव–समाज के सब संस्कार जो लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं, उसके सर्वांगीण जीवन का निर्माण भी करते हैं जिसे उसकी संस्कृति कह सकते हैं। संस्कृति ही समाज को सभ्य एवं शिष्ट बनाती है। संस्कृति अगर उच्च कोटि की नहीं तो वह समाज सुसभ्य नहीं बन सकता समाज संस्कृति को अपने अंग में समाये रखता है जिससे संस्कृति धीरे–धीरे विकसित होती है। समाज के नये मूल्य भी प्राचीन मूल्यों पर आधारित होते हैं। यही प्राचीन मूल्य संस्कृति के रूप में नवरूप धारण कर आते रहते हैं।

इस दृष्टि से संस्कृति और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति समाज के पंचभूत (शरीर) की चैतन्य शक्ति (आत्मा) है, जिस कारण समाज निरंतर विकासशील रहता है।

किसी देश की सामाजिक, धार्मिक, मानसिक, आध्यात्मिक विभूति उस देश की संस्कृति कहलाती है। समय के अनुसार उसके बाहरी रूप में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसके आन्तरिक तत्त्व मूल रूप में बने रहते हैं। इसलिए संस्कृति एक ऐसी जटिल संरचना है, जिसमें समाज की रीति–नीति, कला, विज्ञान, ज्ञान, विश्वास अर्जित योग्यताओं के साथ–साथ निजी प्रवृत्ति व विचार भी समाहित रहते हैं। संस्कृति के स्वरूप तथा विकास पर विद्वानों ने अपने पृथक–पृथक विचार प्रकट किये हैं। एक विद्वान के अनुसार संस्कृति का लक्ष्य मनुष्यों को संसार भर की सर्वोत्तम कही तथा जानी गई बातों से परिचित कराना है। अतः मन, आचार और रूचियों की परिशुद्धि संस्कृति है। यह कहना कठिन है कि संस्कृति से संबंधित कोई एक प्रक्रिया है या उसकी विचारधाराओं का संतुलन है। संस्कृति का तात्पर्य मानव मन को, हृदय को तथा उसकी वृत्तियों का संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना है।

मानव मन का यह परिष्कार ही संस्कृति है। मानव का विकास–क्रम यही बताता है कि किस प्रकार कला, संगीत, नीति आदि के माध्यम से मानव पाषाण युग, लोह युग, धातु युग, और कृषि युग में विचरण करता हुआ विज्ञान युग में पहुँचा। संस्कृति प्रकृति पर मानव की विजय यात्रा ही तो है और फिर किसी भी समाज की संस्कृति उसके व्यक्तियों की रचनात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति ही होती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है संस्कृति व्यक्ति के अंदर के विकास।"[14]

संस्कृति का रूप स्थायी होता है तथा उसकी जड़ें व्यक्ति के जीवन और समाज में गहराई में समाहित होती है। चूंकि संस्कृति की रचना एवं विकास में दीर्घकाल का अनुभव होता है अतः यह हमारे जीवन में ज्ञान, विश्वास, कला, मूल्यों प्रथाओं, आदतों, आदर्शों तथा सिद्धान्तों के रूप में समाविष्ट हो जाते हैं। संस्कृति के रूप पर विचार प्रकट करते हुए डॉ. जी. सी. पाण्डेय लिखते हैं कि– मूलतः संस्कृति जीवन की ओर एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। अनुभव के मूल्यांकन और व्याख्या का एक विशिष्ट और मूलभूत प्रकार है विचार, भावना और

आचरण के विभिन्न प्रस्तरों में संस्कृति की सिद्धि है। इस दृष्टि स्वरूपा संस्कृति की सिद्धि के बाह्य विस्तार निरन्तर बदलते रहते हैं किन्तु उनकी प्रभावात्मक दृष्टि और प्रेरणा से अनुस्यूत, वृहत्तर और गम्भीरतर सत्ता के रूप में बनी रहती है और किसी भी समाज के जीवन में चेतना का यह गहरा और अदृष्ट अनुबन्ध ही संस्कृति का सार है।'[15]

संस्कृति मानव की अंतश्चेतना में समाहित रहती है, जो शक्ति प्रदान कर प्रगति पथ की ओर अग्रसित करती है। यह प्रगति सर्जनात्मक होती है सभ्यता संस्कृति का बाह्यवरण होती है और संस्कृति के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। सभ्यता मानव के विकास का प्रथम सोपान है, जबकि संस्कृति दूसरा सोपान।

श्री जयेन्द्र राय सभ्यता एवं संस्कृति दोनों स्वरूपों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, 'संस्कृति के लिए कभी–कभी सभ्यता शब्द का प्रयोग होता है दोनों में भेद यह है कि संस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को संस्कारित करती है और सभ्यता से केवल बाह्यचार लक्षित होता है। संस्कृति जीवन व्यापिनी चेतना है, सभ्यता शरीर पर धारण किए हुए आभूषण।"[16]

संस्कृति किसी वर्ग विशेष की सम्पदा नहीं, वस्तु यह सम्पूर्ण समाज के लिए है। संस्कृति किसी एक युग की कृति नहीं, यह तो निरंतर विकास है जो मानव संततियाँ करती रहती है। संस्कृति अपने शाश्वत्रूप में सार्वभौमिक एवं क्षेत्रीय आधार पर बाह्य अन्तर वाली होती है। 'जब हम किसी देश–प्रदेश अर्थात् प्रांत की संस्कृति की चर्चा करते हैं तो हमारा उद्देश्य उस प्रदेश के विकसित आचार–व्यवहार, रीति–रिवाज, पर्व–उत्सव, कला–कौशल, ज्ञान–विज्ञान एवं पूजा आदि विधि–विधानों का ही अनुक्रम उल्लेख करते है। संस्कार, एक व्यक्ति एवं समग्र समाज का भी विकसित एवं संस्कृत जीवन इन्हीं रूपों में प्रकट होता है।"[17]

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. Society is the union itself, the organisation, the sum of social relations, in which associating individual are found to gether. Gidding, page 40
2. सत्यकेतु विद्यालंकार, समाज शास्त्र, 36
3. अज्ञेय, सर्जना और सन्दर्भ, पृ. 17
4. डॉ. सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृ० 19
5. वहीं, पृ. 19
6. वहीं, पृ. 19
7. प्र. सं. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोष भाग–1, पृ. 712
8. डॉ. जितेंद्र नाथ पांडे, तुलसी काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० संख्या 17
9. गोविंद चातक, संस्कृति : समस्या और संभावना, पृ. 221
10. प्रसाद पांडे भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 23
11. एम. पी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन, पृष्ठ 2
12. गुलाबराय, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ 50
13. शंभूरतन त्रिपाठी, भारतीय समाज और संस्कृति की–भूमिका, पृष्ठ 2
14. आचार्य हजारी प्रसाद, विचार और वितर्क, पृ. 181
15. एम.पी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला एवं दर्शन, पृष्ठ 3
16. लेखचंयेन्द्र राय, कल्याण : हिंदू संस्कृति अंक, संस्कृति की मीमांसा, पृष्ठ 396
17. डॉ. मुंशीराम शर्मा, वैदिक संस्कृति और सभ्यता, पृष्ठ 2

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 123-127

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति के स्वरूप

कोमल

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।

शोध पत्र सार :–

प्रत्येक मनुष्य की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी भी कहा जाता है और स्वभावतः वह सामाजिक उन्नति पाने के लिए चेष्टा (प्रयत्न) भी करता है। अपने इन्हीं प्रयत्नों से वह खुद को, अपने परिवार तथा अपने देश को कल्याण के मार्ग पर ले जाने का भरसक प्रयास करता है। जबसे इस संसार में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है तब से वह अपने विचारों, अपने कार्यों द्वारा संस्कृति के विकास में अपना योगदान देता रहा है। हमारे संस्कारों से ही हमारी संस्कृति की पहचान होती हैं। संस्कृति ही वह आधार है जिसके द्वारा मनुष्य को संस्कार मिलते है और वह एक अच्छा इंसान बनता है। इंसान के अंदर इंसानियत होना बहुत अहम् बात होती है और इस इंसानियत को पोषित हमारे संस्कार करते हैं जो हमारी संस्कृति पर ही आश्रित होते हैं। जिस प्रकार बिना आत्मा के हमारे शरीर का कोई महत्त्व नहीं होता, ठीक उसी प्रकार बिना संस्कृति के हमारे समाज का कोई महत्त्व नहीं क्योंकि समाज के लिए संस्कृति उसकी आत्मा है। बिना संस्कृति के समाज के सृजन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ (डु) कृ (ञ) – करणे धातु से क्तिन् प्रत्यय और 'सम्पर्युपेभ्यः करोतीभूषणे' 'समवाये च' नियम से सुडागम करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ – संस्कार, शुद्धता या परिष्कृत करना होता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से कल्चर Cult धातु में ure प्रत्यय लगने से निष्पन्न होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा की कोलर (Colers) से निष्पन्न कुलटुरा (Culture) शब्द से हुई है। जो संक्षेप में पूजा करने तथा कृषि कार्य का द्योतक है।

'संस्कृति' शब्द का अर्थ 'सुरुचि' या 'परिष्कृति' भी मान लिया जाता है। संस्कृति का अर्थ सामूहिक जीवन की उत्कृष्ट उपलब्धियाँ भी माना गया है जैसे – कला, संगीत, साहित्य, दर्शन आदि।

संस्कृति के अर्थ को अधिक विस्तार से जानने के लिए विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को समझना अत्यंत आवश्यक है – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''मैं संस्कृति को किसी जाति विशेष या देश–विदेश की मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है।''

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार, ''संस्कृति वह वस्तु है जो स्वभाव, माधुर्य, मानसिक निरोगता एवं आत्मिक

शक्ति को जन्म देती है।''

बाबू गुलाबराय के अनुसार, ''संस्कृति हमारी प्रकृति की गोद में पली हुई आध्यात्मिक संस्कृति है। सब में एक ही आत्मा का दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और सबके लिए 'सर्व भवन्तु सुखिनः सर्व सन्तु निरामयाः' की सद्भावना की गई है।''

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा के अनुसार, ''संस्कृति का संबंध व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन को रचनात्मक दृश्टि या गति प्रदान करने वाले जीवन मूल्यों से है।''

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, ''संस्कृति और प्रकृति परस्पर सापेक्ष शब्द है। प्रकृति अतिशय अथवा श्रेष्ठता का आधार ही संस्कार या संस्कृति है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि संस्कृति का सीधा संबंध प्रकृति से है। मनुष्य बहुत सी क्रियाएँ अपने वातावरण के अनुरूप ही करता हैं जो हमारी संस्कृति के अन्तर्गत ही आती है। मनुष्य को जिज्ञासु प्राणी के साथ–साथ प्रकृति प्रेमी भी माना जाता है क्योंकि उसका पूरा जीवन ही प्रकृति से जुड़ा हुआ होता है। इससे अलग मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

संस्कृति का स्वरूप विस्तृत है। संस्कृति और समाज का बहुत गहरा सम्बन्ध है। ये दोनों एक–दूसरे पर अवलंबित है। समाज को ही संस्कृति का जन्मदाता माना जाता है। संस्कृति का जन्म समाज में ही होता है और यहीं इसका पोषण होता है। यह किसी भी समाज के लिए रीढ़ की हड्डी का काम करती है। जैसे मनुष्य शरीर के लिए रीढ़ की हड्डी बहुत आवश्यक होती है, ठीक वैसे ही समाज के लिए संस्कृति भी आवश्यक है। इसीलिए सामाजिक वातावरण में उसका एक विशेष स्थान होता है। जब कोई लेखक किसी कृति की रचना करता है तो वह अपने परिवेश में रहकर ही करता है। उसकी रचना में उसके परिवेश की झलक साफ दिखाई देती है। वह समाज से दूर रहकर किसी भी कृति की रचना नहीं कर सकता।

इस प्रकार हम कह सकते है कि संस्कृति मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी है जिसको नकारा नहीं जा सकता। डॉ० नगेन्द्र ने संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''संस्कृति का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म एवं जटिल है। सामान्य अर्थ में संस्कृत अवस्था का नाम ही संस्कृति है अर्थात् संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है, जहाँ उसके प्राकृत राग–द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है। यह परिमार्जन, यह संस्कार, उसे अपनी स्वभावगत इच्छा–आकांक्षाओं, प्रवृत्ति–निवृत्तियों के उचित सामंजस्य द्वारा करना पड़ता है। ... संस्कृति के बहिरंग तत्त्व हैं – आचार–विचार, विश्वास, परम्पराएँ, शिल्प–कौशल और माध्यम है – कला, साहित्य आदि।'' इस तरह हम संस्कृति को किसी जाति, समाज की अन्तरात्मा कह सकते है।

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति का संपूर्ण विश्व में आदर्श रूप रहा है। भारतीय संस्कृति से तो पाश्चात्य विद्वान भी प्रभावित हुए है और उन्होंने खुलकर इसकी प्रशंसा भी है। जर्मन विचारक लुइजे रिंजर ने कहा है, ''गीता जैसा सुंदर ग्रंथ उसने अपने जीवन में देखा नहीं। इसकी दार्शनिक गहनता अद्वितीय है। गौतम बुद्ध की शिक्षाएँ तथा योग सिद्धांत किसी भी व्यक्ति के जीवन की धारा को मोड़ सकते हैं। युंग के अंतर मनोविज्ञान का अध्ययन करते समय कई समाधान समाधि में मिलें। भारतीय अध्यात्म की विशिष्टता है शरीर आत्मा और बुद्धि का एकीकरण। इसे ही आज का पश्चिमी जगत् पाना चाहता है।'' बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जिस

प्राचीन संस्कृति से पाश्चात्य विद्वानों को भी लगाव हो गया था, आज उस संस्कृति की छवि धूमिल हो गई अर्थात् वह संस्कृति अब दिखाई नहीं देती। अगर हम किसी भी परिवार, समाज तथा देश की श्रेष्ठता की बात करें तो यह सब हमारे सांस्कृतिक मूल्यों में ही छिपे अर्थात् निहित मिलते हैं। विदेशी शासन के कुप्रभाव ने हमारी संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है। वर्तमान समय में मनुष्य न तो प्राचीन संस्कृति के उन दुष्प्रभावों से खुद को बचा पाया है और न ही पाश्चात्य संस्कृति को पूरी तरह से अपना पाया है। इस मिश्रित संस्कृति के परिणामस्वरूप समाज में एक द्वन्द्व देखने को मिलता है। प्राचीन समय के लोग अपनी पुरानी परम्पराओं को छोड़ना नहीं चाहते और नई पीढ़ी के लोग उन परम्पराओं से जुड़ना नहीं चाहते।

स्वतंत्रता के पश्चात् अपनी सांस्कृतिक चेतना के प्रति गहरा लगाव भारत के लोगों में देखने को मिला था। लेकिन देश विभाजन के समय हुई अकारण हत्याओं ने हमारे देश के नैतिक जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया। जब समाज में ऐसी परिस्थितियाँ थी कि प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु एक–दूसरे को मार डालना चाहते थे। ऐसी परिस्थितियों में सांस्कृतिक परिवेश का प्रभावित होना तो लाजमी था। फलस्वरूप विभाजन से उत्पन्न होने वाली विषमता ने हमारे नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों को बड़ी तेजी से विघटित किया। विभाजन की इस अग्नि में हमारी आस्था, हमारे आदर्श को बहुत ठेस पहुँची है।

राजेन्द्र यादव ने ऐसी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है, ''पाकिस्तान में अगर ईंट चूने के मकान–जमीनों का ध्वंस हुआ तो इधर सारी मर्यादाओं, नैतिक मान्यताओं, अच्छे–बुरे की इमारतें गिरने लगीं।'' स्वतंत्रता के बाद नये भारत की उत्पत्ति हुई जिसमें मूल्य भारतीय से प्रभावित न होकर पाश्चात्य से प्रभावित थे। आधुनिक समय में युवा पीढ़ी बेरोजगारी और भ्रष्टाचारी से दुःखी है। हर क्षेत्र में भ्रष्टाचारी ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है। इसका हमारी संस्कृति पर बुरा प्रभाव देखने को मिलता है। युवा वर्ग अपनी प्राचीन संस्कृति को आज के परिवेश के लिए उपयुक्त नहीं मानते हैं जिससे हमारे सांस्कृतिक मूल्य बिखरते हुए नजर आते है। जीवन जीने के प्रति उनका दृष्टिकोण पूरी तरह से बदल गया है। आज के समय में विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली है और इसी उन्नति ने मनुष्य की सोचने–समझने की क्षमता बहुत क्षीण कर दिया है। उसका दृष्टिकोण भौतिकवादी हो गया है अब उसे यह लगता है कि उसकी भौतिक समस्याओं का समाधान ईश्वर न करके केवल विज्ञान ही कर सकता है। विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य की भावना को धीरे–धीरे समाप्त कर दिया है।

हमारी संस्कृति में संगीत तथा नृत्यकला को बहुत महत्त्व दिया जाता है। स्वतंत्रता के बाद लोगों की रुचि संगीत तथा नृत्य के क्षेत्र में बढ़ने लगी थी। नृत्यकला में भरतनाट्यम, कथक नृत्य को एक विशेष स्थान मिला। उन दिनों भारतीय लोगों की रुचि इन नृत्यों में बढ़ने लगी थी। कुछ अभिनेत्रियों तथा कुछ अन्य लोगों ने भरतनाट्यम को जन–जन तक पहुँचाने का भरसक प्रयास किया और उनका यह प्रयास सफल भी हुआ। संगीत के क्षेत्र में मोहम्मद रफी, लता मंगेशकर, आशा भोंसले ने अपनी एक अलग पहचान बनाई। वाद्यक्षेत्र में बिस्मिल्ला खाँ की शहनाई ने जनता के हृदय में अपनी एक अलग ही पहचान बना ली। रविशंकर जी ने अपनी सितार के दम पर लोकप्रियता हासिल की। यह सब हमारी संस्कृति के ही प्रतिरूप हैं। इन महानुभवियों द्वारा ही हमारी संस्कृति को एक नई पहचान मिलती है।

वर्तमान समय में मनुष्य अपनी संस्कृति को भी भूलता जा रहा है। आज मनुष्य अपनी संस्कृति को भूलाकर पाश्चात्य संस्कृति से अपने आपको आधुनिक बनाने की सोच रखता है। वैसे तो सब कहते है कि हमारी

राष्ट्रीय भाषा हिंदी को बढ़ावा मिलना चाहिए, हमें हिंदी में ही अपने सारे कामकाज करने चाहिए। लेकिन वे कहते कुछ है और करते कुछ है। प्रत्येक व्यक्ति की यह कोशिश रहती है कि उन्हें अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान हो, अंग्रेजी भाषा पर हमारी पकड़ ज्यादा मजबूत हो जाए।

अगर वे हिंदी भाषा का प्रयोग करते है तो उन्हें लगता है कि सब उन्हें हीन दृष्टि से देखते है। लेकिन वास्तविकता कुछ ओर ही होती है क्योंकि हमें किसी अन्य व्यक्ति की मानसिकता का कुछ पता नहीं होता। हमारे स्वयं के विचार ही हीन होते है जो हमें ये सब सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं। आज हर व्यक्ति की सोच यह हो गई है कि उनका बच्चा अंग्रेजी स्कूल में अंग्रेजी माध्यम से ही शिक्षा प्राप्त करें और हिंदी के स्थान फर्राटेदार अंग्रेजी बोले। उन्होंने अपनी मानसिकता ऐसी बना ली है कि उन्हें लगता है हमारे बच्चों का विकास इसी भाषा के द्वारा ही होगा। आज हम अपने स्कूल, विद्यालयों से लेकर सरकारी कार्यालयों तक देखते हैं तो हमें महसूस होता है कि अंग्रेजी भाषा ने बहुत दूर–दूर तक अपने पैर पसार लिए हैं।

आज के समय में अगर हम परिवार की बात करें तो स्थिति बद से बदतर देखने को मिलती है। पारिवारिक सम्बन्धों में अब पहले जैसे प्रेम, त्याग की भावना देखने को नहीं मिलती है। भाई–बहन के सम्बन्धों में ही निरंतर प्रेम का अभाव ही देखने को मिलता है। सबसे अधिक परिवर्तन तो पति–पत्नी के सम्बन्धों में देखने को मिलता है। दाम्पत्य जीवन में दोनों का साथ रहना मुश्किल होता जा रहा है। जहाँ पहले संयुक्त परिवार को बहुत महत्त्व दिया जाता था, आज उनका स्थान एकल परिवार ने ले लिया है। आज की युवा पीढ़ी को अपने माता–पिता बोझ लगने लगते है जिसके कारण संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं। परस्पर एकता की भावना खत्म होती जा रही है। आज के समय में भाई–भाई का दुश्मन हो गया है। प्रेम के स्थान पर सिर्फ स्पर्धा, द्वेष देखने को मिलता है।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ :–

भारत में भिन्न–भिन्न धर्म, जाति के लोग रहते हैं जिनकी वेशभूषा, रहन–सहन अलग–अलग हैं। इन सबके कारण हम ऐसा महसूस करते है कि हमारी संस्कृति में एकता का निरंतर अभाव है। लेकिन अगर हम बड़े ध्यान से इस विषय को समझने की कोशिश करें तो हमें पता चलेगा कि हमारी संस्कृति अनेकता में एकता बनाए हुए है। वैदिक काल में संस्कृत भाषा के महत्त्व का पता चलता है। भारत में जितनी भी भाषाएँ है, संस्कृत को उनकी जननी माना जाता है। माँ का कर्त्तव्य होता है अपने प्रत्येक बच्चों को बराबर प्रेम देना। इसी प्रकार संस्कृत भाषा में सभी भाषाएँ सम्मिलित होती हैं।

निष्कर्ष :–

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि हमारी संस्कृति में हिंसा एवं अपराध जैसी दुष्प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से वर्तमान समय में हमारे समाज में अपराध, यौन उत्पीड़न जैसी समस्याएँ उभर कर आई है। आज हर एक समाचार पत्रों में चोरी, डकैती, बलात्कार, घरेलू हिंसा आदि की खबर देखने को मिलती है। हमारी संस्कृति में हमेशा से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात होती रही है और यह हमारी संस्कृति की विशेषता के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि हमारे यहाँ विश्व बन्धुत्व की भावना सर्वोपरि रही है लेकिन जैसे–जैसे समय बदला, वैसे–वैसे हमारी संस्कृति का रूप भी बदलने लगा।

संदर्भ सूची :-

1. अंजू दुबे, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक मूल्यांकन, पृ० 1
2. डॉ० कृष्णा अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 18
3. डॉ० ज्ञानवती अरोरा, समकालीन हिन्दी कहानी : यथार्थ के विविध आयाम, पृ० 69
4. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ० 77
5. श्री माखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० 619
6. बाबू गुलाबराय, भारतीय संस्कृति, पृ० 28
7. डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा, साहित्य चिंतन के नए आयाम, पृ० 113
8. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, संस्कृति और साहित्य, पृ० 1
9. डॉ० नगेन्द्र, साहित्य का समाजशास्त्र, पृ० 8
10. अशोक कुमार यादव, कहानीकार महीप सिंह : मानवीय संबंधों की सचेतन दृष्टि, पृ० 70
11. राजेन्द्र यादव, कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० 37

मो० – 9671617125, ईमेल : parmarkomal027@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 128-132

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

समाज, संस्कृति : अवधारणा एवं स्वरूप

कमलेश

शोधार्थी, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।

भूमिका :–

समाज और संस्कृति का आपसी संबंध परस्पर गहरा है क्योंकि दोनों का एक–दूसरे के बिना वजूद अधुरा है। ये दोनों ही मनुष्य के व्यवहार एवं आचार–विचार से प्रभावित रहते है। मानव जाति इन दोनों के केन्द्र में रहती है। मनुष्य अपने भावों की अभिव्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के समकक्ष व्यक्त करता है तो दूसरे की भावना उसके भाव अभिव्यक्ति के साथ जुड़ जाती है। वे भाव अभिव्यक्ति के साथ एक दूसरे के सुख–दुःख को भी महसूस करते है इससे उनमें सामाजिकता के विकास भाव बढ़ते है। समाज का विकास संस्कृति के विकास का सबसे प्रमुख कारण रहा है क्योंकि हमारी संस्कृति को बढ़ावा देने के उत्तरदायी कारक समाज में ही पनपते है। जो समाज जाति–पाति एवं भेदभाव पूर्ण मानसिकता से ग्रस्त है वहाँ स्वस्थ संस्कृति की परिकल्पना करना व्यर्थ है। और इसी के विपरीत जो समाज मानवीय मूल्यों को धारण कर संस्कृति को विकसित करता है, वो अपने समाज व समाज में रहने वाले प्रत्येक प्राणी के लिए लाभप्रद होता है। संस्कृति का मुख्य उद्देश्य समाज में विद्यमान विकारों का विवेचन कर उसे स्वस्थ प्रारूप प्रदान करना है।

समाज संस्कृति के मूल्यों का निर्माता होता है। समाज में जितने भी महान सुधारक एवं विचारक हुए है। उन्होंने मनुष्य के उतम व्यवहार पर बल दिया हैं। अगर समाज में रहने वाला व्यक्ति संस्कृति का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ेगा तो उसका व समाज दोनों का कल्याण होगा।

समाज :–

समाज शब्द अपने आप में बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है। सामान्य व्यक्ति से लेकर विद्वान सभी समाज शब्द को अपने अनुभवों के साथ परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। समाज मनुष्यों का वह संगठित समूह होता है, जिसमें विभिन्न आचार–विचारों के व्यक्ति परस्पर एक साथ रहते है। यहाँ सभी एक–दूसरे के व्यक्तित्व से परिचित होते हैं और एक दूसरे की सहायता के साथ अपनी जीवन लीला का खेल सम्पन्न करते हैं कोई भी व्यक्ति बिना समाज या एक दूसरे की आवश्यकता अनुभव किए बगैर अपने जीवन को व्यवस्थित रूप से नहीं जी पाता क्योंकि समाज ही हमें एक दूसरे के साथ या सहयोग की जरूरत महसूस करवाता है। जहाँ सभी एक दूसरे के सहयोग के लिए प्रस्तुत हो वही समाज का सच्चा स्वरूप होता है। केवल व्यक्तियों के समूह को समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती उसमें उनकी संवेदनाएं, उनकी संस्कृति व उनका वैचारिक दृष्टिकोण भी शामिल रहता है। समाज के उत्थान व विकास में मानव जाति का सबसे ज्यादा महत्व रहता है। समाज मनुष्य को

अनुशासित करता है। एवं स्वस्थ जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है।

समाज का अर्थ व परिभाषा :-

समाज में मानव की संस्कृति उनका वैचारिक दृष्टिकोण भी शामिल रहता है। समाज के उत्थान व विकास में मानव जाति का सबसे ज्यादा महत्व रहता है। समाज मनुष्य को अनुशासित करता है। समाज शब्द दिखने में जितना छोटा है इसका अर्थ उतना ही गहरा और विस्तृत है।

डॉ० कुंवरपाल सिंह का मत – "समाज की परिभाषा एक ऐसे संगठन के रूप में की जा सकती है जो निरन्तर विकसित होती रहती है जिसके प्रमुख क्रियाकलाप किसी दैवी शक्ति पर नहीं बल्कि उत्पादन प्रणाली के विकास पर आधारित होते हैं।"[1]

सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, "मनुष्यों के जीवन में एक–दूसरे के साथ संबन्धों का जाल सा बिछा हुआ है, समाज शास्त्र में उसी को समाज कहते हैं।"[2]

राबर्ट ब्रिफोल्ट के अनुसार, "समाज का अर्थ है– भाईचारा। एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए काम करने वाले, एक भाव से परिचित व्यक्तियों की, बिना किसी प्रकार के दबाव के अपनी इच्छा से संचालित संस्था जिसके सभी सदस्य सबके हित के प्रयत्न की सफलता के इच्छुक है।"[3]

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "सामान्य रूप से समाज से अभिप्राय सामुदायिक जीवन की ऐसी अनवरत एवं नियामक व्यवस्था से है, जिसका निर्माण व्यक्ति पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के निमित जाने अनजाने कर लेते हैं।"[4]

गिडिग्स के अनुसार –समाज स्वयं संघ है। वह एक संगठन और व्यवहारों का योग है, जिसमें सहयोगी व्यक्ति आपस में बँधे हुए हैं।"[5]

डॉ० शिवकुमार शर्मा के अनुसार, ''सामाजिक जीवन की उत्पादन प्रक्रिया में मनुष्य ऐसे सुनिश्चित संबधों की स्थापना करते हैं जो अपरिहार्य है, इन संबंधों का योग अथवा संपूर्णतः ही समाज के आर्थिक धरातल का निर्माण करती है।"[6]

संस्कृति :-

संस्कृति मनुष्य का वह आंतरिक गुण होता है जिसे उसके रहन–सहन, बोलने, समझने, खाने–पीने, साहित्य, कला इत्यादि के माध्यम से पहचाना जाता है। मनुष्य समाज में रहकर ही संस्कृति से जुड़े पहलुओं का अनुसरण कर सकता है। भविष्य में मनुष्य के सिद्धान्त व नियम ही उसकी संस्कृति का रूप होते है। किसी भी समाज की उच्चता उस समाज की संस्कृति निर्धारित करती है। हमारी संस्कृति हमारे मानसिक विकास की द्योतक है। प्राचीन कालीन व्यक्ति पशुओं की तरह ज्यादा जीवन जिया करता था क्योंकि पहले पहल वह अपनी भूख–प्यास को शांत करने के लिए ही कार्य करता था। फिर धीरे–धीरे मानव जाति ने अपनी जीवन शैली में परिवर्तन लाते हुए अपने बाहरी आवरण के साथ–साथ आन्तरिक दुष्प्रवृतियों का नाश करना भी प्रारम्भ किया। मानव जाति का इस तरह पशुता से मानवता की तरफ अग्रसर होना संस्कृति का ही नाम हैं।

वर्तमान में अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का अनुसरण किया जा रहा है। संस्कृति की पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ :-

यंग के अनुसार, "संस्कृति शब्द न्यूनाधिक रूप में आदतों विचारों, अभिवृत्तियों और मूल्यों के उन संगठित

और सुदृढ़ प्रतिमानों की ओर संकेत करता है। जिन्हें एक नवजात शिशु अपने से बड़े लोगों अथवा स्वयं बड़े होने के कारण अन्य व्यक्तियों से प्राप्त करता है।"[7]

क्रोबर के अनुसार, 'समाज सहायक अंग के रूप में संस्कृति से संबंधित रहता है तथा उसके साथ ही संस्कृति का वाहक भी है, किंतु इतर प्राणियों के साथ मानव की तुलना करने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ समाज–व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवस्थित होते हुए भी वे संस्कृति विहीन है।"[8]

वृहत हिंदी कोश–"पूरा करना, शुद्धि, सुधार, परिष्कार, पवित्रीकरण, निश्चय, आचरणगत परम्परा, सभ्यता का वह स्वरूप जो आध्यात्मिक एवं मानसिक वैशिष्ट्य का द्योतक होता है।"[9]

इन परिभाषाओं से संस्कृति का अर्थ हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है। जिससे कुछ महत्त्वपूर्ण बाते हमारे सामने आती है, जो संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती है।

समाज व समुदाय में भेद, समाज व समिति में भेद, समाज व संस्था में भेद को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि समाज समुदाय से व्यापक है और समिति भी समुदाय की भांति समाज की एक इकाई है। जबकि संस्था मानवीय समूह की एक ऐसी इकाई है जो एक नियत प्रणाली के अनुसार कार्य करती है। समाज की विशेषता को मध्य नजर रखते हुए लोगों के सामूहिक कार्य, अमूर्तता, वैचारिक भेद, सहयोग, संघर्ष व परिवर्तन, जागरूकता, भाईचारा समाज और परम्परा का संबंध, रूढ़िवादिता, पारम्परिक एकता का गठन, धर्म, समन्वय का भाव व मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, सहिष्णुता व अनेकता में एकता आदि सभी गुणों के चलते समाज व संस्कृति के सम्बंध को प्रगाढ़ बनाया जा सकता है।

समाज विभिन्न प्रकार के वैचारिक मान्यता रखने वाले व्यक्तियों का समूह है। जिसमें विभिन्न जाति, धर्म, वर्ग के लोग एक साथ रहते हैं। समाज में प्रत्येक मनुष्य एक अलग तरीके को लेकर चलते हुए अपने जीवन का निर्वाह करता है। जो अपने एक सामाजिक दायरे में बंधा रहकर रीति–रिवाजों व परम्परा का निर्वाह करता है। भारतीय संस्कृति में समाज के क्रिया–कलापों का मिश्रण अद्‌भूत ढंग से व्यक्त किया गया है। भारतीय संस्कृति में विभिन्न धर्मों के लोग एक साथ मिलकर एक ही समाज में रहते हुए सभी के साथ समानता का व्यवहार करके चलते है और जीवन की बाधाओं में एक–दूसरे के पक्षधर बनकर सहयोग की भावना को बढाते है वे अपने–अपने धर्मों के अनुसार अपनी संस्कृति व कला को महत्व देते है लेकिन दूसरे के धर्म को आघात पहुंचाये बिना वो अपने धर्मो का पालन करते है ये समाज के लोगों द्वारा उनकी संस्कृति को कायम रखने का सकारात्मक पक्ष है।

रीति–रिवाज :–

समाज में संस्कृति को पोषित करने के लिए कुछ प्रतीक निर्मित किए जाते हैं। इन्हें रीति–रिवाज के रूप में समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है। इनका स्थायित्व समाज में लम्बे समय तक बना रहता है। मनुष्य समाज के माध्यम से इन्हें पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्थानांतरित करता रहता है। ये रीति–रिवाज मनुष्य को उसकी संस्कृति से जोड़कर रखते हैं। इनके माध्यम से समाज में एकता की भावना प्रबल होती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति इनका सम्मान करता है। इसीलिए ये समाज की संरचना का महत्त्वपूर्ण भाग होते हैं। वर्तमान समय में आधुनिकता की दौड़ में इनका महत्त्व कम होता जा रहा है। पश्चिम का अंधानुकरण करने से हमारी संस्कृति, सभ्यता और रीति–रिवाज नष्ट हो रहे हैं। इस कथन द्वारा यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है, 'हम विकास की ओर अग्रसर

हो रहे हैं। पर मानव समाज ज्यों–ज्यों उन्नति शील हो रहा है, त्यों–त्यों व्यक्ति साधारण संस्कृत व्यवहार भी भूलता जा रहा है। क्या यही हमारे सभी विकास की दिशा है?"[10] इस परिभाषा में मनुष्य के विकास को स्पष्ट किया है। जहाँ मनुष्य अपने मानवीय मूल्यों को भी भूल जाता है ऐसा विकास समाज का हित नहीं कर सकता। मनुष्य कहीं भी रहे उसे अपनी मिट्टी और संस्कारों से जुड़ा होना चाहिए। इन्हीं से उसकी वास्तविक पहचान होती है। अतः रीति–रिवाज किसी भी समाज की संस्कृति से परिचित कराने वाले स्त्रोत होते हैं। इसीलिए इनका महत्त्व मनुष्य और समाज दोनों के लिए है।

समाज और परम्परा का संबंध :–

भारतीय समाज प्राचीन समय से परम्पराओं का अनुगामी रहा है। परम्पराएँ मनुष्य में मानव धर्म का भाव जाग्रत करती हैं। भारत में परम्पराओं और मान्यताओं को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। इसी कारण भारतीय समाज संपूर्ण विश्व में सदैव विशिष्ट और सम्माननीय रहा है। यहाँ की परम्पराओं में मौलिकता होने के कारण ये सदैव सभी के लिए आदरणीय एवं ग्रहय रही है।

मानवीय संस्कृति चेतना :–

चेतना मनुष्य द्वारा विचार करने की वस्तु है। इसे शब्दों में बाँधना कठिन है। इसे बुद्धि, ज्ञान, चित, मति आदि के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। मनुष्य का किसी विषय को लेकर चिंतित होना या उसके गुण–दोष के प्रति जागरूक होना उसकी चेतना कहलाता है। 'मानव हिन्दी कोश' में कहा गया है, 'चेतना जीव या प्राणी के अन्तर्बाह्य तत्वों या बातों का अनुभव या मान करती है।"[11] इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के अंदर चेतना का होना अति आवश्यक है। इसके बिना वह मृत तुल्य है। सांस्कृतिक चेतना मनुष्य को संस्कृति के प्रति जाग्रत करती है। यह संस्कृति का महत्त्वपूर्ण भाग है। प्रत्येक समाज विभिन्न वर्गों, समुदाय में बँटा होता है जिनकी अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ होती है। जिस समाज या वर्ग में जो रीति–रिवाज अपनाए जाते हैं, वे वहाँ की संस्कृति के प्रतीक बन जाते हैं। वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति उनका पालन करता है।

संस्कृति की समाज में आधारशीला तैयार होती है। सामान्य रूप से सहयोग के भाव से जुड़ा संगठन समाज कहलाता है। समाज मनुष्य को विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार करता है। समाज के बिना मनुष्य के अस्तित्व को सुरक्षित रखना कठिन है। समाज ने ही उसे विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षित किया है। समाज में रहकर मनुष्य ने अपना जीवन एक निश्चित परिपाटी पर जीना प्रारंभ किया। जिसके परिणाम स्वरूप संस्कृति का उद्‌भव हुआ संस्कृति को पुष्ट करने के लिए मनुष्य ने अथक प्रयत्न किए, अपने जीवन को संस्कृति से जोड़कर रखा।

भारतीय संस्कृति विश्व की श्रेष्ठ संस्कृतियों में स्थान रखती है। इसे देव संस्कृति भी कहा जाता है। वर्तमान में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव बढ़ रहा है। इस अंध मोह को तोड़ने के लिए हमें हमारी संस्कृति के वास्तविक स्वरूप से पुनः परिचित होने की आवश्यकता है। जिससे हमारी सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रह सके।

सभ्यता और संस्कृति :–

सभ्यता और संस्कृति को सामान्यतः समानार्थी मान लिया जाता है। किंतु इन दोनों में पर्याप्त भेद है। ये परस्पर संबंधित होते हुए भी एक–दूसरे से अलग है। सभ्यता का संबंध भौतिकता से होता है। जिसमें

रहन–सहन के तौर–तरीके, खान–पान, पहनावा इत्यादि होते हैं। आधुनिकता के प्रभाव से इन सभी में बहुत परिवर्तन होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। इसमें एक–दूसरे से प्रभाव ग्रहण किया जा सकता है। विदेशों में दिखाई देने वाले शहरों का स्वरूप यहाँ भी दिखाई दें सकता है। वहाँ के पहनावे का प्रभाव यहाँ भी पड़ता है। अतः सभ्यता भौतिक होती है, जिसका प्रभाव एक–दूसरे पर पड़ता रहता है। संस्कृति का संबंध मनुष्य के विचारों और आत्मा से होता है। ये ऐसे संस्कार होते हैं जो हमारे मन में पूर्णतः रच–बस जाते हैं। हम स्वयं को इनसे अलग नहीं कर सकते। यह हमारे आचरण में प्रदर्शित होता है। सभ्यता जहाँ केवल बाहरी विकास से संबंधित है, संस्कृति आंतरिक विकास पर बल देती है।

बाबू गुलाब राय का कहना है, "जिस सभ्यता का आधार संस्कृति में नहीं, वह सभ्यता नहीं। संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव कि भाँति निष्प्राण रहता है। विनय और शील के बिना कटी–छटी पोशाक सुसज्जित बंगले सेंट और पाउडर मनुष्य को सभ्य नहीं बना सकते।"[12]

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. डॉ० कुँवरपाल सिंह, हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ० 117
2. सत्यकेतु विद्यालंकार, समाज शास्त्र, पृ० 36
3. डॉ० संपूर्णानंद, समाजवाद, पृ० 19
4. डॉ० नगेन्द्र, साहित्य का समाज शास्त्र, पृ० 6
5. जी० के० अग्रवाल, समाज शास्त्र के सिद्धांत से उद्धृत, पृ० 60
6. डॉ० शिवकुमार शर्मा, साहित्य और सामाजिक संदर्भ, पृ० 19
7. एम.पी श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन, पृष्ठ–2
8. डॉ आर्या प्रसाद त्रिपाठी, कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ संख्या 9
9. कालिका प्रसाद, वृहत्त हिंदी कोश, पृष्ठ 1178
10. डॉ संजीव महाजन, भारतीय समाज का विश्वकोश, पृ० 173
11. रामचंद्र वर्मा,मानव हिंदी कोश, पृष्ठ 88
12. डॉ गुलाब राय, भारतीय संस्कृति, पृ० 8

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 133-136

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास साहित्य में त्योहार-उत्सव

डॉ. लोकेश कुमार

सहायक आचार्य (गैस्ट फैकल्टी), राजकीय कन्या महाविद्यालय, डीग, भरतपुर, राजस्थान

त्योहार और उत्सव संस्कृति के परिचायक हैं क्योंकि इनके साथ सामाजिक–सांस्कृतिक परम्पराएँ जुड़ी रहती हैं, जिससे इनके प्रति जनमानस की गहरी भावात्मक आस्था पायी जाती है। ये समाज को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँधे रखते हैं। मैत्रेयी पुष्पा जी ने उपन्यास साहित्य में त्योहार–उत्सवों का बखूबी चित्रण किया है, जिनसे इनका उपन्यास साहित्य 'संस्कृति का घर' जैसा लगता है। लेखिका द्वारा उपन्यासों में वर्णित त्योहार और उत्सवों की सम्पूर्ण झाँकी इस प्रकार है –

(क) रक्षाबंधन –

यह त्योहार सारे देश में सावन मास की पूर्णिमा को बड़े धूम–धाम और उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस दिन बहन भाई की कलाई पर राखी बाँधती है और मस्तक पर टीका लगाती है। यह भाई–बहन के नाते जो मन, वचन और कर्म की पवित्रता समाई होती है, उसका बोधक है। 'बेतवा बहती रही' में रक्षाबंधन के त्योहार पर छुट्टियाँ हो गयीं थीं और विजय मीरा को चन्दनपुर लेने के लिये आया था। यथा– "रक्षाबंधन की छुट्टियाँ थीं। विजय उसको चन्दनपुर ले जाने के लिये आये थे।"[1]

'इदन्नमम' उपन्यास में रक्षाबंधन के अवसर पर अनवरी बुआ द्वारा शकील को लेकर मंदा के पास आना और यह कहना– "रक्षाबंधन है आज! राखी और भुजरियाँ का त्यौहार!"[2] तथा इसी अवसर पर मंदा द्वारा शकील के हाथ में राखी बाँधना– "लाओ इधर, हम तुम्हें राखी बाँधें।"[3] इस उपन्यास में अनवरी बुआ, शकील, बऊ और मंदा ने जो आपस में मिलकर रक्षाबंधन का त्योहार मनाया है उससे मैत्रेयी जी के उपन्यासों में विद्यमान 'गंगा–जमुनी' संस्कृति का परिचय मिलता है। 'चाक' उपन्यास में भी रक्षाबंधन का त्योहार मनाया गया है, जिसके बारे में सारंग यह कहती है– "कल रक्षाबंधन है। गाँव के लोग कहते हैं सनूना।"[4] रक्षाबंधन के अवसर पर कलावती चाची के घर, 'सोहगी' आना। उदाहरण है– "कलावती चाची के घर सोहगी आयी है। उनकी बेटी सत्तो के ब्याह का पहला सावन है।"[5]

(ख) चट्टा चौथ –

यह त्योहार भादों मास में बच्चों द्वारा मनाया जाता है। इस त्योहार पर चट्टा घर–घर जाकर अपने गुरु के लिये कुछ दक्षिणा माँगकर लाते हैं। 'चाक' उपन्यास में चट्टा चौथ के दिन दक्षिणा माँगने सारंग के घर बच्चे आते हैं। यथा– "कुछ बच्चे बैठ गये, कुछ खडे हैं। खचाखच भरा है आँगन।"[6] साथ में आये मास्टर श्रीधर और थानसिंह का भी सारंग ने सत्कार किया– "सारंग हाथ में हल्दी–चावल–दूब सहित थाली लिये आगे बढ़ चली।

बड़े मास्टर थानसिंह– टीका किया। दस का नोट दिया। यह गुरु–दक्षिणा है। उनका हक।"[7]

(ग) श्राद्ध –

क्वार मास में श्राद्ध पक्ष में पितरों का तर्पण किया जाता है। 'चाक' उपन्यास में 'श्राद्ध–पक्ष' के अवसर पर रंजीत द्वारा चरनसिंह बौहरे और प्रजापति श्रीधर को आँगन में बिठाकर भोजन कराया है। इससे भारतीय संस्कृति में परम्परा प्रचलित थी की सर्वप्रथम ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये को बदला गया है। उदाहरण द्रष्टव्य है– "जेंओ बौहरे, जेंओ। मास्टर जी, शुरू करो जल्दी।"[8]

(घ) करवा चौथ –

यह पर्व कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को मनाया जाता है। ये हिन्दू सधवा स्त्रियों का मुख्य त्योहार है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पतियों की दीर्घायु की कामना और रक्षार्थ व्रत रखती हैं। चन्द्रदर्शन करने के बाद चन्द्र को अर्घ्य देकर भोजन करती हैं। 'चाक' उपन्यास में भी सारंग और अन्य औरतें करवाचौथ का व्रत करती हैं। उदाहरण है– "सारंग ने करवाचौथ काढ़ी है, ज्यों कागज पर छपी तस्वीर हो– पूरे चन्द्रमा का गोला, जिसके हाथ, पाँव, पेट, कमर, आँख, नाक, कान सब कुछ। आसपास सात भाभी–चुनरी ओढ़े हुये। छः भाई कुर्ता–धोती पहने हुये, एक भाई नसेनी पर चढ़ा चलनी में ढककर दीपक दिखाता हुआ। बीजा बहन अर्घ्य देती हई..... बाकी चूड़ी–बिछिया के संग सुहाग–पिटारी।"[9]

(ङ) दीपावली –

कार्तिक अमावस्या के दिन दीपावली का त्योहार मनाया जाता है। इस दिन घर की सफाई, लिपाई की जाती है, मिष्ठान बनाये जाते हैं, दीपक जलाये जाते हैं, आतिशबाजी की जाती है। 'इदन्नमम' उपन्यास में दीपावली का त्योहार इस प्रकार मनाया जाता है– "दीपावली आ गयी। चारों ओर जगमग है। लिपे–पुते घरों में प्रसन्न उतावले बच्चे। पॉपलीन की कमीज, पाजामा में सजे–बजे। छोटी–छोटी गुडिया–सी बिटियाँ रंग–बिरंगे, फ्रॉक पहने हुये।"[10] 'चाक' उपन्यास में भी दीपावली का त्योहार बड़े उत्साह और उमंग से मनाया जाता है, जैसे– "दीवाली के दिन घर–आँगन लीपा। चौका–चूल्हा सहेजा, पूरी–पकवान का दिन है दीवाली। सारंग सवेरे से लगी है। रंजीत खील–बताशे धर रहे हैं थालियों में।"[11]

(च) मकर संक्रान्ति –

पौष मास में सूर्य का मकर राशि में प्रवेश करना मकर संक्रान्ति कहलाता है। इस दिन दान का विशेष महत्व होता है तथा तिल, चावल, दाल, गुड आदि को ब्राह्मणों व पूज्य व्यक्तियों को दान किया जाता है। 'इदन्नमम' उपन्यास में 'संक्रान्ति' के दिन बऊ का मंदा से स्नान करने की कहना– "उठो, नहाओ–धोओ। आज संकरांत है, एरचवारे पुजारी जी आते होंगे।"[12] 'चाक' उपन्यास में 'संक्रान्ति' के दिन 'करबन नदी' में स्नान करना तथा चरनसिंह बौहरे को दान करने का दृश्य इस प्रकार है– "पाट पर नहाई भीगी औरतें बेर, तिल, चावल, दाल या नया गुड थालियों में धर–धर कर बैठी चरनसिंह बौहरे का इंतजार कर रही हैं। आज बौहरे को हुआ क्या? वे तो सबसे पहले आ जाते थे।"[13]

(छ) बसंत पंचमी –

यह त्योहार माघ शुक्ल पंचमी को मनाया जाता है। यह त्योहार ऋतुराज बसंत के आगमन की सूचना प्रदान करता है। इस दिन 'सरस्वती' और 'विष्णु' की पूजा, आराधना की जाती है। 'चाक' उपन्यास में 'गुलकन्दी'

का बसंत पंचमी का मेला देखने जाना। यथा– "नहा धोकर बसंती रंग की धोती पहनी है गुलकन्दी ने। बसंत पंचमी के मेले जा रही है।"[14]

(ज) होली –

हिन्दुओं का बहुत बड़ा त्योहार है, रंगों का त्योहार है, होली। फाल्गुन मास की पूर्णिमा को बड़े उल्लास व धूमधाम के साथ मनाया जाता है। इस दिन गुलाल, अबीर आदि से होली खेली जाती है, गीत गाये जाते हैं। होली के अवसर पर मनुष्यों में जो उमंग, उल्लास, जोश आदि पैदा होता है। उसे 'इदन्नमम' उपन्यास में इस प्रकार बताया गया है– "फाग है। होली है। रंगों का त्योहार। धरती पर बसंत है! जन–जन उल्लसित है।"[15] 'चाक' उपन्यास में मनायी गयी होली का उदाहरण है– "मैंने गोबर की गूलरी बनाई हैं सिंगाड़े जैसी। ढाल बनाई है, लड़ाई में काम आने वाली ढाल जैसी– पर छोटी–छोटी।"[16] इसी क्रम में एक और उदाहरण– "होली के दिन घरघुली पर रखी जाएँगी सूखी गूलरी और ढाल। जब घरघुली जलेगी तो सब बालक अपनी अम्मा, भाभी, चाचियों के संग गेहूँ और जौ की बालें भूनेंगे। कुआँ के पास लड़कों ने खूब बड़ी होली धरी है।"[17]

(झ) बासौड़ा –

यह त्योहार होली के सात दिन बाद चैत्र कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मनाया जाता है। इसे 'शीतलाष्टमी' भी कहा जाता है। इस दिन ठंडे भोजन का माता को भोग लगाया जाता है। 'चाक' उपन्यास में होली के बाद बासौड़ा की बात कही तो है, लेकिन होली के दिन 'गुलकन्दी' और 'बिसुनदेवा' के जलकर मर जाने से पूरे गाँव में शोक होने के कारण मनाया नहीं जाता है। उदाहरण दृष्टव्य है– "गाँव में होली तो कौन मनाता? बसोरा (शीतला माता की बासी भोजन से पूजा) भी नहीं किया। औरतें सुन्न सी जो बैठी हैं। किसे होश है त्योहार–परब का। चार गाँव की औरतें जमा होती थीं शीतला के थान पर। इस बार औरत न औरत जात। एक चिरैया तक नहीं। नाइन, सब घरों की नाइन..... .....कैसे भूले कोई?"[18]

(ञ) अक्षय तृतीया (आखा तीज) –

वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को अक्षय तृतीया या आखा तीज कहते हैं। इन दिन कोई दूसरा मुहूर्त न देखकर स्वयं सिद्ध अभिजित शुभ मुहूर्त के कारण विवाहोत्सव एवं अन्य मांगलिक कार्य व्यापक मात्रा में संपन्न किये जाते हैं। 'चाक' उपन्यास में 'आखा तीज' को बड़े उत्साह और विधि–विधान से मनाया गया है– अखतीज के अवसर पर मास्टर श्रीधर का यह कहना– "यह किसानों के लिये साल का पहला दिन है, तो हमारे स्कूल का भी नया वर्ष शुरू हुआ।"[19] इसी अवसर पर घड़ों में पानी भरकर उनमें चना डालना तथा बाबा का श्रीधर से यह कहना– "वर्षा के महीनों पर नाम रखे जाते हैं मास्टरजी। जिसमें चने जल्दी उगेंगे, उस महीने ज्यादा वर्षा का जोग माना जाता है।"[20]

अतएव स्पष्ट है कि मैत्रेयी पुष्पा जी ने उपन्यासों में त्योहार–उत्सवों को बखूबी चित्रित किया है। इस चित्रण द्वारा पुष्पा जी ने त्योहार–उत्सवों से जो सामाजिक–सांस्कृतिक परम्पराएं जुड़ी हुई हैं उन्हें व्यक्त किया है साथ ही साथ त्योहार–उत्सवों से लोगों का आपस में भाईचारा, मानवीयता के साथ–साथ साम्प्रदायिक सौहार्द्र भी बढ़ता है को बताया है। वहीं त्योहार–उत्सवों से बच्चों के जोश, उत्साह के साथ–साथ अपनी संस्कृति की परंपराओं से परिचित भी किया है।

संदर्भ –

1. बेतवा बहती रही, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 55
2. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 38
3. वही, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 39
4. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 96
5. वही,
6. वही, पृ0 130
7. वही, पृ0 131
8. वही, पृ0 148
9. वही, पृ0 186
10. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 311
11. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 196
12. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 200
13. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 244
14. वही, पृ0 250
15. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 128
16. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ0 346
17. वही
18. वही, पृ0 368
19. वही, पृ0 389
20. वही, पृ0 389

मोब. न0– 8239308801

ई मेल– lokeshkumarsharma1781@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 137-141

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

ग्रामीण परिवार

डॉ. ममता कुमारी
बी0 एन0 एम0 यू0, मधेपुरा, बिहार

कहा जाता है कि भारत गाँवों का देश है और सही भी यही है क्योंकि यहाँ की अधिकतर जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। भारतीय अपने विकास के लिए भारतीय कृषि पर ही निर्भर करते हैं। सादा जीवन उच्च विचार यही भारतीय ग्रामों की पहचान है। जब भी मन में भारतीय ग्राम का विचार आती है तो खेतों में दूर–दूर तक लहलहाती हुई हरी फसलें कड़ी धूप और खले आसमान के नीचे काम करता किसान घरों की बागडोर संभालती घर की स्त्रियाँ की छवि आँखों के सामने आ जाती है। पेड़ों की ताजी हवा, ताजा और शुद्ध दूध रसायनों से मुक्त ताजी–ताजी सब्जियाँ, गाँवों चौपालों की रौनक आदि आज भी भारत वासियों का एक दूसरे के लिए लगाव उनका एक दूसरे की मदद के लिए सदैव तत्पर रहना गाँवों की विशेषता है। अगर हम ग्रामीण जीवन की बात करें तो सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि आखिर गाँव है क्या? तो जबाब में आपको बताना चाहूँगी कि जब कुछ लोगों का एक समूह निश्चित छोटे स्थान या बस्ती में रहता है, उसे गाँव कहते हैं। गाँव के लोग अपने जीवन यापन के लिए कृषि या अन्य पारम्परिक उद्योगों पर निर्भर करते हैं और यहाँ इन गाँवों में शहरों की अपेक्षा कम सुविधायें और संसाधन उपलब्ध होते हैं।

पहले के समय में जब सुख सुविधाएँ एवं संसाधन नहीं हुआ करते थे तो सारे लोग बिना छोटी सी बस्ती या स्थान पर रहा करते थे, उसे गाँव कहा जाता है। धीरे–धीरे जब दुनियाँ में लोगों ने एक के बाद एक अनुसंधान करते हुए विकास सुविधाओं को उत्पन्न किया और उसका लगातार विकास किया तो फिर शहर की उत्पति हुई किन्तु आज भी कुछ जगह ऐसी है जहाँ पर यह सुविधाएँ नहीं पहुँच पाई है। इसलिए आज भी गाँव में रहने वाले लोगों का जीवन बहुत ही साधारण होता है। उनका पूरा जीवन कृषि या उससे संबंधित उद्योगों पर निर्भर करता है।

ग्रामीण जीवन की विशेषताएँ :–

कृषि पर आधारित :

भारतीय ग्रामीण जीवन कृषि पर आधारित है। कृषि ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय है। गाँव में मौजूद जो लोग कुछ अन्य व्यवसाय भी करते हैं तो उनका व्यवसाय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर भी निर्भर करता है।

1. **संयुक्त परिवार :–** जहाँ शहरों में जाति–समाज आदि को छोड़ कर लोग आगे बढ़ चुके हैं। वहीं गाँव में आज भी इन सब चीजों को महत्व दिया जाता है जो कि बहुत गलत है।

2. पंचांग का उपयोग :–

जहाँ शहरी लोग तीज त्योहारों को भी भूल चुके हैं, वहीं ग्रामीण लोग आज भी भारतीय पंचाग को अपना रहे हैं।

3. सादा जीवन :–

ब्रांड, फैशन ये सभी चीजें अब तक गाँवों की दहलीज को छू नहीं पाई है। गाँवों के लोग आज भी सादा जीवन उच्च विचार में विश्वास रखते हैं।

4. मंद गति से विकास :–

आज जहाँ शहरों में विकास की रफ्तार तेज हो रही है, वहीं गाँव के लोग मूलभूत सुविधाओं के लिए भी संघर्ष करने के लिए मजबूर हैं।

5. गरीबी :–

जिस किसान के बदौलत हमें भोजन मिलता है वह खुद ही ढ़ंग से दो वक्त की रोटी नहीं जूटा पाता। दुःख तो तब होता है जब किसानों द्वारा पैदा किए गए अन्न को दूसरे लोग बेचकर ज्यादा मुनाफा कमाते हैं और किसान की दयनीय स्थिति वैसी ही बनी रहती हैं।

6. अशिक्षा :–

गाँवों की इस स्थिति का एक बहुत बड़ा कारण अशिक्षा भी है।

गाँव के लोग आज भी शिक्षा को जरूरी नहीं समझते। अगर लोग शिक्षा को जरूरी समझे भी तो उन्हें सुविधा उपलब्ध नहीं होती।

आजकल समय के साथ–साथ लोगों की धारणा बदल रही है। लोग गाँवों से शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। गाँव के लोग ग्रामीण असुविधा से तंग आकर शहरी सुविधा से आकर्षित हो रहे है और शहरों में अपना निवास बनाकर सुविधा तलाश रहे हैं।

ग्रामीण जीवन में कई सारी समस्याएँ हैं, जिसका समाधान ग्रामवासियों को करना पड़ता है।

ग्रामीण जीवन की कुछ समस्याएँ :–

1. ग्रामीण असुविधाएँ :–

आज के समय से हर इन्सान सुविधा चाहता है और यह सत्य है कि गाँवों में शहरों की अपेक्षा सुविधाएँ नाम मात्र की भी नहीं है।

गाँवों में रहने वाले लोग अपनी हर एक जरूरत चाहे वह खेती के संसाधन हो या घरों का सामान आदि के लिए शहरों पर निर्भर करते हैं उन्हें अपनी हर छोटी से छोटी जरूरत के लिए शहर आना पड़ता है जिसमें उनका समय और पैसा दोनों व्यर्थ हो जाते हैं।

2. शिक्षा का अभाव :–

शिक्षा विकास का एक मात्र साधन है जो कि गाँवों में मौजूद नहीं है। आज भी कई गाँवों में स्कूल नहीं है और अगर स्कूल भी है तो उनमें शिक्षा का स्तर और व्यवसाएँ सही नहीं है। गाँवों में रहने वाले बच्चों को स्कूल के लिए शहर की ओर जाना पड़ता है और अगर वे गाँव के स्कूल में शिक्षा ले भी लेते हैं तो उच्च शिक्षा के लिए शहर ही एकमात्र स्थान बचता है।

मौसम की मार :–

हम सभी जानते हैं कि भारतीय किसान पूरी तरह से कृषि पर निर्भर करते हैं। वर्षा की बढ़ती अनियमितता और पर्यावरण प्रदूषण सबसे गहरा असर कृषि पर ही पड़ता है। लगातार कई वर्षों से वर्षा का स्तर कम होता जा रहा है और इसका असर कृषि और किसानों पर पड़ता है।

विकास की धीमी रफ्तार :–

जो गाँव, शहरों के किनारे या मुख्य राजमार्गों पर बसे हैं उनका तो विकास हो गया है परन्तु जो गाँव शहरी सीमा से दूर है वे अभी भी विकास की राह देख रहे है। कई गाँवों को तो अब तक मुख्य सड़कों से जोड़ा भी नहीं गया है। नेता और राजनीतिक पार्टियाँ केवल चुनाव के समय इन गाँवों की ओर रूख करती है और ग्रामवासियों के मन में नई आस दे जाते हैं।

अवैधानिक तत्वों की मौजूदगी :–

गाँवों में आज भी जुआ–सट्टा और मादक पदार्थों की बिक्री खुलेआम जारी है। यहाँ तक कि गाँवों में रहने वाले बच्चें भी इनकी ओर आकर्षित होते हैं और गलत आदतों का शिकार होते चले आते हैं।

स्वस्थ की सम्पूर्ण सुविधा उपलब्ध न होना :–

गाँवों में न अस्पताल हैं, न ही कोई अन्य सुविधा। अगर किसी गाँव में अस्पताल है भी तो वहाँ कोई डॉक्टर अपनी सेवाएँ देना नहीं चाहते। अगर किसी जगह अस्पताल और डॉक्टर दोनों मौजूद है तब भी वहाँ सम्पूर्ण संसाधन के अभाव में हर ग्रामवासी को अपनी छोटी सी परेशानी में शहरों की ओर जाना पड़ता है।

परिवहन के साधनों का अभाव :–

गाँव के लोगों को परिवहन के लिए भी समस्याओं से जूझना पड़ता है। बड़ी और फास्ट ट्रेनों के तो गाँवों में स्टॉप भी नहीं होते, न ही गाँवों में अच्छी सर्वसुविधा युक्त बसे जाती हैं।

कुछ ग्रामवासियों को तो एक बस का इंतजार दिन भर करना पड़ता है और इनमें सफर करते समय असुविधा की भी कमी नहीं होती।

मनोरंजन के साधनों का अभाव :–

गाँवों में शहरों की तरह मनोरंजन के साधन जैसे–सिनेमाघर, गार्डन, आदि उपलब्ध नहीं होते। गाँव में रहने वाले बच्चों को तो समोसे कचोड़ी या कुल्फी के लिए भी कई दिन का इंतजार करना पड़ता है।

भौतिक सुख सुविधाओं का अभाव :–

गाँवों में शहरों की अपेक्षा सुख सुविधा के सामान मौजूद नहीं होते। जैसे अगर ग्रामवासी खर्चा करके फ्रीज, कूलर आदि खरीद भी लें तो उन्हें बिजली सही समय पर उपलब्ध नहीं होती।

ग्रामीण जीवन के लाभ :–

शुद्ध प्राकृतिक वातावरण :–

शहरों की अपेक्षा गाँवों का वातावरण शुद्ध है। यहाँ आज भी शहरी प्रदूषण से मुक्त शुद्ध हवा पानी उपलब्ध है। यहाँ न वाहनों से निकलने वाला धुआँ हैं, न डीजे न शोर। यहाँ के लोग कूलर पंखे के बिना ताजी हवा का आनन्द लेना पसंद करते हैं और विदेशी पेय से दूर शुद्ध पेय जैसे–दही, लस्सी, शिकंजी आदि को पसंद करते है।

शुद्ध रसायन मुक्त भोजन :–

गाँव के लोग खेती करते हैं, गाय, भैंस पालते है तो वे अपने लिए बिना रसायन का उपयोग किए अनाज, सब्जी आदि का प्रबन्ध कर सकते है। जहाँ हम लोग शहरों में पैकेट का दूध इस्तेमाल करते हैं, वहीं गाँवों में लोग गाय–भैसों का शुद्ध दूध के अन्य पदार्थ बनाते हैं।

एक दूसरे की मदद क लिए सदैव तत्पर :–

गाँवों में अब भी भाईचारें की भावना मौजूद हैं। यहाँ लोग एक–दुसरे के साथ परिवार की तरह रहते हैं और एक–दुसरे की सहायता के लिए तत्पर रहते हैं।

ग्रामीण जीवन एवं शहरी जीवन में अंतर :–

यदि हम गाँव के जीवन एवं शहर के जीवन की बात करें तो दोनों में काफी अन्तर है जो निम्न है :–

1. ग्रामीण जीवन में शिक्षा की सुविधाएँ कम है लेकिन शहरी क्षेत्र में यह सुविधाएँ बेहतर होती हैं जिसके कारण वहाँ के बच्चों को बेहतर शिक्षा मिल जाती है।
2. ग्रामीण जीवन में गरीबी अधिक होता है लोग कृषि एवं छोटे उद्योगों पर निर्भर होते हैं जिसके कारण उनकी आमदनी भी सीमित होती है किन्तु शहरी जीवन में बड़े–बड़े उद्योग होते हैं। जिसके कारण वहाँ पर आमदनी भी ज्यादा होती है।
3. ग्रामीण क्षेत्र में सुविधाएँ कम होने की वजह से वहाँ पर समस्याएँ भी अधिक होती हैं, लेकिन शहरों में समस्याएँ कम होती हैं।
4. ग्रामीण जीवन बिना सुख–सुविधाओं एवं संसाधनों के बीच व्यतीत होता है जबकि शहरी जीवन सुख–सुविधाओं एवं संसाधनों से भरपूर होता है।

ग्रामीण जीवन में सुधार कैसे लाये :–

ग्रामीण जीवन इतना बूरा नहीं है जितना हम उसे समझते हैं लेकिन यह सच है कि ग्रामीण जीवन में कुछ सुधार होने आवश्यक है और हम यह सुधार निम्न तरीके से कर सकते हैं :–

1. गाँवों में खेती सुधार के लिए आधुनिक तरीके बताएँ।
2. शिक्षा का महत्व बताएँ।
3. अगर आप अच्छे पढ़े–लिखे हैं तो गाँव के विकास में योगदान दें।
4. गाँव के लोगों को शिक्षा के प्रति आकर्षित करवाएँ।
5. गाँव की प्राचीन धरोहर को संभाल कर रखें और उसे किसी भी तरह की क्षति न आने दें।
6. गाँव के लोग छोटी–छोटी बातों और एक–एक ईंच जमीन के लिए आपस में लड़ते–झगड़ते है। जरा सी बात को सम्मान का प्रभन बना लेते हैं, मार–पीट हो जाती है, सिर फूट जाते हैं, मृत्यु तक हो जाती है। मुकद्दमेंबाजी हो जाती है, गाढ़ी कमाई का हजारों रूपया मुकदमों पर खर्च हो जाता है। इससे बहुत हानि और क्षति का सामना करना पड़ता है। गाँवों में स्वस्थ्य और चिकित्सा की व्यवस्था का अभाव है। अस्पताल एवं अच्छे डॉक्टर गाँव में उपलब्ध नहीं है। यदि कोई बीमार होता है तो वह चिकित्सा के अभाव में प्राणों से हाथ धो लेता है। जिनके पास धन तथा अन्य साधन होते हैं। वह शहरों की ओर दौड़ते हैं, परन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि शहर के अस्पताल तक पहुँचते–पहुँचते रोगी जीवन से हाथ धो बैठता है।

गाँवों की उन्नति और विकास के लिए सरकार को चाहिए कि इन समस्याओं का शीघ्र समाधान किया जाय। प्रत्येक गाँव–शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, मनोरंजन और आवागमन की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाय। कृषि की उन्नति और उत्पादन में वृद्धि के लिए कृषि संबंधी आधुनिकतम उपकरणों से किसान को परिचित कराया जाये, सिंचाई के साधनों का विस्तार किया जाये, अच्छी खाद्य उन्नत बीज तथा यन्त्रों की प्राप्ति के लिए किसान को ब्याज की सस्ती दरों पर ऋण प्राप्त कराया जाये, गाँवों में कुटीर उद्योगों का विकास किया जाये और लघु उद्योगों की स्थापना की जाये तो निश्चित ही ग्रामीणों का जीवन स्तर उँचा उठेगा तथा गाँवों का विकास होगा जिससे कि हमारे राष्ट्र का विकास सम्भव हो सके।

संदर्भ सूची :–

1. http://www. Deepawali.com.in
2. http://www. Learncram.com.in

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 142-144

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति में संत–साहित्य विश्व कल्याण का परम आधार

मनीषा देवी

शोधार्थी, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक।

'संत' शब्द की व्युत्पति की दो प्रविधियां है : प्रथम 'सन' का बहुवचन 'संत' है। द्वितीय 'सन्' शब्द 'अस्' धातु से बने हुए 'संत' का पुल्लिंग रूप जो 'शृप' प्रत्यक्ष लगाकर सिद्ध हुआ और शुद्ध अस्तित्वबोधक है। षड (पण्) सम्भक्तों के अनुसार का 'सन्क्त' स्वरांत संत बना है। 'वैदिक' काल से ही 'संत' और 'भक्त' में अंतर बताया गया है। 'संत' का एक अर्थ 'अंजलि' भी है यानि व्यष्टि का समाष्टि के लिए पूर्ण समर्पण। 2. 'ऋग्वेद' में (1.15.12) 'सन्त्य' शब्द अनेक बार आता है : 'अथर्ववेद' में 'संतः' और 'छान्दोग्योपनिषद' में 'सत्' का निदेश किया गया है। कालिदास या भर्तृहरि 'संत' को सज्जन का अर्थ लेते है। 'पाहुह दोहा' में 'संतु' णिरजणु सोजि सिद्र, तुलदीसदास के 'रामचरितमानस्' के उतरकाण्ड में 'जानेहु संत अनंत समाना, 'गरीबदास के' साई सरीखे संत है या पलटूदास के 'संत और राम को एक जाणिये' के आधार पर परशुराम चतुर्वेदी 'सत्' का ही एक रूप 'संत' मानते है।

विभिन्न भारतीय भाषाओं में यह विभिन्न अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। हिंदी में निर्गुणियों को 'संत' कहा गया है। मराठी में भक्त को भी 'संत' के अर्न्तगत माना जाता है। महाभारत के वनपर्व के अंत में 'संतों दिक्' (संत ही दिशा है) कहा गया है। सावित्री आख्यान में सावित्री कहती 'मनुष्य को जितना विश्वास अपना नहीं होता, उतना संतों का होता है।' 'योगवासिष्ठ' में 'संत' को समाज में सन्तुलन लाने वाला कहा है। 'शंकर के अनुसार 'उदार अंतकरण के संतए बसंत की तरह लोकहित–रत रहते है।' 'संत' का मूल 'सन्' माने तो 'अमरकोश' में उसके इक्कीस और हेमचन्द्र ने चौबिस पर्याय दिए है। अमर उन्हे 'ब्रह्म' वर्ग में रखता है, हेमचन्द्र 'सत्य' वर्ग में। आरम्भ में 'संत' में बुद्धि विद्वता, विवेक, दूरदर्षिता, गुणग्राहकता आदि की प्रधानता थी, बाद में, अर्थ में वैराग्य, सवर्गसंगपरित्याग, मुक्ति– कामना आदि गुण बढे। रहस्यवाद का सम्बंध 'संत' से बढता गया।

'संत' रूपी परम तत्व का साक्षात्कार कर लेने वाले व्यक्ति को 'संत' कहा जाता है। डॉ. पीताम्बर दत बडथ्वाल ने 'संत' का सम्बंध 'शांत' से माना है जिसका अर्थ है– निवृतिमार्गी या बैरागी। सामान्यतः सदाचार के लक्षणों से युक्त व्यक्ति को संत कहा जाता है। जो आत्मोन्नति एवं लोकमंगल में रत रहता है वह संत है। आजकल हिंदी साहित्य में निर्गुणोपासक ज्ञाना श्रयी शाखा के कवियों को संत कहा जाता है।

यहां 'संत' शब्द की व्युत्पति, अर्थ एवं स्वरूप पर विचार करने के पश्चात एक प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है कि भारतीय संत साहित्य विश्व कल्याण का परम आधार कहा जा सकता है, उसमें मानवजाति के हित की भावना कितनी प्रबल है। सम्पूर्ण मानवता को सुख–समृद्धि हेतू भारतीय दिव्यात्माओं ने किस सीमा तक कार्य किए

हैं। इस प्रश्न का उतर ही हमारा उद्देश्य पूर्ती होगा। संत साहित्य विश्व कल्याण का आधार है। इससे पूर्व हमें संत–साहित्य का दार्शनिक आधार के बारे में समझ लेना चाहिए। संत उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत दर्शन, नाथ–सिद्ध, सूफीपंथ और इस्लाम। उपनिषदों में निरूपित ब्रहम, जव, जगत एवं माया के स्वरूप को संत कवियों ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया। संतों का साधना पक्ष और भक्ति–भावना शंकर के अद्वैत दर्शन की देन है। जो अलगाव जीव का ब्रहम् से दिखाई देता है वह माया के कारण। आत्मा की सर्वरूपता, सर्वशक्तिमता भी उद्वैत दर्शन के अनुरूप है। नाथपंथियों से उन्होंने शून्यवाद, योगसाधना, गुरू की प्रतिष्ठा का तत्व लिया। इस्लाम के प्रभावस्वरूप उनमें एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा का खण्डन और अवतारवाद का विरोध किया। सूफियों से प्रेमभाव, दाम्पत्य–प्रतीक अपनी भक्ति–भावना के अभिव्यक्ति हेतू, सिद्धों से गूढ उक्तियाँ, उलटबासियाँ, वैदिक परम्पराओं एवं बाह्याचारों का विरोध संत–साहित्य में मिलता है। रामानंद द्वारा निम्न वर्गो एवं शूद्रों के लिए भक्ति का द्वारा को खोलने का प्रभाव भी संत–साहित्य पर परिलक्षित हुआ है। बौद्धों एवं वैष्णवों की अहिंसा भी संत–साहित्य को आधार भूमि प्रदान करते है। इस प्रकार संत–साहित्य की जड़ों को हरा–भरा करने वाले अलग–अलग धर्म एवं दर्शनों की मूल बातों या सिद्धातों को समझने के उपरांत हम इसमें विश्व कल्याण पर खोजबीन करेगे। बौद्ध धर्म के जन्मदाता महात्मा बुद्ध को 'एशिया का प्रकाश स्तम्भ' इसलिए कहा गया है क्योंकि जीवन की समस्त उचाईयां गौतम बुद्ध के उपदेशों में विराजमान है। मानव के लिए धर्म नैतिकता, करूणा, त्याग एवं सामाजिकता उनके विचारों में आई है। बौद्ध धर्म वर्तमान में विदेशों में आदर–सत्कार पाता है। इसका मुख्य कारण विश्व कल्याण ही तो है। जैन तीर्थकर महावीर स्वामी मानवता के लिए करूणा की जीवंत मूर्ति थे। सम्पूर्ण मनुष्यता को एक नई सूझ भरी जीवन–दृष्टि वे प्रदान करते है। रामायण के रचनाकार और महाभारतकार सम्पूर्ण मानवता के कल्याण हेतू तत्पर दिखाई पडते है। अच्छाई, नेकीयता के पक्षधर बने हुए है। रामानंद, राधवानंद के प्रयास भी मानव–जाति के कल्यार्थ है। तुलसी, सूर, कबीर और जायसी के नामों को विस्मृत कैसे किया जा सकता है। नंददास, कृष्णदास, रसखान, रहीम, परमानंददास, छीतस्वामी, गोविन्ददास ने सांर के भले हेतू साहित्य–निर्माण किया।

यदि हम कबीर को मौटे तौर पर संत–साहित्य का केन्द्र बिन्दु मान ले और उनके द्वारा मानवता के कल्याण हेतू किए गए सद्प्रयासों पर दृष्टि डाले तो उनकी चर्चा यूँ की जा सकती है।

कबीर महान समाज–सुधारक थे जिनकी अभिव्यक्ति में खारापन, अनुभूति की सच्चाई, व्याप्त सस्माजिक, रूढियों पर प्रहार, अन्धविश्वासों, पाखंडों का खण्डन करते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों को आईना दिखाने का कार्य करते है। यथा :–

'अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपने करे बढाई गागर छुअन न देंई।
वेश्या के पांयन तर सोवैं यह देखों हिन्दुआई।।
मुसलमान के पर औलिया मुर्गा–मुर्गी खाई।
खालाकेरी बेटी ब्याहै घर ही मै करैं सगाई।।'

कबीर मनुष्यता के हितार्थ मूर्तिपूजा, तिलक, छाया, तीर्थाटन, गंगा–स्नान, रोजा, हिंसा, जाति–प्रथा, वर्ण एवं वर्ग का विरोध करते हुए कहते है। यथा :–

'माला फेरत जग मुया गया न मन का फेर।
कर का मनका डारि के मन का मनका फेर।।'
'उॅचे कुल का जनमिया करनी उॅच न होय।
सुर्वण कलश सुरा भरा साधू निदां होय।।'
'पाहन–पूजै हरि मिलै तौ मै पूजू पहार।
घर की चाकी क्यों न पूजै पीसि खाय संसार।।'

संत कवि और सुप्रसिद्ध समाज–सुधारक कबीरदास अनुभव जन्य बात को महत्व देते हुए समाज–कल्याण की बात करते है। यथा :–

'तू कहता कादाद की लेखी, मै कहता आंखन की देखी।
मै कहता सुरझावन हारी, तू राखो उरझोय रे।।'

वर्तमान में समाज के ठेकेदारों की तरह तत्कालीन युग में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो पाखंडी और भ्रम फैलाने वाले थे। कबीर ऐसे लोगों के झांसे में न आने और समाज को आत्मा–परमात्मा की एकनिष्ठता की बात करते हुए समझाते है। यथा :–

'जल में कुम्भ है कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी फुटा कुम्भ जल जलाहि समाना यह तत कहे हु गियानी।।

कबीर के अनुसार सद्गुरू ही व्यक्ति को माया के बन्धन से छुटकारा दिलाता है। वही ईश्वर से उसका साक्षात्कार करवाता है। गुरू महिमावान है। उसका गुणगान कबीर इस प्रकार करते है। जैसे –

'सतगुरू ही महिमा अनंत अनंत किया उपगार,
लोचन अनंत उधाडिया, अनंत दिखावणहार।।'

स्थान भेद पर कबीर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते है। उनकी दृष्टि में सभी स्थान बराबर है। कोई भी स्थान अपवित्र नही है। यथा :–

'सलग जनम शिवपुरी गँवाया।
मस्ती भरा मगहर उठि धाईया।।'

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संत साहित्य मानव–जाति के लिए प्रेरणा का उत्स है। भलाई का भाव अपने–अंदर समेटे हुए है। कोई भी संत–कवि लोक–कल्याण की भावना से रिक्त नही है। उनका तो एकमात्र उद्देश्य था मानक जाति का कल्याण और कल्याण.....

सन्दर्भ-सूची :-

1. सूफी–संत काव्य– प्रभाकर माचवे–भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, सम्पादन : डॉ0. नगेन्द्र।
2. सूफी–संत काव्य– प्रभाकर माचवे, वही।
3 सूफी– संत काव्य– प्रभाकर माचवे, वही।
4. कुमार सम्भव– कालिदास 'संत के लदाव'
5 रामचरित मानस– तुलसीदास उतरकाण्डै।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 145-151

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

पर्यावरणीय चुनौतियाँ एवं वैदिक कालीन दृष्टिकोण

डॉ. (श्रीमती) मंजुलता कश्यप

सहायक प्राध्यापक (अर्थशास्त्र), शासकीय टी.सी.एल. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जांजगीर (छ.ग.)

सारांश :-

भारतीय वेद पुराणों में सृष्टि की जीवनदायी तत्वों की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में अग्नि के रूप, रूपान्तरण कार्य एवं गुणों की व्याख्या की गयी है। यजुर्वेद में वायु के गुणों, कार्यो एवं उसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। सामवेद मे जल तत्व का विस्तार से वर्णन किया गया है। स्कंद पुराण के अनुसार गंगादशमी के दिन नदी में स्नान करने से समस्त पापों का नाश होता है। वराहपुराण के अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल दशमी के दिन गंगा में स्नान करने से समस्त पापों से मुक्ति मिलती है। भविष्यपुराण में लिखा है – जो मनुष्य गंगा दशहरा के दिन गंगा मे खड़ा होकर दस बार गंगा महिमा को पढ़ता है, समस्त पाप से मुक्त हो जाता है। स्कंदपुराण में नर्मदा को सर्वाधिक पवित्र एवं पुण्यदायिनी मानकर उसकी स्तुति की गई है। जल की महत्ता पर ऋग्वेद में नदी सूक्त की रचना की, नदियों से धार्मिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्ष जुड़ा हुआ है। सनातन धर्म के सोलह संस्कारो में जल को विशेष महत्व दिया गया है। प्रत्येक संस्कार में जल पूजन एवं स्नान का विशेष महत्व है। बच्चों के जन्म उपरान्त कुंआपूजन के बाद जल स्पर्श के पीछे यही कारण है कि ''जल ही जीवन है'' उसे संरक्षित रखना आवश्यक है।

अथर्ववेद पृथ्वी तत्व का मुख्य वेद है। आकाश तत्व का वर्णन सभी वेदों मे हुआ है।

मनीषियों ने पांच तत्वों के महत्व एवं संरक्षण के लिए भगवान या अल्लाह के साथ जोड़ी है, भगवान– भूमि, गगन, वायु, अग्नि, नीर। अलइलअह (अल्लाह) – आब (पानी), लाब (भूमि), इला (वायु), आत्र (आसमान), हृ (अग्नि)

वैदिक महर्षियों ने प्राकृतिक शक्तियों को देवी का रूप माना। भारतीय दर्शन सहजीविता का है। भगवान् महावीर ने भी पर्यावरण – मिट्टी, पानी, हवा, वृक्ष आदि को सजीव कहा है। वैदिक कर्मकाण्डों में अनेक स्थानों पर पर्यावरण के संरक्षण का महत्व समझाया गया है। यजुर्वेद में यज्ञों को ही पर्यावरण शुद्धि का केन्द्र माना है। सामवेद में प्राकृतिक वैभव के साथ ही वनस्पति एवं पशु जगत के संरक्षण के महत्व को भी बताया गया है। वृक्षों के प्रति प्रेम भाव हमेशा ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। महाभारत के शांति पर्व में पेड़–पौधो में जीवन माना गया है।

पद्मपुराण के अनुसार – सभी वृक्ष ईश्वर के स्वरूप है। स्कंदपुराण के अनुसार –एक वृक्ष का रोपण दस पुत्रों के समान है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में वृक्ष पुत्र की भांति इहलोक और परलोक सुधारने वाला माना गया है।

भविष्यपुराण के अनुसार कोई व्यक्ति यदि पीपल, नीम, बरगद आदि लगाता है तो नरक में नहीं जाता। पद्मपुराण एवं मत्स्यपुराण में वृक्षारोपण एक महोत्सव के रूप में मनाने का वर्णन है। वृद्धदारण्यक उपनिषद में वृक्ष की तुलना मानव शरीर से की गई है। पुराणों में वृक्षों में देवी–देवताओं का निवास होने की बात कही गयी है। स्कंदपुराण के अनुसार पीपल के मूल में विष्णु, तने में केशव, शाखाओं में नारायण, पत्तों में भगवान हरि विराजमान है।

तुलसी का पौधा मनुष्य को सबसे अधिक प्राणवायु ऑक्सीजन देता है।

''वृक्ष जल है, जल अन्न है, अन्न जीवन है'' वेदों का संदेश है कि मानव शुद्ध वायु में सांस ले, शुद्ध जल पान करे, शुद्ध अन्न फल का भोजन करे, शुद्ध मिट्टी में खेले कूदे और कृषि करे तब ही वेद प्रतिपादित उसकी आयु – ''शं जीवेत् शरदः शतम्'' हो सकती है।

मुख्य शब्द – (1) पर्यावरणीय चुनौतियाँ (2) वेदों में वर्णित पर्यावरण संरक्षण संबंधी विचार
(3) वैदिक कालीन दृष्टिकोण की उपादेयता

अध्ययन का उद्देश्य– (1) पर्यावरणीय चुनौतियों का अध्ययन।
(2) वैदिक कालीन पर्यावरण संरक्षण नीतियों का अध्ययन।
(3) पर्यावरणीय चुनौतियों के लिए वैदिक कालीन दृष्टिकोण की उपादेयता का अध्ययन।

अध्ययन विधि – द्वितीयक समंको पर आधारित।

प्रस्तावना :–

जीवन के बाकी पक्षों की तरह हमें पर्यावरण के विषय में भी इतिहास से सीखना चाहिए। मध्ययुग में स्पेन एक समुद्री महाशक्ति बन गया था, परन्तु जहाजों के बनाने में स्पेनवासियों ने इतने जंगल काट डाले कि स्पेन वीरान हो गया। उन दिनों भारत की धरती शस्य श्यामला थी सुख और समृद्धि का जीवन था। इतिहास का यही संदेश है कि जो सभ्यताएं प्रकृति का सम्मान करेगी, वही भविष्य में समृद्धि की ओर अग्रसर होगी। भारतीय मानसिकता, आस्थाएं और जीवन शैली में बिगड़ते पर्यावरण की चुनौतियों का सामना करने की शक्ति विद्यमान है।

हमारे पूर्वजों के अनुसार अपनी आवश्यकताओं को सीमित करते हुए जीवन बिताने की भारतीय आदत पर्यावरण संरक्षण में सहायक थी। इसलिए हमारी संस्कृति जीवित है। हमारे पूर्वजों ने प्रकृति और प्राणी के संबंध को बड़ी बारीकी से समझा था, और निष्कर्ष निकाला था– ''यत पिण्डै, तथैव ब्रम्हाण्डे।'' ''क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा, पांच तत्व मिलि बनेहु शरीरा।'' इनमें से यदि एक घटक न रहे या प्रदूषित हो जाए तो जीवन संकट में पड़ सकता है।

पंचत्तवों से बना शरीर तब तक स्वस्थ्य रह सकता है। जब तक इन घटकों का बाहरी जगत से संतुलन बना रहे। मनुष्य का जीवन तब तक है जब तक वायुमण्डल में प्राण वायु अर्थात् ऑक्सीजन है, प्राण वायु तब तक है जब तक उसका निर्माण करने वाले पेड़ और वनस्पति पृथ्वी पर विद्यमान है। पेड़ और वनस्पति जब तक है जब तक धरती पर मिट्टी और पानी है। किसी भी कड़ी को तोड़ने पर पूरी श्रृंखला टूट जायेगी।

पर्यावरणीय चुनौतियाँ :–

जलवायु परिवर्तन के फलस्वरूप ध्रुवीय बर्फ के पिंघलने के कारण विश्व का औसत समुद्री जल स्तर

21वीं शताब्दी के अंत तक 9 से 88 से.मी. तक बढने की संभावना है। जिससे दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या जो समुद्र से 60 कि.मी. की दूरी तक रहती है, पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। बांग्लादेश का गंगा ब्रम्ह पुत्र डेल्टा, मिस्त्र का नील डेल्टा तथा मार्शल द्वीप और मालदीव सहित अनेक छोटे द्वीपों का अस्तित्व वर्ष 2100 तक समाप्त हो जायेगा।

जलवायु परिवर्तन के परिणामस्वरूप भारत के उड़ीसा, आंधप्रदेश, तमिलनाडु, केरल कर्नाटक, महाराष्ट्र गोवा, गुजरात तथा पश्चिम बंगाल राज्यों के तटीय क्षेत्र जलमग्नता के शिकार होगें। समुद्र के जलस्तर में वृद्धि से मीठे जल के स्त्रोत दूषित होगें, परिणामस्वरूप पीने के पानी की समस्या होगी। समुद्री जल में, उष्णता के परिणामस्वरूप शैवालों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। ग्लोबल कोरल रीफ मॉनीटरिंग नेटवर्क (आस्ट्रेलिया) का अनुमान है कि वर्ष 2050 तक सभी प्रवाल भित्तियों की मृत्यृ हो जायेगी।

एक अनुमान के अनुसार अगर वर्तमान वैश्विक तापवृद्धि की दर जारी रही तो भारत में वर्षा सिंचित क्षेत्रों में 12.5 करोड़ टन खाद्यान्न उत्पादन में कमी आएगी। शीत ऋतु में 0.50 सेल्सियस तापमान वृद्धि के कारण गेहूँ फसल के उत्पादन में 10 प्रतिशत तक की कमी आ सकती है। वैश्विक जलवायु परिवर्तन के फलस्वरूप बाढ़, सूखा तथा आँधी तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं की बारम्बरता में वृद्धि के कारण अनाज उत्पादन में गिरावट दर्ज होगी। स्थानीय खाद्यान्न उत्पादन में कमी भूखमरी और कुपोषण का कारण बनेगी। जिससे स्वास्थ्य पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़ेगें। खाद्यान्न और जल की कमी से प्रभावित क्षेत्रों में टकराव पैदा होगे।

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव जैव विविधता पर भी पड़ेगा। किसी भी प्रजाति को अनुकूलन हेतु समय की आवश्यकता होती है। वातावरण में अचानक परिवर्तन से अनुकूलन के अभाव में उसकी मृत्यु हो जायेगी। जैव–विविधता क्षरण के परिणाम स्वरूप पारिस्थितिक असंतुलन का खतरा बढ़ेगा। जलवायु में उष्णता के कारण उष्ण कटिबंधीय वनों में आग लगने की घटनाओं में वृद्धि होगी। परिणामस्वरूप वनों में विनाश के कारण जैव विविधता का ह्वास होगा।

वैश्विक जलवायु परिवर्तन का प्रभाव मानव स्वास्थ्य पर भी पड़ेगा। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार जलवायु में उष्णता के कारण श्वास तथा हृदय संबंधी बीमारियों में वृद्धि होगी। विकासशील देशों में क्षयरोग, पीत ज्वर, टाइफाइड जैसी संक्रामक बीमारियों की बारम्बता में वृद्धि होगी। मच्छर जनित बीमारियों का विस्तार उत्तरी अमेरिका तथा यूरोप के ठंडे देशों में भी होगा। मानव स्वास्थ्य पर जलवायु परिवर्तन के प्रभाव के कारण एक बड़ी जनसंख्या विस्थापित होगी जो पर्यावरणीय शरणार्थी कहलायेगी।

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव हिमनदों (ग्लेशियर) पर भी पड़ेगा। उष्णता के कारण हिमनद पिंघल कर खत्म हो जायेगे। एक शोध के अनुसार भारत के हिमालय क्षेत्र में वर्ष 1962 से 2000 के बीच हिमनद 16 प्रतिशत तक घटे है। अगर पिंघलने की वर्तमान दर कायम रही तो जल्दी ही हिमालय से सभी हिमनद समाप्त हो जायेगें जिससे नदियों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। इन नदियों पर स्थित जलविद्युत ऊर्जा इकाईयां बद हो जायेगी। परिणामस्वरूप विद्युत उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त सिंचाई हेतु जल की कमी के कारण कृषि उत्पादकता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

वातावरण में कार्बन डाई आक्साइड की वृद्धि के कारण पौधों में कार्बन स्थिरीकरण मे वृद्धि होगी। जिससे मृदा से पोषक तत्वों के अवशोषण की दर कई गुना बढ जाएगी। जिसके कारण मृदा की उर्वरा शक्ति पर

प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

वेदो में वर्णित पर्यावरण संरक्षण संबंधी विचार :-

1. हम प्रकृति से उतना ग्रहण करे जितना हमारे लिए आवश्यक है।
2. प्रकृति की पूर्णता को क्षति न पहुंचे।
3. अत्यधिक गहराई तक खोदने मे (स्वर्ण कोयला आदि) मे सावधानी रखे। उसे व्यर्थ खोदकर उसकी शक्ति को नष्ट न करें।
4. ऋग्वेद में वायु के गुण बताते हुए कहा गया है – शुद्ध ताजा वायु अमूल्य औषधि है।
5. वृक्षों से ही हमें खाद्य सामग्री प्राप्त होती है।
6. अथर्ववेद में कहा गया है – भोजन और स्वास्थ्य देने वाली सभी वनस्पतियाँ इस भूमि पर ही उत्पन्न होती है।
7. वेदों में जल, पृथ्वी वायु, अग्नि, आकाश आदि के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट करने पर अत्यधिक बल दिया गया है।
8. जल जीवन का प्रमुख तत्व है। इसलिए वेदों में अनेक संदर्भो में उसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। जल में अमृत है, जल मे औषधि गुण विद्यमान है। अथर्ववेदीय पृथ्वी सूक्त में जल तत्व पर विचार करते हुए उसकी शुद्धता को स्वस्थ्य जीवन के लिए नितांत आवश्यक माना गया है। जल संतुलन से ही भूमि में अपेक्षित सरसता रहती है।
9. वायु में जीवनदायिनी शक्ति है। वेदों में वायु की स्तुति की गई है जिससे जीवों का निरन्तर सम्यक विकास होता रहे।
10. सभी प्राणियों के प्रति सहृदयता का परिचय देना ही जीवन का सही लक्षण है। आज जिसे पारिस्थितिकी तंत्र कहते है उसमें भी तो रचना तथा कार्य की दृष्टि से विभिन्न जीवों और वातावरण की मिली जुली इकाई का ही स्वरूप विश्लेषण किया जाता है।
11. ऋग्वेद में अग्नि को पिता के समान कल्याण करने वाला कहा गया है।
12. ऋग्वेद में सूर्य को पिता, पृथ्वी को माता और किरण समूह को बंधु के समान आदर देने का स्पष्ट निर्देश है।
13. वेद का स्पष्ट निर्देश है कि लोग प्रकृति के प्रति सदा पूर्ण श्रद्धा रखे।
14. पेड़ पौधो के प्रति आस्था, श्रद्धाभाव तथा प्रकृति पूजन की अनवरत संस्कृति हमें वेदों से मिली है।
15. मत्स्य पुराण में ऋषियों ने एक वृक्ष की तुलना सौ पुत्रों के समान की है।
16. सनत मुनि के अनुसार जीवन में शांति के लिए प्रकृति से जुड़ना जरूरी है।
17. पेड़ो में भी चेतना होती है, इसलिए इन्हे मनुष्य के समतुल्य माना गया है। तुलसी का पौधा मनुष्य को सबसे अधिक प्राणवायु ऑक्सीजन देता है।
18. ऋग्वेद में देवताओं को 3 वर्गों में विभाजित किया गया है – जल, वायु और भूमि के देवता।
19. वेदों में पृथ्वी को माता और आकश को पिता कहा गया है। वेदों में जल को अमृत कहा गया है। जीवन के लिए शुद्ध वायु अति आवश्यक है।

20. अथर्ववेद के अनुसार – जीवन के लिए वायु अति आवश्यक है।

21. ऋग्वेद में संपूर्ण पृथ्वी की स्वच्छता पर बल दिया गया है।

पर्यावरणीय चुनौतियों के लिए वैदिककालीन दृष्टिकोण की उपादेयता :-

भारतीय संस्कृति पर्यावरण संरक्षण प्रधान रही है। जो आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करती है। यह स्पष्ट करती है कि मानव के प्राणों की सुरक्षा तथा पवित्रता की सुरक्षा प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा पर निर्भर करती है। आज जरूरत इस बात की है कि मानव अपनी शक्ति को देशहित में सुदृढ़ बनाए और नैतिक मूल्यों को समझे। तब ही भौतिकवादी प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकता है।

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के संरक्षण को अधिक महत्व दिया गया है। यहां मानव जीवन को हमेशा मूर्त या अमूर्त रूप में पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, नदी, वृक्ष एवं पशुपक्षी आदि के साहचर्य में ही देखा गया है। भारतीय चिन्तन में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा उतनी ही प्राचीन है जितना यहां मानव जाति का ज्ञात इतिहास है। प्राचीन काल में पर्यावरण संरक्षण हमारे नियमित क्रियाकलापों से जुड़ा हुआ था। इसी कारण वेदों से लेकर कालिदास, पंत, प्रसाद आदि तक सभी के काव्यों में इसका व्यापक वर्णन किया गया है।

समुद्र मंथन से वृक्ष जाति के प्रतिनिधि के रूप में कल्पवृक्ष का निकलना, देवताओं द्वारा उसे अपने संरक्षण में लेना, इसी तरह कामधेनु और ऐरावत हाथी का संरक्षण इसके उदाहरण है। कृष्ण की गोवर्धन पर्वत की पूजा की शुरूआत का लौकिक पक्ष यही है कि जनसामान्य मिट्टी, पर्वत, वृक्ष एवं वनस्पति का आदर करना सीखे।

भारतीय विचारधारा में जीवन का विभाजन भी प्रकृति पर ही आधारित था। चार आश्रमों में से तीन तो पूरी तरह से प्रकृति के साथ ही व्यतीत होते थे। जिस प्रकार राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार संतुलन बनाए रखने हेतु पृथ्वी का 33 प्रतिशत भू–भाग वनाच्छादित होना चाहिए ठीक इसी प्रकार प्राचीन काल में जीवन का एक तिहाई भाग प्राकृतिक संरक्षण के लिए समर्पित था। जिससे कि मानव प्रकृति को भली–भांति समझकर उसका समुचित उपयोग कर सके और प्रकृति का संतुलन बना रहे।

भारतीय संस्कृति मूलतः अरण्यक संस्कृति रही है। जन्म से ही मनुष्य का नाता प्रकृति से जुड़ा है। इसी कारण प्रकृति की आराधना तथा पर्यावरण का संरक्षण करना हमारा पुरातन भारतीय चिन्तन है। प्रकृति के साथ सह अस्तित्व की भावना से युक्त जीवन व्यतीत करने वाले वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक शक्तियां – वसुन्धरा, सूर्य, वायु, जल आदि की भावपूर्ण स्तृति की है। वैदिक ऋषियों ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व उद्घोषित किया था– ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या'' अर्थात् वसुंधरा जननी है हम सब उसके पुत्र है। भारतीय संस्कृति मे प्रकृति पूजन किसी न किसी रूप में पर्यावरण संरक्षण से जुड़ा हुआ है।

ऋषि मुनियों ने पर्यावरण के विभिन्न घटकों के साथ मानव के संबंध विकसित कर दिए जिससे मनुष्य को पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुंचाने से रोका जा सके।

मनुष्य पांच तत्वों – जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी और वायु से मिलकर बना है। वैदिक काल से इन तत्वों को देवता मानकर इनकी रक्षा करने का निर्देश है। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है – वृक्षो में मै पीपल हूँ।

भारतीय पौराणिक ग्रंथों के अनुसार ग्रहों व नक्षत्रों से संबंधित पौधों का रोपण व पूजन करने से मानव का कल्याण होता है।

संपूर्ण जैव मण्डल को सुरक्षा कवच देने वाले दो तत्व है – प्राकृतिक एवं मानवीय तत्व।

वृक्षों की रक्षा के लिए प्रकृति को धर्म से जोड़कर पर्यावरण पर सकारात्मक प्रभाव डालने वाले तीन वृक्षों को त्रिमूर्ति तैयार की और उन्हे काटना वर्जित कर दिया। ये तीन वृक्ष है –पीपल, वट, नीम। औषधीय प्रभाव के कारण आँवले और भामी के वृक्ष को तथा कीटाणुनाशक गुणों के लिए तुलसी के पौधे को पवित्र घोषित किया गया। जीवनदायिनी नदियों को देवी और माँ तथा जलाशयों को देवताओं की क्रीड़ा भूमि बताकर उनकी निर्मलता के रक्षा के प्रयास हुए।

हमारे देश की समग्र सभ्यता, संस्कृति, धर्म एवं दर्शन का विकास वनों में वृक्षों के नीचे ही हुआ है। हम सब वैदिक सभ्यता के अनुयायी है। वैदिक ज्ञान के वांग्मय में अरण्यक ग्रंथों का विशेष स्थान है। जिन वृक्षों के नीचे बैठकर ऋषियों ने ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति की और हमारे सामाजिक जीवन की रूपरेखा बनाई, गुरूकुलों में राष्ट्र के कर्णधारों, राजाओं, कवियों दार्शनिकों का निर्माण किया गया जो वृक्ष उन गुरूकुलों की भोजन व्यवस्था, छाया तथा निर्माण सामग्री के साधक बने उन वृक्षों के महत्व को विस्मरण कर देना संभव नहीं है। वृक्षों के पूजन की जो परम्परा भारतीय धर्म विधान में पायी जाती है तथा वृक्षों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है।

यदि हम वैदिककालीन दृष्टिकोण का अनुपालन करे तो पर्यावरणीय चुनौतियों का समाधान हो जायेगा। वर्तमान में भौतिकतावादी संस्कृति से समस्याएं उत्पन्न हो रही है।

निष्कर्ष :-

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को दैवतुल्य स्थान प्राप्त है। भारतीय संस्कृति में वेदों, पुराणों, धार्मिक ग्रंथो को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आदिम सभ्यता से ही प्रकृति के विविध रूपों की पूजा का विधान भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। भारतीय चिन्तन परम्परा में पर्यावरण संरक्षण की धारणा उतनी ही प्राचीन है जितना यहां मानव जाति का ज्ञात इतिहास है।

आज के इस भौतिक युग में मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में प्राचीन, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की भावनाओं को जीवन से निरोहित कर रहा है। प्रकृति के दोहन से अधिकाधिक अर्थ लाभ की भावना में वृद्धि हो रही है। वृक्ष पूजा केवल प्रतीकात्मक रह गई है। गोचर भूमि पर अतिक्रमण हो रहा है। नदियों में कल–कारखानों का प्रदूषित जल प्रवाहित हो रहा है।

आज भी हमारी पुरातन पर्यावरण संरक्षण की प्रथाओं को सामाजिक स्तर पर प्रधानता देते हुए इन परम्पराओं का अनुगमन दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ किया जाए तो पर्यावरण संतुलन तथा संरक्षण को प्रगाढ़ता मिलेगी।

संदर्भ :-

From Internet -

1. भारतीय संस्कृति में पर्यावरण और वनों की उपयोगिता।
2. भारतीय संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण।
3. भारतीय संस्कृति में वृक्षों का महत्व।
4. भारतीय संस्कृति में निहित है पर्यावरण का संदेश।
5. वैदिक चिन्तन से ही बचेगा पर्यावरण।

6. वेदो में पर्यावरण संतुलन का महत्व – आचार्य जयकान्त।
7. वेदो में पर्यावरण संतुलन का महत्व – डॉ. सीताराम झा।
8. भारत के मूल दर्शन में प्रकृति संरक्षण।
9. सदियो से हमारी संस्कृति और परम्परा समर्पित है प्रकृति के लिए – लोकेन्द्र सिंह
10. भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का संरक्षण – शंकर लाल माहेश्वरी।
11. भारतीय संस्कृति में पर्यावरण की चिन्ता – ध्रुव गुप्ता।
12. भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संचेतना – मनीष कुमार कुर्रे।
13. भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण।
14. भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का महत्व – डॉ. सौरभ मालवीय।
15. पर्यावरण संरक्षण व प्रकृति पूजा – भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग – सुखदेव वशिष्ठ।
16. पर्यावरण बचाने के लिए भारतीय संस्कृति को बचाना होगा।
17. पर्यावरण संरक्षण और हमारी संस्कृति – सुखदेव वशिष्ठ।
18. वृक्षों का आध्यात्मिक महत्व।
19. पर्यावरण संरक्षण और भारतीय संस्कृति – बुद्धि प्रकाश।
20. पर्यावरण संरक्षण – प्राचीन भारतीय दर्शन – अखिलेश कुमार पाण्डेय।
21. समय का समरूप हे वटवृक्ष।
22. ब्रम्हा, विष्णु एवं शिव का रूप है – बड़, पीपल एवं नीम।
23. भारतीय परम्पराओं में वृक्ष पूजा का विशेष महत्व।
24. भारतीय संस्कृति में प्रकृति का महत्व एवं वर्तमान परिस्थिति।
25. पर्यावरण संरक्षण में हमारी भूमिका।
26. पर्यावरण की वर्तमान चुनौतियां व उनका समाधान।

मो.नं. 9584895167

Email – kashyapmanju6@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 152-154

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति एवं पर्यावरण – एक अटूट रिश्ता

डॉ. दीपक सालवी

शोध निर्देशक एवं सहायक आचार्य, चित्रकला विभाग, राजकीय मीरा महाविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

मोहम्मद रमजान

शोधार्थी चित्रकला विभाग, गोविन्द गुरु जनजातीय विश्वविद्यालय, बांसवाड़ा, राजस्थान।

सार :–

प्रस्तुत शोध पत्र में भारतीय संस्कृति व पर्यावरण के बीच पाये जाने वाले घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट किया गया है। पर्यावरण किस प्रकार मानव समाज के लिए उपयोगी है। यह बताते हुए भारतीय समाज में पर्यावरण व इसके विभिन्न अंगो की पूजा की जाती है पर जोर दिया गया है। साथ ही सम्पूर्ण विश्व में भारतीय संस्कृति के महत्व पर जोर दिया गया है। और संस्कृति का अर्थ व महत्व भी बताया गया है।

संस्कृति का अर्थ व महत्व :–

संस्कृति शब्द कृ धातु से बना है। अंग्रेजी में संस्कृति को कल्चर कहा जाता है। जो कि लैटिन भाषा के कल्ट या कल्टस से बना है। जिसका अर्थ होता है जोतना, विकसित करना, या परिष्कृत करना होता है। संस्कृति का शब्दार्थ उतम या सुधरी हुई स्थिति होता है। मनुष्य एक प्रगतिशील प्राणी है। यह अपने चारो और की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता रहता है। संस्कृति का संबंध ज्ञन कर्म व रचना से माना जाता है। किसी भी देश व क्षेत्र की संस्कृति का संस्कारमय होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक सामाजिक परिवेश होता है। जिसमें वह अपना विकास करता है। वही उसका पर्यावरण होता है। हवा, पानी, मिट्टी, पेड़ से लेकर छोटे से छोटे प्राणी के लिए सांस्कृतिक पर्यावरण में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संस्कृति मनुष्य को संस्कार प्रदान करती है संस्कृति किसी समाज में गहराई तक मौजूद गुणों का समग्र स्वरुप होता है।

सभ्यता संस्कृति का अंग है सभ्यता मनुष्य के भौतिक गुणों व क्षेत्र की प्रगति को सूचित करती है। जब कि संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति होती है। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही संतुष्ट नही होता है। मनुष्य भोजन से ही नही जीता है उसे और कुछ भी चाहिए। शरीर के साथ साथ मन और आत्मा तो अतृप्त ही बनी होती है।

संस्कृति जीवन जीने की एक विद्यि है। हम जो भोजन खाते है कपडे पहनते है भाषा बोलते है। भगवान् की पूजा करते है। यह सब सभ्यता कहलाते है। तथा इससे संस्कृति भी दिखाई देती है। संस्कृति उस विद्यि का प्रतिक है जिसके आधार पर हम सोचते है और कार्य करते है। संस्कृति को सर्वोत्तम का प्रकाशन माना जाता है। परन्तु सर्वोत्तम मिट्टी, ईंट या पाषाण खण्ड के रुप में रहकर पिरमार्जित परिष्कृत संस्कृति होती है। संस्कृति

सरिता का प्रवाह मार्ग है। जो समय समय पर बदलता रहता है। संस्कृति जीवन के उन समतोलों का नाम है। जो मनुष्य व्यवहार, ज्ञान एवं विवेक उत्पन्न करते है। संस्कृति मानवीय संस्थाओं को गति प्रदान करती है। सस्कृति साहित्य एवं भाषाओं का गति प्रदान करती है और मानव जीवन के आदर्श एवं सिद्धांतो को प्रकाशमान करती है। संस्कृति समाज के भावानात्क एवं आदर्श विचारों में विद्यमान है।

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण :-

भारत के सांस्कृतिक धरातल पर पर्यावरण का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को देव तुल्य मानकर उसकी पूजा की जाती है। इसी कारणवश भारतीय संस्कति में पर्यावरण के अंगों जल, वायु, भूमि, को देवता मानकर देखा जाता है। मनुष्य जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, वायु से मिलकर बना है। वैदिक काल से ही इन तत्वों को पूजा जाता है। भारतीय संस्कृति पर्यावरण संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका व सकारात्मक भूमिका निभाती है। मानव व प्रकृति के बीच अटूट रिश्ता पाया जाता है। यह रिश्ता पूर्ण रुप से वैज्ञानिक है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में पेड़–पोधों, पहाड़, झरनों, पशु–पक्षियों, जंगली जानवरों, नदियों, तालाबों, वन, मिट्टियों यहा तक की पत्थरों की भी पूजा की जाती है। मानव जाति द्वारा इन सबको सम्मान पूर्वक देखा जाता है। मनुष्य नास्तिक हो या आस्तिक, धार्मिक हो या अधार्मिक इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। लेकिन पर्यावरण हमारे चारों और मौजूद है।

हवा, भोजन, पेड़, पौधे, पानी, जीव जन्तु का जीवन में जितना महत्व आस्तिक का है। उतना ही महत्व नास्तिक का है। भारतीय संस्कृति पूर्ण रुप से पर्यावरण को संरक्षण प्रदान करने वाली रही है। जो पर्यावरण प्रदूषण पर पूर्ण रुप से प्रतिंबध लगाती है। भारतीय संस्कृति में प्राचीन समय से ही विभिन्न तत्वों जैसे पेड़ो में पीपल, बरगद, साल, खेजड़ी आदि वृक्षों को समय–समय पर पूजा जाता है। मानव का स्वभाव शुरु से ही ऐसा रहा है। जिससे उसे फायदा होता है। वह उसे पूजने लग जाता है। भारत के किसी ना किसी मांगलिक कार्य पर किसी ना किसी पर्यावरण के तत्व की पूजा की जाती है।

रसखान, कबीरदास, तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को अच्छी तरह से चित्रित किया है। कालीदास ने पर्यावरण संरक्षण के विचार को मेघदूत तथा अभिज्ञान शंकुतलम में दर्शाया है। विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों वनो नदियों, जीव जन्तुओं, पशु पक्षियों की बहुत प्रसन्नता की गई है। भारत के पर्यावरण में मौजूद पेड़, पौधो से अनेक रोगों का ईलाज कर दिया जाता है। भारतीय संस्कृति में वन्य प्राणियों के प्रति प्रेम तथा आदर की भावना के बाद भी आज अनेक प्रजातिया विलुप्त होती जा रही है। इसको लेकर सभी चिंतित है।

मानव जीवन के अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए औषधि, उदर पूर्ति के लिए कन्दमूल, शरीर को ढकने के लिए वस्त्र उद्योग को चलाने के लिए कच्चा माल, भूमि का उपजाऊ तथा भू स्खलन से बचाने के लिए पेड़ पौधों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।

कार्बनडाइ ऑक्साइड को अमृत रुपी ऑक्सीजन में परिवर्तित पेड पौधे ही करते है। गीता में स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं कि पेड़ों में स्वयं पीपल का वृक्ष हूँ। तुलसी का पौधा विष्णुप्रिया के रुप में पूजा जाता है। भारतीय संस्कृति में संतान प्राप्ति के लिए बरगद की पूजा की जाती है। चंदन की लकड़ी चिता से लेकर माथे की शोभा बढ़ाता है और चंदन की लकड़ी अपनी शीतलता के लिए जानी जाती है। भारतीय शास्त्रों में यहां तक कहा गया है कि 100 पुत्रों से वह सुख नहीं मिलता जो एक पेड़ लगाने से मिलता है। भारतीय संस्कृति में नीम का पूर्ण

चिकित्सक, ऑवले को भोजन, पीपल को शुद्व वायुदात्री, पाकड़ और वट के युग्म वृक्षों, को जल संग्राहक माना गया है। भारतीय संस्कृति में विभिन्न त्यौहारों पर वट, पीपल, नीम, आम, केला, तुलसी के पौधे की पूजा की जाती है। तथा गाय, कुत्ता, चिडिया, कोओं आदि को खाना खिलाया जाता है। क्योंकि इस सभी जीवों द्वारा पर्यावरण को शुद्व किया जाता है। प्रकृति से सामंजस्य स्थापित कर जीवनयापन करने के लिए आध्यात्मिकता को अपने जीवन का अंग बनाकर प्रकृति से केवल आवश्यकता भर प्राप्त करने का मूल मंत्र हमने सीखा है।

इस कारण विभिन्न धर्मो सनातन जैन बौद्व, धर्म में अन्न को बर्बाद होने से रोकना है। अधिक अन्न का संग्रह ना करना अपने शरीर को प्रकृति के अनुसार ढालना, स्वस्थ शरीर, के लिए शुद्व वायु पर निर्भर रहना है। भारत में आर्यो के आगमन से पूर्व सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त मुहरों पर अंकित चित्रों, से स्पष्ट है कि सिंधु घाटी के निवासी वृक्षों की पूजा किया करते थे। प्राचीनकाल से ही पेड़ो को सीचने की परम्परा चली आ रही है। बैशाख महिने मे भारतीय महिलाएं व बालिकाएं पीपल के वृक्षों को सींचती है। इसके पीछे यही धारणा है कि गर्मी से जीवों रक्षा हो सके। पेड़ों व जानवरों के बचाव के लिए गोचर भूमि रखी जाती है। भारतीय संस्कृति में वन्य जीवों को पर्यावरण का महत्वपूर्ण अंग माना गया है।

संन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. भारतीय कला एवं संस्कृति, नितिन सिंघानिया 2012
2. पर्यावरण शब्दकोश, अनिल कुमार मिश्रा, प्रभात पब्लि. 2018
3. संस्कृत संस्कृति एवं पर्यावरण, डॉ. प्रवेश सक्शेना, परिमल पब्लि. 2016
4. वैदिक साहित्य में प्रकृति पूजा, डॉ. प्रभात कुमार सिंह, परिमल पब्लि.
5. यजुर्वेद में पर्यावरण, डॉ. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी, परिमल पब्लिकेशन, 2008
6. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, उतर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2009

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 155-158

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय कला और उसकी अवधारणा

नवीन

शोधार्थी, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ।

आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, कला एवं स्थापत्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

किसी समाज की संस्कृति की पहचान उसके साहित्य और कलाओं के द्वारा होती है। भारत की साहित्यिक परंपरा जितनी महान हैं। उसकी ललित कलाओं की परंपरा उतनी ही समृद्ध और महान है। "भारतीय कला भारतीय संस्कृति की वाहिका है।" भारतीय कला को जानने के लिए उपवेद, शास्त्र, पुराण और पुरातत्व और प्राचीन साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। कला का मानक का स्वरूप अपने आप में निहित है। भारतीय कला अपनी प्राचीनता तथा विश्व विविधता के लिए विख्यात रही है। 'कला' शब्द की उत्पत्ति कल धातु में अच् तथा टापू प्रत्यय लगाने से हुई है (कल् अच् टापू), जिसके कई अर्थ हैं – शोभा, अलकरण, किसी वस्तु का छोटा अंश या चन्द्रमा का सोलहवा अंश आदि। वर्तमान में कला को अंग्रेजी के आर्ट शब्द का उपयोग समझा जाता है, जिसे पांच विधाओं – संगीतकला, मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला और काव्यकला में वर्गीकृत किया जाता है। इन पाँचों को सम्मिलित रूप से ललित कलाएँ कहा जाता हैं।

आचार्य क्षेमराज के अनुसार 'अपने (स्व) किसी न किसी वस्तु के माध्यम से व्यक्त करना ही कला है और यह अभिव्यक्ति चित्र, नृत्य, मूर्ति, वाद्य आदि के माध्यम से होती है।' इस प्रकार कला मनुष्य की सौन्दर्य भावना को मूर्तरूप प्रदान करती है। वस्तुतः कला का उद्‌गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा का ही परिणाम है। वी. एस. अग्रवाल के शब्दों में, 'भारतीय कला देश के विचार, धर्म तत्वज्ञान तथा संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जनजीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है।' भारत की कलाकृतियों में अपनी कुछ विशेषताएँ है जो दूसरे देशों की कलाओं में परिलक्षित नहीं होती। सबसे पहली विशेषता है प्रेम, भवन, करुणा, शांति, उपरति आदि अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति की चेष्टा। भारतीय कलाकारों ने हृदय की अनुभूतियों तथा मनः स्थितियों को उभारने की विशेष चेष्टा की है। यूवान अथवा चीन की कला जहाँ यथार्थवादी है वहाँ भारतीय कला आदर्शोन्मुख यर्थाथवादी है।

भारतीय कला का प्रधान विषय धार्मिक और आध्यात्मिक है, परन्तु भारतीय कलाकार ने लोक जीवन के भौतिक स्वरूप की कहीं पर भी अवहेलना नहीं की है। मंदिर, स्तूप, चौत्य, विहार आदि धार्मिक भवनों की छतों, दीवारों, स्तम्भों तथा वेदिकाओं को सजाने में भारतीय कलाकार ने लोक जीवन की झाँकी भी अंकित की है। धार्मिक भावना से जुड़ी हुई एक विशेषता यह है कि भारतीय कलाकारों ने कला की उपासना के प्रति अपने आपको समर्पित कर दिया था। कलाकारों ने अपने पार्थिव जीवन को अपनी अमर कलाकृतियों के सम्मुख इतना नगण्य माना कि उन्होंने उनके साथ अपने नाम को जोड़ने की कभी कोशिश नहीं की। यही कारण है कि अजंता

जैसे प्रसिद्ध चित्रों के निर्माताओं के नाम हमें अविज्ञात है।

कला का प्रारंभिक रूप :–

भारत के प्रागऐतिहासिक काल की प्राचीनतम कला के नमूने हमें मोहजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाईयों से प्राप्त हुए हैं। जिनका समय पाँच से लेकर तीन हजार ई० पू० ठहराया जाता है। दूसरी खुदाइयों का सबंध अशोक के समय (263–232 ई० पू०) से है। दोनों ही कालों की कला प्रोढ़ है।

मौर्य काल (320–295 ई.पू.) में भारतीय कला ने और विकास किया। अशोक और मौर्य काल की कला के भग्नावशेष स्तूप, स्तंभ, गुफाएँ तथा राजप्रासाद के रूप में मिलते हैं। कहा जाता है कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के पश्चात अशोक ने अनेक स्तूपों और स्तंभों का निर्माण किया था। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार स्तंभों की संख्या 84 हजार थी। इनके अवशेष दिल्ली, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चंपारन तथा सांची आदि स्थानों पर मिले हैं। ये स्तंभ चुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं। सांस्कृतिक जीवन भारतीय कला की एक विशेषता उसमें अंकित सांस्कृतिक जीवन की सामग्री है। राजा और प्रजा दोनों के ही जीवन का खुल कर चित्रण किया गया है। कला मानों साहित्यिक वर्णनों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। कोई चाहे तो कला की सामग्री से ही भारतीय जीवन और रहन–सहन का इतिहास लिख सकता है। भारतीय वेशभूषा, केशविन्यास, आभूषण, शयनासन आदि की सामग्री चित्र, शिल्प आदि में दिखती है। छोटी मिट्टी की मूर्तियों भी इस विषय में सहायक हैं। उनमें तो सामान्य जनता को भी स्थान मिला है। भरहुत, साँची, अमरावती, नागार्जुनकोंड आदि के महान स्तूपों पर मानों जनता के जीवन की शतसारखी संहिता ही लिखी हुई है। भारतीय कला सदा जीवन को साथ लेकर चली है। अतएव उसमें समसामयिक जन–जीवन का प्रतिविम्ब पाया जाता है।

धार्मिक जीवन देश में समय–समय पर जो महान धार्मिक आन्दोलन हुए है और जिन्होंने लोकजीवन पर गहरा प्रभाव डाला उनसे भी कला को प्रेरणा मिली और उनकी कथा कला के मूर्त रूपों में सुरक्षित है। इस विषय में कला की सामग्री कहीं तो साहित्य से भी अधिक सहायक है। यक्षों और नागों का बहुत अच्छा परिचय भरहुत, साँची और मथुरा की कला में मिलता है। इसी प्रकार उत्तरकुरु के विषय में जो लोकविश्वास था उसका भी उत्साहपूर्ण अंकन भाजा, भरहुत, सांची आदि में हुआ है। मिथुन पडता आदि अलंकरण उसी से सम्बन्धित है जिनका वर्णन जातक, रामायण, महाभारत आदि में आया है। दुकूल वस्त्र, पनसाकृति पात्रों में भरा हुआ उत्तम मधु, आम्राकृति पात्रों में भरा हुआ लाक्षारस, सिर, कान, ग्रीवा, बाहु और पैरों के आभूषण, एवं श्री–पुरुष की मिथुन–मूर्तियों सबका औरओं से दिखाया गया है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति का समस्त जीवन ही एक कल्पवृक्ष है जिसकी छाया में वह अपनी इच्छा के अनुसार फूलता फलता है। प्रत्येक का मन ही महान कल्पवृक्ष है, कल्पना या संकल्प जिसका सुन्दर रस है।[1]

कला और संस्कृति का स्वर्णयुग :–

गुप्त युग भारतीय कल्प और संस्कृति का स्वर्ण युग हैं। गुप्त साम्राज्य के दौरान गणित, खगोल विज्ञान, मूर्तिकला और चित्रकला के क्षेत्र में भारतीयों द्वारा की गई बड़ी उपलब्धियों के कारण चौथी शताब्दी और छटी शताब्दी ई. स. के बीच की अवधि को भारतीय कला के स्वर्ण युग के रूप में जाना जाता है। गुप्त युग की कला का सुंदर रूप अजंता के भिन्न भित्तिचित्रों में देखने को मिलता है। इन चित्रों में गुप्तयुगीन कलाकारों की कला साधना अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची हुई प्रतीत होती है। उनकी सुविकसित सौंदर्य भावना परिमार्जित एवम् प्रौद,

कल्पना शक्ति सर्जनात्मक तथा रचना कौशल अत्यंत परिष्कृत हैं। भारतीय कला के क्षेत्र में ये चित्र ऐसी परिपक्वता प्राप्त कर चुके हैं कि इन्हें देखकर 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति चरितार्थ होती है। कुशान कालीन मूर्तियों के पारदर्शक परिधान का लक्ष्य अवयवों के सौदर्य का साक्षात्कार कराना हैं, किंतु गुप्त कालीन परिधान उस सौंदर्य पर झीना आवरण डालने वाले हैं। इस प्रकार के कलाकारों ने मानव सौंदर्य को अधिक अलंकृत नहीं किया है। कलाकारों की सफलता का रहस्य आध्यात्मिक भावों को उभारने के प्रयत्न में है। दूसरी ओर लतागुल्मों, पशु–पक्षियों के नैसर्गिक परिप्रेक्ष्य का भी सुंदर अंकन किया गया है। इन चित्रों में मानवीय मनोभाव, जैसे– मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिंता, घृणा आदि प्रदर्शित किए गए हैं। मुतयुक गुप्त युग की वास्तुकला भी मूर्ति तथा चित्र कला के समान समुन्नत है।

मध्य युगीन कला :–

मध्ययुगीन भारतीय ललित कलाएँ अपने वैविध्य के लिए प्रसिद्ध हैं। मध्य युग को विभिन्न आधारों पर पूर्व और उत्तर कालों में बाँटा गया हैं। हम सुदद्ध मुगल राज्य की स्थापना तक के काल पूर्व मध्य काल तथा मुगल साम्राज्य के विघटन और अग्रेजी राज्य की स्थापना तक के काल को उत्तर मध्य काल कहेंगे। ललित कलाओं का विकास इस युग में भी हुआ, किंतु मध्य युग चमत्कार का युग था। साहित्य के क्षेत्र में इस में सहजयानी सियो और नाथपंथियों की चमत्कार पूर्ण अटपटी बानी मिलती हैं। खुजराहों जैसी विश्वविख्यात कलावीर्य पूर्व मध्य कुल युग की देन है खुजराहो (बुंदेलखंद) में चंदलवंशीय राजाओं के द्वारा 1000 से 1050 के लगभग अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया जिनमें कंदर्य महादेव का मंदिर कला। कला के क्षेत्र में गुप्तकालीन सादगी के स्थान पर चमत्कार की प्रधानता है। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व इस युग में कला की विभिन्न शैलियों का विकास होता है। शैलियों में इन द्रविड़ शैली भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान बनाती है। मामल्लपुरम, एलोरा तथा एलिफेंटा इस युग के तीन प्रधान कला केन्द्र बनते है। वस्तुतरू पूर्व मध्य काल में भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व और संस्कृति का संरक्षण भी दक्षिणी भारत करता है। भारतीय कला का इतिहास दक्षिण भारत की श्रेष्ठ कलाकृतियों के परिचय के बिना पूर्ण नहीं हो सकता हैं।

आधुनिक का काल :–

आधुनिक काल समस्त भारतीय कलाओं के पुनरुत्थान का काल है, किंतु इस पुनरुत्थान में प्राचीन की ज्यों की त्यों आवृत्ति न होकर प्राचीन और अर्वाचीन का सुंदर सामंजस्य और समन्वय है। आधुनिक कला प्राचीन कला परंपराओं से उतनी ही पृथक हैं जितना आधुनिक जीवन परंपरागत जीवन से भिन्न है। आज भारत की वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण 'ताजमहल' है, जिसने विश्व की अपूर्व कलाकृत्तियों के सात आश्चर्य में शीर्षस्थ स्थान पाया है। लालकिला, अक्षरधाम मन्दिर, कुतुबमीनार, जामा मस्जिद भी भारतीय वास्तुकला का अनुपम उदाहरण रही है। मूर्तिकला, समन्वयवादी वास्तुकला तथा भित्तिचित्रों की कला के साथ–साथ पर्वतीय कलाओं ने भी भारतीय कला से समृद्ध किया है। सत्य, अहिंसा, करुणा, समन्वय और सर्वधर्म समभाव ये भारतीय संस्कृति के ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने अनेक बाधाओं के बीच भी हमारी संस्कृति की निरन्तरता को अक्षुण्ण बनाए रखा है। इन विशेषताओं ने हमारी संस्कृति में वह शक्ति उत्पन्न की है कि वह भारत के बाहर एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया में अपनी जड़े फैला सके।

हमारी संस्कृति के इन तत्त्वों को प्राचीनकाल से लेकर आज तक की कलाओं में देखा जा सकता है।

इन्हीं ललित कलाओं ने हमारी संस्कृति को सत्य, शिव, सौन्दर्य जैसे अनेक सकारात्मक पक्षों को चित्रित किया है। इन कलाओं के माध्यम से ही हमारा लोकजीवन, लोकमानस तथा जीवन का आंतरिक और आध्यात्मिक पक्ष अभिव्यक्त होता रहा है, हमें अपनी इस परम्परा से कटना नहीं है अपितु अपनी परम्परा से ही रस लेकर आधुनिकता को चित्रित करना है। आधुनिक युग में चंडीगढ़ जैसे एक नए नगर की स्थापना की आवश्यकता पड़ी तो फ्रांस के नगर निर्माण शिल्पियों की विशेषज्ञता का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार आधुनिक कला का विकास प्राचीन और आधुनिक कलाओं के सामंजस्य से हो रहा है। यह सामंजस्य भवन निर्माण कला में राष्ट्रपति भवन, संसद भवन तथा सचिवालयों तथा बंगलोर के संसदसौध जैसी भव्य इमारतों में तथा कलकत्ता, मुंबई, मद्रास, दिल्ली आदि महानगरों के विकास तथा इन नगरों में निर्मित आधुनिक भव्य भवनों का निर्माण में देखा है। आधुनिक भारतीय संस्कृति का विकास जा सकता आधुनिक जीवन के संदर्भ में देखा जाना, चाहिए और वहीं प्रगति का एकमात्र मापदंड है। यह भारतीय कला की एक अन्य विशेषता है कि इसमें अलंकरण की प्रधानता दिखाई देती हैं।

निष्कर्ष :-

भारतीय कला में अभिव्यक्ति की प्रधानता दिखाई देती है। कलाकारों ने अपनी कुशलता प्रदर्शन शरीर का यथार्थ चित्रण करने अथवा सौन्दर्य को उभारने में नहीं किया है। इसके स्थान पर आन्तरिक भावों को उभारने का प्रयास ही अधिक हुआ है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण हमें विशुद्ध भारतीय शैली में बनी बुद्ध मूर्तियों में देखने को मिलता है। जहाँ, गन्धार शैली की मूर्तियों में बौद्धिकता एवं शारीरिक सौन्दर्य की प्रधानता है वहाँ गुप्तकालीन मूर्तियों में आध्यात्मिकता एवं भावुकता है। भारतीय कलाकार ने बुद्ध मूर्तियाँ बनाते समय उनके मुखमंण्डल पर शान्ति, गम्भीरता एवं अलौकिक आनन्द को उभारने की ओर ही विशेष ध्यान दिया है तथा इसमें उसे अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय कलाकार को आदर्श अत्यन्त ऊँचा था। उसने कला को इन्द्रिय सुख की प्राप्ति का साधन न मानकर परमानन्द किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनेक छोटे–बड़े देवों की स्वरूप–कल्पना और मूर्ति रचना में प्राचीन धार्मिक मान्यताओं और मांगलिक प्रतीकों से भरपूर लाभ उठाया गया। नये भागवत धर्म के वेगशाली आन्दोलन में इस प्रकार की सार्वजनिक प्रवृत्ति को पूरा स्थान मिला। कुपाण और गुप्तकाल के प्रतिमा लक्षणों का सूक्ष्म अध्ययन भारतीय कला के घनिष्ठ परिचय के लिए कल्पवृक्ष के समान है। वैदिक युग से चली आती हुई लोक मान्यताएं महासमुद्र के समान थी, उनके मंचन से धर्म और कला के क्षेत्र में अनेक रत्न प्राप्त किए गए।

सन्दर्भ सूची :-

1. भारतीय स्थापत्य एवं कला 2015, गूगल पुस्तक, लेखक – उदयनारायण उपाध्याय, गौतम तिवारी।
2. भारतीय जीवन और संस्कृति, संपादक – डॉ. शम्भुनाथ पाण्डेय, प्रकाशक केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
3. भारतीय संस्कृति और कला – वाचस्पति गैरोला, उ० प्र० हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ।
4. हमारी परम्परा – वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1967
5. भारतीय कला – प्रारंभिक युग से तीसरी शती तक, वासुदेवशरण अग्रवाल।

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 159-164

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय रंगमंच कला

निर्देश कुमार
शोधार्थी (पीएचडी) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

भारत में रंगमंच का इतिहास बहुत पुराना है। विद्वानों का मानना है कि दुनियां में नाट्यकला की उत्पत्ति और विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ है। उसके प्रमाण हमें ऋग्वेद में वर्णित यम–यमी और पुरुरवा–उर्वशी संवाद से मिलते हैं। रंगमंच का व्यवस्थित रूप हमे आचार्य भरत द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में मिलता है जिसे पंचम वेद की संज्ञा दी जाती है। आचार्य भरत का मानना है कि नाट्य कला की उत्पत्ति दैवीय है। स्वयंभू मनु के साथ जब सतयुग समाप्त हुआ तथा वैषस्तत मनु के साथ त्रेतायुग आरम्भ हुआ तब लोग भोग–विलास में डूब गये, चारों ओर दुःख बढ गया तब देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा कि उन्हें मनोरंजन का ऐसा साधन चाहिए जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों हो जिससे आनंद प्राप्त हो सके। फलतः उन्होने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाटक का निर्माण किया। विश्वकर्मा ने रंगमच का निर्माण किया। इस प्रकार नाटक एवं रंगमंच की उत्पत्ति मानी जाती है।

रंगमंच (थियेटर) से तात्पर्य उस स्थान या जगह से है जिस पर अभिनेता नाटक, नृत्य, अभिनय की प्रस्तुति करता है। रंगमंच की परिकल्पना के बिना नाटक की सार्थकता, प्रासंगिकता, कलात्मकता और प्राणवत्ता सम्भव नहीं। रंगमंच को एक विशेष सरलीकरण के अंतर्गत, भूमि, भित्ति, स्तम्भ से निर्मित प्रेक्षाग्रह या उस दृश्यबंध स्थल के रूप रूप में देखते हैं जिस पर नाटक प्रस्तुत किया जाता है किंतु रंगमंच को इस स्थूल अर्थ में बंद नहीं किया जा सकता है। विलियम शेक्सपियर ने रंगमंच की परिकल्पना को जीवन से जोड़ते हुए कहा है, 'ये विश्व एक रंगमंच है और सभी स्त्री–पुरुष सिर्फ पात्र हैं। उनका प्रवेश और प्रस्थान होता है और एक व्यक्ति अपने जीवन काल में कई किरदार निभाता है।'

सामान्यतः रंगमंच वह जगह है जिस पर नाट्यकृति का रंगमंच व अभिनेताओं, रंगशिल्पियों की सहायता से दर्शक वृन्द के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यह नृत्यमूलक, संवादमूलक, संगीतमूलक कला है, इसीलिए कहा जाता है – "Play is the strong story in dialouge shown in Action before an Audichce".

नाटक और रंगमंच का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। नाटक रंगमंच पर पुनर्सृजन और पूर्णनिर्मिती पाता है। जिससे उसकी सम्प्रेषणीयता और बढ़ जाती है। रंगमंच नाटक की कसौटी होता है। रंगमंच की रंग समग्रता में नाटयकृति स्वतः समाहित है। नेमिश्चंद्र जैन इसके स्वरूप को और स्पष्ट करते हुये बताते हैं– 'रंगमंच अपनी आन्तरिकता में वह सृजनात्मक कलात्मक प्रक्रिया है, जिसमें नाटक निर्देशक और अभिनेता की परस्पर रचनात्मक साझेदारी होती है, जो रंगमंच पर रंगोन्मेषण का आधार बनती है।'

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में गहनता के साथ नाटक रंगमंच विषय से संबंधित समस्त क्रियाकलापों का विषद वर्णन किया है। 36 अध्यायों में लिखा यह ग्रंथ रंगमंच अभिनेता, अभिनय, नृत्य, गीत–संगीत– दर्शक और रस निष्पति की तर्कसम्मत व्याख्या प्रस्तुत करता है। आचार्य भरत ने पूरे नाट्य शास्त्र में कहीं भी रंगमंच शब्द का प्रयोग न करके रंगभूमि शब्द का प्रयोग किया है। रामचंद्र– गुणचंद्र ने रंग का अर्थ नाट्य मण्डप के अर्थ में किया वहीं अभिनव गुप्त अपनी विवृति में 'यस्मादेंगे प्रयोगोऽयम्' में 'रंग' को नाट्य मंडप के अर्थ में प्रयोग करते हैं।

भारतीय रंगमंच का जो स्वरुप आज हम देख रहे हैं उसका विकास एक दिन या एक वर्ष में नहीं हुआ उसके विकास की दीर्घ परम्परा रही है जो आचार्य भरत के पूर्व से विद्यमान थी, जिसका समय समय पर विकास होता रहा था। दशरथ ओझा का मत है कि, 'भारतीय नाट्य के आदि स्रोत वेदों मे उपलब्ध कर्मकांड के मंत्र है। यज्ञों के अवसर पर इन्द्र और मरूत का प्रतिनिधित्व करने वाले दो पक्ष जो परस्पर संवाद करते थे वहीं कथोपकथन भारतीय नाट्य का प्रारंभिक रूप था।'

रामायण युग में महर्षि वाल्मीकि ने (नटों, नर्तकों, गायकों) का वर्णन किया है जो स्पष्ट करता है कि अयोध्या में नाटक मंडलिया विद्यमान थी। महाभारत काल में रामायण नाटक और कौबेर रम्भाभिसार नाटक का इतिहास मिलता है। नाट्य शास्त्र में 'वधूनाटक संघ' तथा पंतजलि के महाभाष्य में रंगमण्डप की बात की गई है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अभिनेताओं के वेतन प्रकरण उनकी शिक्षा–दीक्षा रंगशालाओं का विवरण मिलता है। जैनों के राज प्रशासनिक सूत्र तथा बौद्धों के विनयपीटक में रंगमंच की जानकारी मिलती है। इसके बाद संस्कृत नाटकों में रंगमंच कला अपने चरम अवस्था पर पहुँच जाती है। मध्यकाल में यद्यपि शास्त्रीय रंगमंच कला अवरुद्ध दिखायी पड़ती है, परन्तु वहाँ लोक नाट्यों का विकास भी तेजी के साथ हुआ। आधुनिक काल में पारसी थियेटर, पृथ्वी थियेटर, भारतेन्दु, प्रसाद, मोहन राकेश ने हिंदी रंगमंच को नया रूप दिया।

भारतीय रंगमंच की तरह ही पाश्चात्य रंगमंच काफी प्राचीन है जिसका प्रारंभिक रुप यूनान और रोम में दिखायी देता है। जिसे थियेटर कहा जाता था। यूरोप में भी नाटक धार्मिक मान्यताओं से जुड़कर शुरू हुआ, प्रारंभिक नाटक जिसमें थेसिपस, सीफोक्लीज, यूरिपिडीज, एस्किलस के नाटक एपिक थियेटर की शक्तियों एवं सीमाओं के अनुकूल स्वरूप में निर्मित हुए। परन्तु जहाँ भारतीय आचार्यो ने नाटक को अभिनय और रंगशाला की वस्तु माना था, वहीं यूरोप में इस संबंध में दो प्रकार के मत प्रचलित रहे। कुछ विचारक तो नाटक को अभिनय व रंगशाला को एक दूसरे के लिए अनिवार्य मानते है परंतु कुछ विचारक नाटक को रंगमंच' से पृथक मानते हैं। क्रौंचे ने तो 'अरस्तू' से आगे बढकर रंगमंच की उपयोगिता को अमान्य घोषित किया। उनका मानना था कि ष्नाटक अभिव्यक्ति मन से होती है अतः रंगमंच जैसा स्थूल साधन वांछित नहीं है'।

भारतीय रंगमंच परम्परा में हमें दो प्रकार की नाट्य शैलियाँ देखने को मिलती हैं– लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। आचार्य भरत कहते हैं :–

'लोक धर्मी भवेत्तन्या नाट्य धर्मी तथापरा
स्वभावों लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमिव हि।'

लोकधर्मी नाट्यशैली का सम्बन्ध जीवन के स्थानीय दिन–प्रतिदिन के कामों से होता है तथा यह बहुत हद तक यथार्थ से जुड़ी रहती है। वहीं नाट्यधर्मी शैली किसी विशेष रीति–परम्परा और शैलीबद्धता से जुड़ी रहती

है। नाट्यधर्मी शैली लोकधर्मी नाटकों के तत्वों को अपने में समाहित किये हुए भी कई अर्थों में उससे भिन्न होती है। परन्तु यह शैलियां बाहर से जितनी–भिन्न दिखायी देती हैं परंतु अंदर से उतनी ही एक दूसरे पर निर्भर करती है। इन रंगमंच शैलियों का प्रयोग दो अर्थों मे किया जाता है। प्राथमिक अर्थ नाट्यप्रस्तुति का स्थल नाट्य का स्थल होता है, परंतु दूसरा अर्थ अधिक व्यापक होकर थियेटर अथवा नाट्य विधान को समेट लेता है। उसके अंतर्गत समूचा रंगकर्म विशेषकर नाट्यमंडप, दृश्यबंध, अभिनय के भेद, रंग, शैलियां तथा प्रस्तुति रूढिया आती हैं। लोक रंगमंच भारत में, नौटंकी, लीला साहित्य, जात्रा, अंकियानाट, भाओना तमाशा, के रूप में मिलते है।

आज जिसे हम रंगमंच (थियेटर) कहते है यह केवल एक कला न होकर अनेक ललित कलाओं का योग होता है जिसमें प्रमुख रूप से काव्य संगीत, चित्रकला, नृत्यकला, स्थापत्य कला शामिल होती है। अतः रंगमंच की समग्र अवधारणा में नाट्य मण्डप, रंगभूमि, रंगस्थली के स्थापत्य, दर्शक एवं अभिनेता आदि प्रत्यक्ष तथा नाटककार, प्रस्तोता, निर्देशक, अभिनेता और दूसरे रंगशिल्पी अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहते है। इनकी समग्र कलाओ का योग रंगमंच कला का निर्माण करती है। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है :–

'न तच्छ्रुत न तिच्छल्पं न स विधा न सा कला
न स योगें म तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पाणि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नात्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्।।

अर्थात् ऐसा न कोई कोई वचन है, न कोई शिल्प है, न कोई विधा है, न कोई कला है, न कोई योग है, ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसका नाट्य में दर्शन नहीं है। इस प्रकार सभी ज्ञान, शिल्प और कलाएं मिलकर आदर्श रंगमंच का निर्माण करते हैं। परन्तु सभी कलाओं एवं विद्याओं का नाट्य रस की सिद्धि में अपने–अपने ढंग से योगदान करने पर ही रंगकला का संशलिष्ट अंग बनते है। परन्तु रंगमंच पर उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है।

रंगमंच कलाओं में सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक कला है। नाट्यमंडप या रंगशाला का निर्माण बिना आदर्श रंगशाला के कोई भी नाटक न तो कुशलता पूर्वक खेला जा सकता न ही प्रेक्षक उसका रसास्वादन कर सकते है। इसीलिए नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में आचार्य भरत ने प्रेक्षक शालाएं एवं प्रेक्षागृह बनाने की विधि का विस्तृत वर्णन किया है। आचार्य भरत नाट्य प्रयोग के लिए नाट्यमण्डप को अनिवार्य मानते हैं।

नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार की नाट्यशालाओं का वर्णन मिलता है, विकृष्ट, चतुरस व त्रयस तथा प्रत्येक को तीन–तीन भागों ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ में बांटा गया। इस प्रकार कुल नौ नाट्यमण्डपों की बात की गई। दर्शकों के देखने–सुनने की सुगमता से मध्य विकृष्ट रंगमंच को सर्वश्रेष्ठ माना गया। यह आयताकार 64 हाथ लम्बा था 32 हाथ चौड़ा होता है। जिसमें लम्बाई को दो समान भागो में बाँटकर एक भाग नाट्य प्रस्तुति तथा दूसरा आधा भाग प्रेक्षको के लिए निर्धारित होता। नाट्य प्रस्तुति वाले भाग में रंगपीठ, रंग गीर्ष और नेपथ्य गृह होता है। तथा आगे का भाग रंगगीर्ष पीछे का रंगपीठ होता है। यह रंगशालाएं, राज प्रसादों, मंदिरों, अथवा समाज स्थलों पर होती थी। जिसमें ज्येष्ठ रंगमंच देवताओं को मध्यम राजाओ को तथा कनिष्ठ मनुष्यों के अभिनय के लिए होती थी। सरगुजा (मध्यप्रदेश) के समगढ़ पर पायी गयी सीतावेंगा की गुहा रंगशालाओं में प्राचीन है जिसकी ऊंचाई भीतर 6 फीट है। गुहा की लंबाई 94 फिट है। चारो ओर दीवारों को काटकर सीटें बनी थीं। तथा दूसरा

प्रेक्षागृह नागार्जुन कोंडा में मिला जो काफी प्राचीन है परंतु यह प्रेक्षागृह नाट्य प्रदर्शन के लिए सबसे उपयुक्त माना गया।

नाट्यमण्डप खड़ा कर देने मात्र से रंगमंच की कल्पना साकार नहीं होती हैं अपितु उसे विभिन्न तरीकों से सजाया भी जाता है ताकि उसमें प्रमाणिकता, सजीवता एवं सुन्दरता का समावेश हो सके। इसलिए मंच पर काष्ठ कर्म एवं चित्रकला का बहुतायत प्रयोग होता है। दीवारों पर भित्ति लेप चढाया जाता था जो मिट्टी, भूसा के मिश्रण से बनता था। उस पर चूना पोता जाता था व काले, पीले, नीले, हरे, लाल रंगो के प्रयोग से उन पर चित्र कर्म किया जाता था जिसमें स्त्री, पुरुष, लताएं ,पशु–पक्षी आदि के चित्र बनाए जाते थे। रंगशाला में अभिनय को और सजीव एवं प्रमाणिक बनाने के लिए सीनरी, द्रश्य बंधो का प्रयोग किया जाता था। आधुनिक काल में पाश्चात्य रंगमंच के प्रभाव के कारण पट, परदे, लाइट, लकड़ी, प्लास्टिक के प्लैट्स, कपड़े–लकड़ी के वृक्ष, पर्वत आदि प्रतीकात्मक रूप से तैयार किये जाते हैं। कुछ रंगोपकरण का प्रयोग विशेष दृश्य के लिये किये जाते हैं जो दृश्य के समाप्त होते ही हटा लिये जाते हैं।

नाटक दृश्य काव्य के अन्तर्गत आता है। अतः श्रवण के साथ अभिनय किसी रंगमंच की आत्मा होती है। अभिनय के माध्यम से नाट्य रचना रंगमंच पर अवतरित होती है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। नाटयशास्त्र में अभिनय के चार प्रकार आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य के वर्णन के साथ नृत्य एवं चित्राभिनय का भी उल्लेख मिलता है। अंगों के माध्यम से किये जाने वाले आंगिक अभिनय में अंगो (सिर, हस्त, कटि, वक्ष, चरण) उपांगों में (नेत्र, भ्रू, अधर, कपोल, चिबुक) का वर्णन मिलता है।

नवें अध्याय में भरत ने चौंसठ प्रकार की मुद्राएँ, जिसमें सिर से तेरह, दृष्टि से स सात, आंखों से नौ, भौहों से सात, नाक से छः, कपोल से छः, अधर के छः, टोढी के आठ अभिनय बताए तथा हाथों से अर्धचंद्र, कर्कट, शंख चक्र, आदि मुद्राओं को बनाने कि विधि का भी उल्लेख किया है तथा सोलह आकाशचारी, सोलह भूमिचारियों का भी वर्णन मिलता है। शब्द उच्चारण, वार्तालाप के ढंग, स्वर ताल आदि के अनुकरण से वाचिक अभिनय होता है यही अभिनय नाट्य का प्रधान अभिनय है। अतः नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के अंतर्गत शब्द, छंद, लक्षण, अलंकार, गुण–दोष भाषा एवं पाठ्य शैली का तात्विक निरूपण मिलता है। पाठ्यगुण वाचिक अभिनय का प्राण है। इसके अंतर्गत सप्तस्वर–तीन स्थान चार वर्ण दो काकु, छः अलंकार तथा छरू अंग का उल्लेख मिलता है।

पात्रों के वय अनुरुप तथा प्रकृति के अनुसार केश विन्यास, अलंकार, परिधान, अंगराग, अंगरचना तथा रंगमंच पर निर्जीव लौकिक पदार्थों और सजीव जंतुओं के नाट्यधर्मी प्रयोग को भरत ने आहार्य अभिनय माना है। अभिनव गुप्त आहार्य को नाट्य कि भित्ति मानते हैं। यह अभिनय, यथार्थवादी और प्रतीकवादी दो प्रकार का होता है।

सात्विक अभिनय के योग से ही अनुकार्य के साधारणीकृत मनोभावों का पूर्ण प्रस्फुटन होता है। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, अश्रु, स्वरभंग, कंप विवर्णता, मूर्च्छा आदि द्वारा विभिन्न मनोभाव व्यक्त होते हैं।

इन चार अभिनयों के अतिरिक्त चित्राभिनय का भी प्रयोग होता था। जिसमें सूर्य, चंद्र, नदी, वन और पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थों और परिस्थितियों का अभिनय भी आंगिक, वाचिक अभिनय के द्वारा सम्पन होता था।

कोई भी नाटक चाहे शास्त्रीय नियामली के भीतर लिखा हो या लोक नाट्य शैली में लिखा गया हो उसमें

गीत–संगीत नृत्य का विशेष महत्व होता है।

गीते प्रयत्तं प्रथमस्तु कार्य शय्या हि नाटस्य वदन्ति गीतम् ।
गीतेऽपि वधेएपि च सम्प्रयुक्ते नाटय प्रयोगे न क्विन्तिमेति।।

नाटक में गीत का प्रमुख स्थान है क्योंकि गीत एवं वाद्य के सही संयोजन से नाटक में सुन्दरता, रोचकता और मधुर्यता आती है। नाट्यशास्त्र के 28 से 34 अध्याय में संगीत का विस्तृत ब्यौरा दिया गया है। पूर्वरंग का आरम्भ गीत से होता है। मध्य में भी गीत–संगीत का प्रयोग किया जाता है तथा शादी, विवाह, जन्मोत्सव पर गीत का प्रयोग भावरस के प्रकाशन के लिए होता है। आचार्य भरत ने सप्तस्वर, रसानुसार, स्वरयोजना, वर्ण और अलंकार, ताल, लय और यति की महत्ता, ध्रूव का स्वरूप और भेद उनका तालाश्रित प्रयोग का वर्णन किया है। आधुनिक नाटककारों में प्रसाद ने गीतों का सुन्दर प्रयोग किया है। लोक नाट्यों में गीतों को उनकी आत्मा ही कहा जाता है। बिना गीतों के प्रयोग के लोक नाट्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

नाट्यशास्त्र में संगीत को गन्धर्व नाम दिया गया है। गन्धर्व विद्या, स्वर, ताल एवं गेयपद का मिश्रण है। भरत ने पूर्वरंग में एवं नाटक के बीच दोनों ही रूपों मे संगीत के उपयोग की चर्चा की है। पूर्वरंग में देवता की स्तुति के लिए विघ्नों की शांति के लिए प्रेक्षको को सहृदय बनाने के लिए संगीत का प्रयोग किया जाता था। प्रमुख रूप से तत (वीणा), अवनद्ध (मृदंग), सुशिर (वंशी) और घन (मंजीरा) वाद्य यंत्रों का वर्णन मिलता है। इनका प्रयोग गायन के साथ रीतिबद्ध गीतों की ताल के साथ होता था। संगीत तथा गीत में नाद आधार है। इस नाद में सातस्वर दो ग्राम तीन स्थान वर्ण, अलंकार, धातु श्रुति प्रमुख होते हैं। अनेक शास्त्रीय व लोकनाटको में तो मंच पर ही संगीतज्ञों के बैठने का विधान होता है।

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में तालवध्यता के साथ ही नृत्यगतियो पर भी प्रकाश डाला है तथा शास्त्रीय नाटकों में दो प्रकार के शास्त्रीय नृत्यों, ताण्डव और लास्य नाटकों की चर्चा की है। देवताओं के लिए ताण्डव तथा जनमानस के श्रृंगार प्रकरण के लिए लास्य का प्रयोग किया जाता था। रंगमंच पर तथा पारिवारिक सामाजिक जीवन में विवाह, देवपूजा, जन्मोत्सव, ऋतुपर्व एवं विजयोत्सव पर नृत्य का प्रदर्शन होता था। पारसी नाटकों में नृत्यगीत की भरमार थी। नाटक को आकर्षित बनाने के लिए और शायद अधिक अर्थवान बनाने के लिए तथा पात्रों की मनरू स्थिति, कथास्थितियों एवं गतियों के अनुरूप अभिव्यक्ति के लिए इन सब गीत संगीत नृत्य का प्रयोग किया जाता था।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि संगीत और नृत्य प्रयोग के नियम तो बतलाये ही गये हैं, हमें उनके वास्तविक प्रयोग के संकेत कुछ नाटकों से मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये शाकुन्तलम् एवं प्रतिमानाटक में प्रस्तावना में नटी का गान शाकुंतलम के पंचम अंक में हंसपदिका का गान, मालविकाग्निमित्रम में मालविका का गान, रत्नावली के प्रथम अंक में चेटी का गान, नागाचंद में मलयावती का गान आदि। नृत्य के संकेत बालचरित में हल्लीसक, मालविकाग्निमित्रम् में मालविका का नृत्य एवं रत्नावली की दो चेटियों का नृत्य। प्राकृत अपभ्रंश का कर्पूरमंजरी तो सहक है जिसे नृत्य के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता था (सहको नर्त्तितव्यम्)।

निष्कर्ष :–

हम कह सकते हैं कि भारतीय रंगमंच पूर्णतः कलात्मक रंगमंच था जिसमें रंगशाला निर्माण से लेकर रंगयोजना, दृश्यबन्ध, रंगोदीपन, अभिनेयता, गीत, संगीत, ध्वनिसंकेत, प्रकाश व्यावस्था आदि कलाओं को शामिल

किया जाता था। नाटक इन्हीं कलाओं के संयोग से प्रकट होता था। इन कलाओं का उपयोग रंगमंच को प्रभावी तथा आकर्षक बनाने के लिये किया जाता था। गार्डन क्रेम ने ठीक ही कहा है कि, 'रंगमंचीय कला न अभिनय है, न नाटक, न दृश्य है, न नृत्य, अपितु वह सभी तत्वों का एक ऐसा निबंधित रूप है जो एक नए कलात्मक रूप में परिणत हो जाता है'।

आधुनिक समय में हम जिस रंगमंच और उसकी कलाओं को रंगमंच पर देखते हैं, वह भारतीय और पाश्चात्य रंगकलाओं का मिश्रित रूप है। यह रूप हमें शास्त्रीय और लोक दोनों प्रकार के नाटकों में देखने को मिलता है। क्योंकि नाटक दृश्य काव्य के अंतर्गत आता है। इसीलिए बिना कलात्मक अभिनय गीत, संगीत, नृत्य के कोई भी रंगमंच सार्थक नहीं हो सकता।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. नाटक के रंगमंचीय प्रतिमान, प्रो. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, जगराम एंड संस प्रकाशन, गांधी नगर, नई दिल्ली।
2. रंगदर्शन, नेमीचंद्र जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद।
3. रंगप्रसंग पत्रिका, वर्ष 4 अंक 2 जुलाई–दिसंबर 2001, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली।
4. हिंदी नाटक : उद्‌भव और विकास, डॉ. दशरथ ओझा, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट नई दिल्ली।
5. संस्कृत रंगमंच की विशेषताएं (लेख), डॉ. मान्धाता ओझा।
6. रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।
7. विकिपीडिया. कॉम।
8. भरत और उनका नाट्य शास्त्र, डॉ. ब्रज बल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य सांस्कृतिक केंद्र प्रयागराज।

Gmail : rirdeshtiwarimha@gmail.com

Mob : 8737975961

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 165-168

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति का स्वरूप

पिंकी देवी

शोधार्थी, हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा।

विश्व की प्राचीन संस्कृतियों का जब हम स्मरण करते है तो यूनान, मिस्र एवं भारत का नाम सहज ही हमारे स्मृति पटल पर उभरकर आता है। इनमें भी प्राचीनतम संस्कृति होने का गौरव भारतीय संस्कृति को है। भारतीय संस्कृति में अनेक भाषा, जाति एवं धर्म के लोग रहते है। यह संस्कृति विश्व की प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। भारतीय संस्कृति समुद्र के समान है जिसमें अनेक नदियाँ अपना अस्तित्व उसमें मिला देती है। संस्कृति का निर्माण कुछ दिनों, सप्ताह या महीनों में नहीं होता बल्कि यह हजारों, लाखों वर्षों की विकास यात्रा का परिणाम होती है। विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ एक–दूसरे को प्रभावित करती है। सांस्कृतिक दृष्टि से वही देश महान कहा जाता है जो अधिक–से–अधिक देशों के सांस्कृतिक प्रभाव को अपने में समाहित करता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ बहुत व्यापक होता है इसे शब्दों के दायरे में समेटना बहुत ही कठिन कार्य है लेकिन इसे विस्तार से जानने के लिए इसके शाब्दिक अर्थ को समझना आवश्यक है। विभिन्न शब्दकोषों में इसका अर्थ दिया गया है जिसकी सहायता से हम इसे समझने का प्रयास कर सकते है। रामस्वरूप शास्त्री के संस्कृत कोष के अनुसार '''सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु मे क्तिन प्रत्यय लगने से संस्कृति शब्द बनता है। सम् का अर्थ है 'सम्यक्' रूप से और 'कृ' धातु 'करने' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार सम्यक् रूप से किये गए कार्यों की श्रृंखला ही संस्कृति है। सभ्यता, आचार–विचार, भाुद्धि, संस्कार, परिष्कार संस्कृति के पयार्यवाची शब्द माने जाते है।''[1]

धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोष ''इस अर्थ में संस्कृति को सामाजिक प्रथा (कस्टम) का भी पर्याय कहा जा सकता है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जा सकता है। इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है, जो व्यक्ति को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते है।''[2]

इस आधार पर हम कह सकते है कि संस्कृति मनुष्य में संशोधन लाती है। समय परिवर्तनशील है समय के साथ–साथ हर वस्तु में बदलाव आता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह अपने जीवन में समय के अनुसार परिवर्तन करता है वह पुराने का त्याग व नए का सृजन करता है। मनुष्य के मन के विकार जब मनुष्य पर हावी होने लगते है तब संस्कृति ही उसकी रक्षा करती है वह परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करना सीखता है। मनुष्य संस्कृति के कारण ही सभी जीवों में श्रेष्ठ माना जाता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ जानने के बाद हमारे मस्तिष्क में एक पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है कि मानव के

उत्तम विचारों का संकलन ही संस्कृति कहलाती है। संस्कृति में मानव के समस्त क्रियाकलाप शामिल होते है जैसे खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार, शिक्षा–दीक्षा, कला, धर्म, सभ्यता आदि। संस्कृति का व्यापक अर्थ जानने के लिए परिभाषा का अध्ययन करना आवश्यक है।

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार ''संस्कृति जीवन का तरीका है। यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए है अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे है, उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते है वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी संतानों के लिए छोड़ जाते है। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे जीवन को लादे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है।''[3]

बाबू गुलाबराय के अनुसार ''संस्कृति हमारी प्रकृति की गोद में पली हुई आध्यात्मिक संस्कृति है। सब में एक ही आत्मा का दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और सबके लिए सर्व भवन्तु सुखिनः सर्व सन्तु निरामयाः की सद्भावना की गई है।''[4]

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ''संस्कृति और प्रकृति परस्पर सापेक्ष शब्द है प्रकृति अतिशय अथवा श्रेष्ठता का आधार ही संस्कार या संस्कृति है।''[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं में संस्कृति को समझाने का प्रयास किया गया है। मनुष्य के आस पास का वातावरण जिसमें उसकी सभी क्रियाएं समाहित होती है संस्कृति कहलाती है। संस्कृति जितनी उत्तम या श्रेष्ठ होगी समाज उतना ही महान माना जाता है। समाज के लोग जिन रीति–रिवाजों और परम्पराओं को अपने जीवन में अपनाते है वे सभी संस्कृति में समाहित है। संस्कृति समाज की पहचान होती है। यह मनुष्य का मार्गदर्शन करती है जिसका अनुकरण सदियों तक होता रहता है। संस्कृति का संबंध प्रकृति से जोड़ा गया है। प्रकृति ही संस्कृति है। इसके बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं होता है। यह मनुष्य को जीना सिखाती है।

भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन एवं समृद्ध है समाज में किसी भी देश की जाति का खान–पान, रहन–सहन, वेशभूषा, शिक्षा, आचार–विचार आदि संस्कृति के अंतर्गत आते है। ये हमारे जीवन को संवारने में, समृद्ध बनाने में और नए आयाम प्रदान करने में सहायता प्रदान करते है। संस्कृति मनुष्य को स्थायित्व प्रदान करती है उसका स्वरूप हमेशा विद्यमान रहता है। संस्कृति का विकास धीरे–धीरे होता है। इसका निर्माण कुछ दिनों या कुछ वर्षों में नहीं होता अपितु इसकी प्रक्रिया दीर्घकालीन होती है। अनेक युगों की साधना के उपरांत मानव समाज ने संगीत, साहित्य, मूर्तिकला एवं नृत्य के क्षेत्र में जो उन्नति प्राप्त की है तथा ज्ञान–विज्ञान, दर्शन में जो प्रगति की है उसका संबंध हमारी संस्कृति से है। प्राचीन समय से चली आ रही परम्पराएँ संस्कृति द्वारा निर्मित है। मनुष्य ने जो उपलब्धियां प्राप्त की है संस्कृति उनका मूल्यांकन करती है तत्पश्चात् वह उन्हें व्याख्यायित करती है। किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया सफल प्रयास समाज के लिए अनुकरणीय बन जाता है। इसी प्रकार के प्रयास जो सिद्धांतों एवं नियमों पर आधारित होते है संस्कृति कहलाते है।

डॉ० नगेन्द्र ने संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट हुए कहा है कि ''संस्कृति का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म एवं जटिल है सामान्य अर्थ संस्कृत अवस्था का नाम ही संस्कृति है–अर्थात संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है जहाँ उसके प्राकृत राग–द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है। यह परिमार्जन, यह संस्कार, उसे अपनी स्वभावगत

इच्छा–आकांक्षाओं, प्रवृति–निवृतियों के उचित सामंजस्य द्वारा करना पड़ता है।... संस्कृति के बहिरंग तत्व है – आचार–विचार, विश्वास, परम्पराएँ, शिल्प, कौशल और माध्यम है– कला, साहित्य आदि।''[6]

अतः इस प्रकार हम कह सकते है कि संस्कृति वह जटिल संरचना है जिसमें कला, विश्वास, परम्पराओं के अतिरिक्त निजि विचार भी समाहित होते है यह किसी भी समाज की अंतरात्मा और अभिव्यक्ति होती है।

संस्कृति को चाहे भौतिकरूप में ले या अभौतिक रूप में ले यह सिर्फ मानव प्राणियों में ही पाई जाती है यूं तो पशु–पक्षियों की भी अपनी भाषाएं है उनका अपना रहन–सहन का तरीका है लेकिन वे अभी तक पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर है इसको हम कोई वैचारिक उपलब्धि नहीं कह सकते और यही कारण है कि इनकी इन क्रियाओं को संस्कृति नहीं कहा जा सकता। संस्कृति मानव की विशेषता है। मानव संस्कृति का विकास होने में बहुत लंबा समय लगा है पहले मनुष्य भी पशुओं की तरह जीवन जीता था। जंगलों में जीवनयापन करता था। मनुष्य ने अपनी कुशल बुद्धिमता से अपने जीवन–स्तर को ऊपर उठाया है। इस समय के दौरान उसने काफी वस्तुओं का विकास किया और साथ ही भाषा का भी विकास किया तथा जीवन शैलियों का भी। धीरे–धीरे वह धर्म, दर्शन और साहित्य का विकास करने में सफल हुआ। इन सब में जो उनकी भावना और आस्था से जुड़ गया वही संस्कृति बन गया।

संस्कृति सांस्कृतिक तत्वों का एक संगठन है अधिकतर विद्वान संस्कृति को उस समाज की विशेष पहचान मानते है जो उस समाज की आस्था से जुड़ी है। इसमें वहाँ के लोगों का रहन–सहन, रीति–रिवाज, आचार–विचार, संगीत नृत्य, कला–कौशल धर्म–दर्शन, आदर्श–विश्वास, भाषा–साहित्य और मूल्यों का समग्र रूप निहित होता है। संस्कृति इन सभी तत्वों का विशिष्ट संगठन है। अलग–अलग समाज की संस्कृति भी अलग–अलग होती है। मनुष्य ने इस धरती पर जहाँ भी वास किया वहीं के हिसाब से अपनी संस्कृति को विकसित किया। आज के आधुनिक युग में परिवहन और संचार के इतने साधन है फिर भी हर क्षेत्र का अपना अपना रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, धर्म दर्शन और मूल्य है उनकी अपनी–अपनी संस्कृति है। भारतीयों पर पाश्चात्य संस्कृति का अधिक प्रभाव पड़ा है और यह बढ़ता ही जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी संस्कृति में गहरी आस्था होती है और उसके लिए वह आदर्श होती है। संस्कृति को अच्छी तरह सीखकर वे समाज के साथ समायोजन करते है और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति बनते है। संस्कृति समाज के लोगों को एकता के सूत्र में बांधती है इसी के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की नींव उसके शिशु काल से ही पड़ जाती है वह समाज में रहकर अपने बड़ों का अनुकरण करता है और अपनी संस्कृति को पग–पग सीखता रहता है। बच्चा अपनी माँ से सबसे ज्यादा सीखता है माँ ही उसकी पहली गुरु होती है। बच्चों के स्वभाव और उसकी प्रकृति पर माँ का गहरा प्रभाव पड़ता है। माँ के बाद उस बच्चे पर उसके वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। यही वह स्थान है जहाँ बच्चा अपनी संस्कृति को सीखता और जानता है और एक सभ्य समाज का सभ्य नागरिक बनता है।

मनुष्य जिस समाज में पैदा होता है वह उस समाज के रीति–रिवाज सीखता है और उसके साथ समायोजन करता है। मनुष्य अपनी संस्कृति को हस्तांतरित करता है। वह अपनी आने वाली पीढ़ियों को अपने साहित्य, रीति–रिवाज, धर्म–दर्शन एवं मूल्यों का ज्ञान शिक्षा और अन्य विधियों के द्वारा कराता है। जिससे यह संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आसानी से हस्तांतरित हो जाती है। उदाहरण के रूप में देखे तो जैसे

एक मिस्त्री अपने बच्चों को शिल्प की सारी कलाएं सिखाता है। एक गुरु अपने शिष्यों को वह ज्ञान जो उसके पास होता है उसे सम्पूर्ण देने की कोशिश करता है जैसे–जैसे मनुष्य विकास करता जा रहा है वैसे ही संस्कृति भी विकसित हो रही है। इसलिए संस्कृति परिवर्तनशील एवं विकासशील है। संस्कृति में परिवर्तन का प्रमुख कारण रहा है ज्ञान–विज्ञान का विकास। संचार और परिवहन के साधनों की वजह से भिन्न–भिन्न संस्कृतियों के व्यक्तियों का आपस में सम्पर्क। लेकिन परिवर्तन और विकास की गति बहुत धीमी है। भारतीय संस्कृति ने जहाँ दूसरी संस्कृतियों से प्रभाव ग्रहण किया वहीं अपना प्रभाव छोड़ा भी है। पश्चिम देशों के व्यक्तियों का रहन–सहन, खान–पान पूर्व के व्यक्तियों से भिन्न है। पश्चिम देशों के लोग संबंधो को बंधन मानते है वे बंधनों में बंधकर नहीं रहना चाहते। इसलिए अपना जीवन अलग व अकेले जीते है, जबकि भारतीय संस्कृति में संबंधो को बंधन नहीं माना जाता। यहाँ संबंधो के साथ रहना गर्व की बात मानी जाती है। व्यक्ति संबंधो में सुख का अनुभव करता है। हमारी संस्कृति में माता–पिता को ईश्वर का दर्जा दिया जाता है। अतः भारतीय संस्कृति पूरे विश्व में अपने आदर्शों के लिए जानी जाती है।

निष्कर्ष :–

किसी भी समाज में गहराई तक फैले हुए गुणों के समग्र स्वरूप का नाम संस्कृति है। समाज, दर्शन, धर्म, साहित्य, कला एवं राजनीति सभी में संस्कृति निहित होती है। संस्कृति के कारण ही मनुष्य अन्य जीवों की तुलना श्रेष्ठ माना जाता है। वह अपने अंतर्मन की संतुष्टि के लिए कुछ ऐसे कार्य करता है जो सभी के लिए हितकारी हो। संस्कृति व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है। इसके विकास में आदान–प्रदान का भाव निहित होता है। समाज और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। समाज के अभाव में संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति समाज में ही जन्म लेकर पल्वित होती है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। किसी भी समाज की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक स्थितियों का विशिष्ट रूप संस्कृति कहलाता है।

संदर्भ-सूची :–

1. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, तुलसी साहित्य के सांस्कृतिक आयाम से उद्धृत, पृ० 48–49
2. (सं०) धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, पृ० 712
3. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 53
4. बाबू गुलाबराम, भारतीय संस्कृति, पृ० 28
5. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, संस्कृति और साहित्य, पृ० 1
6. अशोक कुमार यादव, कहानीकार महीप सिंह : मानवीय संबंधों की सचेतन दृष्टि से उद्धृत, पृ० 69–70

ई० मेल –sarhaya.a@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 169-175

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति में संतों की देन

पिंकी देवी

शोधार्थी, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

साहित्य पूर्णतः संस्कृति के विविध पक्षों को ग्रहण करके ही समृद्ध हुआ है। ये एक दूसरे के परस्पर परिपूरक है। भारतीय संस्कृति और साहित्य की दीर्घ परम्परा रही है। साहित्य और संस्कृति का अन्योन्याश्रित संबंध है। साहित्य यदि ज्ञान का संचित कोश या प्रतिबिंब है तो संस्कृति मनुष्य के उस ज्ञानात्मक व सांस्कृतिक चेतना का पर्याय हैं। संस्कृति जब साहित्य में अभिव्यक्त होती है वह न केवल साहित्य को मूल्यपरक बनाती है, मानवीय बनाती है बल्कि साहित्य के माध्यम से मनुष्य की आचरणशीलता, मानवीयता और मानवीय सामाजिक, धार्मिक अध्यात्मिक मूल्यों का निवेषण करती है, परिष्कार और संस्कार करती है।

साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य जनकल्याण और लोकहित में अपनी रचना का सृजन करना होता है। इसके लिए वह संस्कारगत अपने ही सांस्कृतिक परिवेश, परम्परा, धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों से ही मूल–प्रेरणा लेकर अपनी रचनात्मक प्रक्रिया को मानव जाति के लिए कल्याणकारी बनाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का कथन है– "नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं कलात्मक प्रयत्नों और सेवा–भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्णरुप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम संस्कृति शब्द द्वारा व्यक्त करते है।"[1] भारतीय संस्कृति एक समृद्ध संस्कृति है। यह अपने अन्दर अनेक विशेषताओं को समेटे हुए है। धर्म प्रधानता, आध्यात्मिकता दार्शनिकता, देवपरायणता, बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद, कर्म, प्रधनता, एकीकरण तथा समन्वय, सहिष्णुता, सत्य, अहिंसा, त्याग, करुणा, वर्ण व्यवस्था, संस्कार, संस्कारों की प्रेरणा और असाम्प्रदायिक सहिष्णुता आदि विशेषताएं संस्कृति में समाहित है। मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है और अपनी बुद्धि के बल पर अपने चारों ओर के परिवेश को निरंतर सुधारता है और उन्नत करता है। मनुष्य केवल अपने भौतिक ऐश्वर्य से ही खुश नहीं हो जाता है, न ही भोजन से जीता है, शरीर के साथ–साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक प्रगति से शरीर की क्षुधा को शांत किया जा सकता है। पर मन और आत्मा अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें संतुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना विकास और प्रगति करता हैं द्यसंतों में यह प्रवृती बखूबी पाई जाती है।

संस्कृति प्रेरणा स्त्रोत है, जिससे प्राणी सुन्दर और सुव्यवस्थित जीवन का आदर्श ग्रहण करता है। इस प्रकार एक साहित्यकार भी संस्कृति से ही आदर्श ग्रहण करता है और वह संस्कृति के आधार ग्रंथों से प्रेरणा लेकर, उनका गहन–चिन्तन मनन कर, कभी–कभी साधु–संगति से सांस्कृतिक विशेषताओं और तत्वों से आदर्श ग्रहण कर अपनी रचना के लिए सामग्री प्राप्त करता हैद्य बाबू गुलाबराय के अनुसार– "जातीय संस्कारों को

संस्कृति कहते हैं।"[2] और हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।"[3] अब प्रश्न यह उठता है कि ये जातीय संस्कार और संस्कृति में मनुष्य की श्रेष्ठ साधना आती कहां से है। इन संस्कारों का, जिनसे हमारी संस्कृति बनी है, उनका आधार क्या है? सोचने पर चिन्तन–मनन के पश्चात ज्ञात होता है कि ये सब संस्कार हम अपने माता–पिता, गुरुजन, बुजुर्ग, संत–महात्माओं, धार्मिक पुस्तकों इत्यादि से लेते आए हैं। बड़े बुजुर्ग ये सब संस्कार अपने पूर्वजों से सीखते आए हैं। इस तरह पीढी–दर पीढी हम इन संस्कारों को सीखते, अपनाते आए हैं। अब हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधना संस्कृति है। अब प्रश्न है कि साधनाएं संस्कृति में कहां से आई हैं। इसका सीधा–सा उत्तर है ये श्रेष्ठ साधनाएं हमारे प्राचीन ऋषि, मुनियों और संतों की श्रेष्ठ साधना का प्रसाद है जो हमें हमारे धार्मिक साहित्य के रूप में प्राप्त होता है। यह ज्ञान–साधना गुरु–शिष्य परंपरा से आगे–से–आगे अन्य ऋषि–मुनियों, संत और महात्माओं को प्राप्त होती गई। यहीं से गुरु–शिष्य परंपरा हमारी संस्कृति की एक अप्रतिम विशेषता बन गई। यही विशेषता हमें संत साहित्य में भी दिखाई देती है। संत साहित्य में गुरु को विशेष महत्त्व दिया गया है।

समन्वय हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो विरोधी कार्यों व क्रियाओं में बैठाया गया तालमेल व सामजस्य 'समन्वय' कहलाता है। समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में समन्वय की भावना का संचार करना बहुत जरूरी है। संत काव्यधारा भी समन्वयवादी दृष्टिकोण के लिए प्रख्यात है।

संत काव्यधारा के सन्दर्भ में भी यह कहा जा सकता है कि संतों ने समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए निर्गुण–सगुण, हिंदू–मुस्लिम, जाति–पाति, ऊँच–नीच में समन्वय के लिए समाज को अपनी वाणी से नवाजा है। संत–काव्यधारा के कवि सम्प्रदाय विहीन समाज की कल्पना करते हैं। वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ हिंदू–मुस्लिम, जाति–पाति, छुआछूत और ऊँच–नीच इत्यादि विषय न हो। सभी संत हिंदू–मुस्लिम सभी को मिल–जुलकर रहने की प्रेरणा देते हैं। संत गरीबदास का कथन हैं :–

''मुल्ला से पण्डित भये, पण्डित से भले मुल्ल।
गरीबदास तज बैर भाव, कीजे सुल्लमसुल्ल।।''[4]

सभी हिंदू और मुस्लमान को आपस में मैत्री कर एक–दूसरे प्रीत करनी चाहिए। सभी मनुष्य उस परमात्मा की ज्योति से उत्पन्न है और सभी मनुष्य एक–दूसरे के मित्र है। इसलिए हिंदू–मुसलमानों को आपसी वैरभाव त्याग कर मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने चाहिए।

संतों ने सभी जातियों को एक समान माना है। संतों का मानना है कि मानव की कोई जाति–पाति नहीं होती। जाति–पाति तो समाज को चलाने के लिए बनाई गई एक व्यवस्था मात्र है। इसलिए संत रैदास तत्कालीन समाज में प्रचलित मनुष्य विरोधी मान्यताओं का विरोध करते हुए कहते हैं–

''जन्म जात मत पूछिए, का जात और पाँत।
'रैदास' पूत सम प्रभ के, कोई नहिं जात कुजात।।''[5]

संत गरीबदास भी समाज में स्वस्थ भावना का संचार करने हेतु कहते हैं :–

''कौम छतीसं है जगदीशं, ब्रह्मबीज एक बाड़ी
जो हिन्दवानी सो मुसलमानी, पहरै एकै साड़ी।।''[6]

समाज में जितनी भी कौम यानि जातियाँ हैं सबका सृजनहार एक ही परमात्मा है। सब मनुष्य उस एक ही ब्रह्म की बाड़ी के बीज हैं सभी मनुष्य अपना तन ढ़कने के लिए वस्त्र पहनते हैं चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान।

सभी मनुष्य अपने को एक–दूसरे से श्रेष्ठ समझते है। संतों ने मनुष्य के इसी भ्रम को दूर करने तथा उनकी धारणाओं में समन्वय लाने के लिए अनेक वाणी दी है। संतों ने व्यक्ति–व्यक्ति में समन्वय लाने के लिए अनेक तर्को द्वारा यह साबित करने का प्रयास किया कि सभी व्यक्ति इस संसार में समान है। समाज में न कोई छोटा है न कोई बड़ा है। संत कबीरदास का कथन है–

"नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।
कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि राम न होई।।"[7]

अगर मनुष्य के कर्म श्रेष्ठ है तो वह श्रेष्ठ बन जाता है। इसका उदाहरण संत कवि रैदास है। अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण आज संत–काव्यधारा में उन्हें बड़े सम्मान भाव के साथ याद किया जाता है। संत जी के कर्मों की वजह से सभी जाति–धर्म और सम्प्रदायों से लोग उनके शिष्य बने। झालावाड़ के राजा की पुत्री रत्नकुँवरी जो झाली रानी के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है संत रैदास की शिष्या बनी थी। इसी प्रकार मीरा का नाम भी संत रैदास की शिष्य परंपरा में बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

संत गरीबदास कहते हैं कि मानव को सच्चे संतों की तरह सम्प्रदाय विहिन विचारधारा रखनी चाहिए। जिस प्रकार संतों की न कोई जाति होती न कोई धर्म व सम्प्रदाय, ठीक उसी प्रकार मानव को भी सम्प्रदाय, धर्म व जाति निरपेक्ष रहते हुए भगवद् भक्ति करनी चाहिए। यथा–

''अवधू अनहद हमरा रास बोलिये, राग अचल अनुरागी।
सन्त हमारी संप्रदा बोलिये, ब्रह्मद्वार वैरागी।।''[8]

मानव मात्र को किसी भी धर्म जाति के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। भेद की वे सब भेड़ियाँ तोड़ देनी चाहिए जो मनुष्य मात्र को एक–दूसरे से दूर करती हो।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण का सबसे बड़ा उदाहरण संतों द्वारा उस ब्रह्म के लिए गए नामों का है। जिसे संत कभी राम, रहीम, करीम, अल्लाह तो कभी गोविन्द, केशव इत्यादि नामों से पुकारते हैं। संतों द्वारा सभी धर्मों से जुड़े नामों का प्रयोग करना अपने आप ही उनकी समन्वय दृष्टि को दर्शाता है। संत गरीब ऐसे ही नामों का उल्लेख करते हुए कहते हैं :–

''राम रहीम करीमा केशव, अलह पुरुष अविनाशी।
मैं समर्थ का सेवक हूँ, जो काटै जम की फांसी।।''[9]

वास्तव में सभी संतों का प्रधान ध्येय मनुष्य मात्र का कल्याण करना है। 'मनुष्य' ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसकी पहचान मानवीय गुणों के कारण ही होती है। करूणा, त्याग, दया, प्रेम, ममता, समता, सेवा, समर्पण आदि उदात्त गुणों के कारण मनुष्य की या मानव की मानवता सम्पूर्ण सृष्टि के लिए कल्याणकारी होती है। जिस व्यक्ति में इन शाश्वत गुणों का सही अर्थों में विकास हो चुका है, वह सही अर्थों में मानव है। ऐसा मानव समूची सृष्टि को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से देखता है। वह किसी भी जाति, धर्म और सम्प्रदाय में विश्वास नहीं करता। वह सब प्राणियों को उदारता की दृष्टि से देखता है। वह दूसरों के दुःख में कभी खुश नहीं होता है।

विशेषकर मानवतावादी मनुष्य में धार्मिक सहिष्णुता तथा मानवीय एकता कूट–कूट कर भरी होती है। मनुष्य का यही उदार दृष्टिकोण सही अर्थों में मानवतावाद को स्थापित करता है। अगर संत–साहित्य का इस दृष्टि से अनुशीलन किया जाए तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सभी संत मानवतावादी कवि थे। मानवतावाद हमारी संस्कृति की आधारभूमि है। सभी संत मानव–मात्र में एक ही दिव्य परमतत्त्व की ज्योति को देखते थे। इसी आधार पर उन्होंने मानवीय एकता का प्रतिपादन किया और मानवतावाद की भावना को सुदृढ़ किया। संत रैदास की वाणी हैं :–

''हिन्दू तुरक मँहि नहीं कछु भेदा, सभ मँह एक रक्त और मासा
दोउ एकह दूजा कोउ नहीं, पेख्या सोध 'रैदास'।।''[10]

संतों की धार्मिक दृष्टि बहुत साफ थी। जो धर्म व्यक्ति में भेद स्थापित करता हो, चाहे वह हिंदू हो या इस्लाम, वह किसी भी संवेदनशील मानव की श्रद्धा का पात्र नहीं हो सकता। संतों ने पहले ही जान लिया था कि भारत में हिंदू–मुसलमान तथा छूत–अछूत सबको एकता के सूत्र में बांधने वाला यदि कोई सामान्य भक्तिमार्ग का प्रचार न किया जायेगा तो सारा संसार या तो नास्तिक हो जायेगा या आपस में भयानक वर्ग–युद्ध में लड़ता रहेगा।

मानवतावादी दृष्टि से संतों ने ऐसा सामान्य भक्ति मार्ग निकाला, जो सर्वजन सुलभ हो। इसी सर्वजन हितायः की भावना से संतों ने उस एक ब्रह्म का प्रतिपादन किया, जो घट–घट वासी है। उस ब्रह्म को कहीं मन्दिर–मस्जिद में ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं है। सर्वत्र ईश्वर की विद्यमानता का प्रचार करते हुए तथा मूर्तिपूजा इत्यादि को अनावश्यक बताते हुए संत नामदेव कहते हैं–

''आपुन देव देहरा आपुहि आपु लगावै पूजा।
जलते तरंग तरंग ते है, जल कहन सुनन को दूजा।।
आपुहि गावै, आपुहि नाचौ, आपु बजावै तूरा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर, जन ऊरा तू पूरा।।''[11]

जो लोग राम–रहिम आदि नामों के लेकर लड़ते हैं, उनकी एकता का प्रतिपादन करने के लिए संत कबीरदास कहते हैं :–

''मुझको तूँ क्या ढूँढै बंदे मैं तो तेरे पास में।''[12]

इसी प्रकार संत रैदास कहते हैं :–

''भावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई।''[13]

परमात्मा तो हर जगह विद्यमान है। उसे अपने घट में खोजने की आवश्यकता है। वह परमात्मा तो हर प्राणी में व्याप्त है। इसी संदर्भ में संत गरीबदास का कथन हैं :–

''तीरथ जांहि ने देवल पूजौं, ना वृंदावन काशी।
ऐसा दर्पण मांझी हमारे, हम दर्पण के मांहि।।''[14]

परमात्मा तो मानव शरीर में उस दर्पण की तरह है जिसमें हम अपनी छवि देखते है। जिस प्रकार दर्पण में हमें अपनी छवि देखकर दो का आभास होता है लेकिन व्यक्ति एक ही होता है। उसी प्रकार मानव में परमात्मा व्याप्त है लेकिन भ्राँति के कारण वह अपने के परमात्मा को इधर–उधर ढूँढ़ता फिरता है। इसी कारण तो संतों

ने मानव जन्म और इस शरीर को दुर्लभ कहा है, और कहा है कि अपने जन्म से सार मत गवाओं, क्योंकि यह मानव देह दुर्लभ है। सभी संतों ने मानव कल्याण के लिए 'चेतावनी का अंग' में यही उपदेश दिया है।

मानवीय एकता के पक्षधर होने के नाते संतों ने समाज में एकता लाने का प्रयास किया। इसलिए संतों ने मानव–मानव में तात्त्विक दृष्टि से अभेद बताकर वर्ग जाति और सम्प्रदाय के भेदभाव को दूर करने का ही संदेश नहीं दिया, अपितु वैसा आचरण स्वयं धारण किया। इसलिए तो संतों ने मानव–मानव में भेद उत्पन्न करने वाले आडम्बरों, बाह्याचारों, सम्प्रदायों, रुढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रति कठोर रूख अपनाया।

संतों की आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण उनमें मानवीयता गुण स्वयमेव स्थापित हो जाता है। राजबीर धनखड़ का कथन है–''समाज सुधार तो सन्तों से अपने आप ही हो जाता है। उनके आध्यात्मिक ज्ञान से सामाजिक बुराइयां अपने आप खत्म हो जाती है। जहां कहीं फूलों का खेत होता है वहां का वातावरण अपने आप सुगंधित हो जाता है। साहित्यकार और इतिहास संतों को समाजसुधार के रूप में देख और परख सकते हैं।''[15] समाज सुधार का प्रयास भी मानवतावादी दृष्टिकोण के अंतर्गत आता है। संत साहित्य तो समाज सुधार के उपदेशों से भरा हुआ है। इसलिए संत साहित्य में मानवतावाद के दर्शन हर पहलु में मिल जाते है। मानवतावाद भारतीय संस्कृति का विशिष्ट गुण है।

मानवतावादी संतों ने मानव का मानव द्वारा कल्याण करवाने के लिए कालजयी उपदेश दिए। इसलिए तो आज भी संत साहित्य की प्रासंगिकता बनी हुई हैं। मानव का कल्याण तभी सम्भव है, जब मानव में बुराईयां दूर हो जाए और सद्‌गुणों का विकास हो। संतों ने समाज में प्रचलित सभी प्रकार की बुराईयों का विरोध करते हुए अपनी वाणी दी हैं। संत दादूदयाल कहते हैं :–

''दादू निंद्या नांव न लीजिये, सुपिनैं ही जिनि होई।
ना हम कहैं न तुम्ह सुणैं, हम जिनि भाखै कोई।।''[16]

इसी प्रकार संत कबीर ने पहले ही 'कुसंगति का अंग', 'कुशब्द कौ अंग', 'असाध कौ अंग', 'चेतावनी कौ अंग' इत्यादि अंगों में मनुष्य को बुराईयों से दूर रहने का संदेश दिया है। यथा–

''मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराई।
कदली सीप भवंग मुषी, एक बूँद तिहुँ भाइ।।''[17]

स्वाति नक्षत्र की बूँद के उदाहरण द्वारा सत्संगति व कुसंगति को समझाया गया हैं यदि स्वाति नक्षत्र की बूँद केले में पड़ती है तो कपूर बनती है, साप के मुख में पड़कर विष बन जाती है, परन्तु वहीं बूँद सीपी के मुख में पड़कर मोती का रूप धारण कर लेती है। सत्संगति से ही मानव सार तत्त्व को समझ सकता है।

संतों ने सत्संगति की तरह सदाचार पर भी सहज बल दिया हैं रामसजन पाण्डेय का कथन हैं–''सन्तों के यहाँ सदाचार व्यक्ति के साथ समाज के एक धरोहर के रूप में आया है। सन्तों ने सकल समाज को उपदेशित किया है कि बाह्याडम्बरों के प्रति किसी प्रकार का लोभ–मोह–आसक्ति न रखकर आन्तरिक शुचिता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।''[18] संत कबीरदास का मानना है कि प्राणिमात्र के प्रति वैरहीनता और निष्काम कर्म ही सबसे बड़ा सदाचार है।

संतों ने मानवतावादी गुणों में समानता, क्षमा भाव को भी विशेष महत्त्व दिया है। संत गरीबदास कहते हैं कि जिस मनुष्य में समता, क्षमा, दया, धर्म और प्राणिमात्र के लिए सेवाभाव होता है, वह निश्चय ही निरंजन को

पा लेता है। अगर साधक में इन गुणों का अभाव है, वह लाख जतन करे फिर भी वह उस परब्रह्म, अलख निरंजन को नहीं पा सकता–

"गरीब, अकलि की लार हैं, दया धर्म अरु सेव।
अकलि बिना क्यूं पाईये, आदि निरंजन देव।।''[19]

सामाजिक समानता स्थापित करने के लिए भी सभी संतों ने अनेक प्रकार के उपदेश दिए है। समाज में एकरूपता तभी आती है जब सभी प्राणियों को एक समान माना जाता है। संतों ने समाजिक समानता एवं मानवीय एकता में सामाजिक एवं धार्मिक विषमता को मूल कारण माना है। इसी कारण समाज से वास्तविक धर्म का लोप हो गया है। इसीलिए संतों ने सामाजिक असामनता एवं मानवीय एकता के कारणों के उत्तरदायी तत्त्वों को जड़ से उखाड़ने का प्रयास किया तथा जातीय एकता स्थापित करने का प्रयास किया। संत गरीबदास फरमाते हैं कि समाज में समानता तभी आ सकती है जब समाज में सभी को समान माना जाता है। उनकी वाणी इस प्रकार हैं :–

''गरीब, साध साध सब एक हैं, मानसरोवर हंस।
मोती चुग मुक्ता भये एक जाति कुल वंश।।''[20]

संत साहित्य में सद्आचरण में सत्य बोलने का भी उतना ही महत्त्व है जितना अन्य विशेषताओं का है। इसलिए सभी संतों ने असत्य बोलने वालों पर करारा व्यंग्य करते हुए 'कुशब्द का अंग' नाम से एक प्रकरण में अपनी वाणी दी है। संतों ने सत्यप्रिय व्यक्ति के गुणों का भी गुणगान किया है। सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है। संत कबीरदास का कथन है कि सत्य के बराबर कोई भी तप नहीं है और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य का ताप है, उसके हृदय में स्वयं भगवान विराजमान रहते है। भारतीय संस्कृति में सत्य वचन का विशेष महत्त्व रहा है। हमारे धर्म ग्रन्थों व नैतिक शिक्षा के ग्रन्थों में बार–बार सत्य वचन का प्रतिपादन किया गया है। संतों ने अनेक दृष्टांतों के द्वारा नीति–अनीति का भी संदेश मानव–मात्र के कल्याण के लिए दिया है।

मानवतावाद का सबसे प्रमुख लक्षण है अहिंसावाद। इस पर सभी संतों ने विचारपूर्वक चर्चा की है। संत अहिंसावादी थे। इसलिए उन्होंने हिंसा का प्रबल विरोध करते हुए, हिंसा करने वालों पर करारे व्यंग्य बाण भी छोड़े। संत सभी प्राणियों को उस ईश्वर की एक समान अनुकृति मानते है। उनका मानना है कि सभी जीवों में एक ही ब्रह्म का निवास है। इसलिए जीव हत्या करना, उस कर्ता की हत्या है जिसने इस प्राणीजगत को सृजित किया है। संत कबीर ने इसलिए जीव बलि चढ़ाने वाले, मांस भक्षण करने वाले तथा जीव हत्या करने वालों की कठोर शब्दों में भर्त्सना की है :–

''दिन को रहत हैं रोजा रात हनत हैं गाय।
यह खून वह बंदगी क्योंकर खुशी खुदाय।।''[21]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की जितनी भी विशेषताएं है। संत साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। संतों ने सभी सांस्कृतिक गुणों को जनवाणी द्वारा आम जनता तक निसृत किया। इस प्रकार संतों ने भारतीय संस्कृति की अभिव्यंजना की है।

सन्दर्भ सूचि :-

1. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 67
2. गुलाबराय, बाबू ,भारतीय संस्कृति की रुपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 1
3. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 82
4. श्री सतगुरु ग्रन्थ साहिब, (स.) पाण्डेय, आशीष कुमार, लोकनाथ पब्लिकेशन, भूमिका, पृ. 2
5. सिंह, डॉ. एन. सन्त शिरोमणि रैदास वाणी और विचार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 81
6. श्री सतगुरु ग्रन्थ साहिब, भूमिका, पृ. 22
7. कबीर ग्रन्थावली, (सं.) दास, श्यामसुन्दर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पद (राग गौड़ी), पृ. 127
8. श्री सतगुरु ग्रंथ साहिब, अथ ज्ञान तिलक, पृ. 496
9. वही, पृ. 555
10. सिंह, डॉ. एन., सन्त शिरोमणि रैदास वाणी और विचार, पृ. 91
11. हिंदी संत काव्य संग्रह, (सं.) द्विवेदी, गणेश प्रसाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ. 22
12. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 82
13. वही, पृ. 84
14. श्री सतगुरु ग्रन्थ साहिब, अथ एकता उपजनि का ग्रन्थ, पृ. 529
15. धनखड़, डॉ. राजबीर व राजपाल सिंह कादयान, हरियाणा का प्रसिद्ध संत गरीबदास जीवन एवं दर्शन, सुकीर्ति प्रकाशन, कैथल (हरियाणा), पृ. 115
16. रजनीश, गोविंद, दादू समग्र, अमरसत्य प्रकाशन, दिल्ली, साखी खंड, निंद्या कौ अंग, पृ. 576
17. कबीर ग्रन्थावली, (सं.) दास, श्यामसुन्दर, कुसंगति का अंग, पृ. 75
18. पाण्डेय, डॉ. रामसजन, निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, संजय प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 258
19. श्री सतगुरु ग्रन्थ साहिब, अथ अकला का अंग, 360
20. वही, अथ साध का अंग, पृ. 181
21. कबीर बीजक (भाषा टीका), (सं) साहेब, सन्त इन्द्रमणि, लक्ष्मी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 5

पिंकी देवी, शोधार्थी

मकान नम्बर 815/30, गली नं. 31

समीप हरहित स्टोर, आजाद नगर, कुरुक्षेत्र –136118 (हरियाणा)

मोबाइल नं. 6239495562

Email : pinkysharmakoutsh@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 176-181

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति और उसके पक्ष

ए. पीटर राज
शोधार्थी, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, चेन्नई।

संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र स्वरूप का नाम है। जो उस समाज के सोचने, विचारने, कार्य करने के स्वरूप में होता है। संस्कृति का शब्दार्थ है– उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। मनुष्य स्वभाव से प्रगतिशील प्राणी है। यह बुद्धि के प्रयोग से अपने चारों ओर की प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन–पद्धति, रीति–रिवाज, रहन–सहन आचार–विचार नवीन अनुसंधान और खोज, जिससे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे से ऊँचा उठता है तथा सभ्य बनता है। सभ्यता संस्कृति का अंग है और सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है जबकि संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही सन्तुष्ट नहीं होता अपितु वह भोजन से ही नहीं जीता, शरीर के साथ मन और आत्मा भी है।

भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु इसके बावजूद मन और आत्मा तो अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। सौन्दर्य की खोज करते वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र और वास्तु आदि अनेक कलाओं को विकास देता है। सुखपूर्वक निवास के लिए सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती है। इनमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान–विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है। भारत के आदिवासी स्वयं की पहचान और संस्कृति को बचाने के लिए, भिन्न धर्म बनाने के लिए भारत शासन से आधिकारिक मान्यता चाहते हैं।

संस्कृति की अवधारणा :–

संस्कृति जीवन की विधि है। जो भोजन हम खाते हैं, जो कपड़े पहनते हैं। जो भाषा बोलते हैं और जिस भगवान की पूजा करते हैं, ये सभी सभ्यता कहलाते हैं, तथापि इनसे संस्कृति भी सूचित होती है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृति उस विधि का प्रतीक है जिसके आधार पर हम सोचते हैं, और कार्य करते हैं। इसमें वे अमूर्त/अभौतिक भाव और विचार भी सम्मिलित हैं जो हमने एक परिवार और समाज के सदस्य होने के नाते उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं। एक सामाज वर्ग के सदस्य के रूप में मानवों की सभी उपलब्धियां उसकी संस्कृति से प्रेरित कही जा सकती हैं। कला, संगीत, साहित्य, वास्तुविज्ञान, शिल्पकला, दर्शन, धर्म और विज्ञान

सभी संस्कृति के प्रकट पक्ष हैं। तथापि संस्कृति में रीतिरिवाज, परम्पराएं, पर्व, जीने के तरीके, और जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यक्ति विशेष का अपना दृष्टिकोण भी सम्मिलित हैं।

इस प्रकार संस्कृति मानव जनित मानसिक पर्यावरण से सम्बंध रखती है जिसमें सभी अभौतिक उत्पाद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान किए जाते हैं। समाज–वैज्ञानिकों में एक सामान्य सहमति है कि संस्कृति में मनुष्यों द्वारा प्राप्त सभी आन्तरिक और बाह्म व्यवहारों के तरीके समाहित हैं। ये चिहन्नों द्वारा भी स्थनान्तरित किए जा सकते हैं, जिनमें मानव समूहों की विशिष्ट उपलब्धियां भी समाहित हैं। इन्हें शिल्प कलाकृतियों द्वारा मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। वस्तुतः, संस्कृति का मूल केन्द्र बिन्दु उन सूक्ष्म विचारों में निहित है जो एक समूह में ऐतिहासिक रूप से उनसे सम्बद्ध मूल्यों सहित विवेचित होते रहे हैं। संस्कृति किसी समाज के वे सूक्ष्म संस्कार हैं, जिसके माध्यम से लोग परस्पर सम्प्रेषण करते हैं, विचार करते हैं और जीवन के विषय में अपनी अभिवृत्तियों और ज्ञान को दिशा देते हैं।

संस्कृति वह प्रकिया है जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है।[1] संस्कृति हमारे जीने और सोचने की विधि में हमारी अन्तःस्थ प्रकृति की अभिव्यक्त है। यह हमारे साहित्य में, धार्मिक कार्यों में, मनोरंजन और आनन्द प्राप्त करने के तरीकों में भी देखी जा सकती हैं। संस्कृति के दो भिन्न उप–विभाग कहे जा सकते हैं–भौतिक और अभौतिक। भौतिक संस्कृति उन विषयों से जुड़ी है जो हमारी सभ्यता कहते हैं, और हमारे जीवन के भौतिक पक्षों से सम्बद्ध होते हैं, जैसे हमारी वेशभूषा, भोजन, घरेलू सामान आदि। अभौतिक संस्कृति का सम्बध विचारों, आदर्शों, भावनाओं और विश्वासों से हैं। संस्कृति एक समाज से दूसरे समाज तथा एक देश से दूसरे देश में बदलती रहती है। इसका विकास एक सामाजिक अथवा राष्ट्रीय संदर्भ में होने वाली ऐतिहासिक एवं ज्ञान–संम्बंधी प्रक्रिया व प्रगति पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए, हमारे अभिवादन की विधियों में, हमारे वस्त्रों में, खाने की आदतों में, पारिवारिक सम्बन्धों में, सामाजिक और धार्मिक रीति–रिवाजों और मान्यताओं में परिचम से मिन्नता है। सच कहें तो, किसी भी देश के लोग अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं के द्वारा ही पहचाने जाते हैं।

संस्कृति का निर्माण :–

किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरूषार्थ का फल नहीं, अपितु असंख्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भगीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पाई जाने वाली मूर्ग की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूर्ग के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गए। फिर नए कीड़ों ने घर बनाये, उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी अगली पीढ़ी ने भी यही किया और यह क्रम हजारों वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। आज उन सब मूर्गों के नन्हे–नन्हे घरों ने परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टानों का रूप धारण कर लिया हैं संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे–धीरे निर्माण होता है और उनके निर्माण में हजारों वर्ष लगते हैं। समय के अनुसार मनुष्य की सोच, खोज की वृत्ति.... अपनी संस्कृति से दूर हटा दिया।[2] मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के

सामाजिक वातावरण संस्थाओं, प्रथाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की रचना भी इसी प्रकार हुई हैं। भारतीयों की आस्था और विश्वास आज भी उतना ही है, जितना हज़ारों वर्ष पूर्व था। गीता और उपनिषदों के सन्देश हज़ारों साल से हमारी प्रेरणा और कर्म का आधार रहे हैं। किंचित परिवर्तनों के बावजूद भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों, जीवन मूल्यों और वचन पद्धति में एक ऐसी निरन्तरता रही है, कि आज भी करोड़ों भारतीय स्वयं को उन मूल्यों एवं चिन्तन प्रणाली से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं और इससे प्ररणा प्राप्त करते हैं।

लचीलापन एवं सहिष्णुता :– भारतीय संस्कृति की सहिष्णु प्रकृति ने उसे दीर्घ आयु और स्थायित्व प्रदान किया है। संसार की किसी भी संस्कृति में शायद ही इतनी सहनशीलता हो, जितनी भारतीय संस्कृति में पाई जाती है। भारतीय हिन्दू किसी देवी–देवता की आराधना करें या न करें, पूजा–हवन करें या न करें, आदि स्वतंत्रताओं पर धर्म या संस्कृति के नाम पर कभी कोई बन्धन नहीं लगाये गए। हमे अपनी ऐतिहासिक नैतिक चेतना या संस्कृति के आधार पर ही अपनी आथिक व्यवस्था बनानी चाहिए।[3]

संस्कृति और सभ्यता :-

संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द प्रायः पर्याय के रूप में प्रयुक्त कर दिए जाते हैं। फिर भी दोनों में मौलिक भिन्नता है, और दोनों के अर्थ अलग–अलग हैं। संस्कृति का सम्बंध व्यक्ति और समाज में निहित संस्कारों से है, और उसका निवास और उसके मानस में होता है। दूसरी ओर, सभ्यता का क्षेत्र व्यक्ति और समाज के बाह्म स्वरूप में है। सभ्य का शाब्दिक अर्थ है, जो सभा में सम्मिलित होने योग्य हो। इसलिए सभ्यता ऐसे सभ्य व्यक्ति और समाज के सामूहिक स्वरूप को आकर देती है। सभ्यता को अंग्रेजी में 'सिविलाइज़ेशन' कहते हैं, और कल्चर से उसका अन्तर स्पष्ट ही है। संस्कृति और सभ्यता में भी वहीं भेंद हैं।

प्रारम्भ में मनुष्य आँधी–पानी, सर्दी–गर्मी सब कुछ सहता हुआ जंगलों में रहता था, धीरे–धीरे उसने इन प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा के लिए पहले गुफाओं और फिर क्रमशः लकड़ी, ईंट या पत्थर के मकानों की शरण ली। अब वह लोहे और सीमेंट की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं का निर्माण करने लगा है। प्राचीन काल में यातायात का साधन सिर्फ मानव के दो पैर ही थे। फिर उसने घोड़े, ऊँट, हाथी, रथ और बहली का आश्रय लिया, अब मोटर और रेलगाड़ी के द्वारा थोड़े समय में बहुत लम्बे फासले तय करता है, हवाई जहाज द्वारा आकाश में भी उड़ने लगा है। पहले मनुष्य जंगल के कन्द, मूल और फल तथा आखेट से अपना निर्वाह करता था। बाद में उसने पशु–पालन और कृषि के अविष्कार द्वारा आजीविका के साधनों में उन्नति की। पहले वह अपने सब कार्यों को शारिरिक शक्ति से करता था। पीछे उसने पशुओं को पालतू बनाकर और सधाकर उनके शक्ति का हल, गाड़ी आदि में उपयोग करना सीखा। अंत में उसने हवा, पानी, बिजली और अणु की भौतिक शक्तियों को वश में करके ऐसी मशीने बनाई जिनसे उसके भौतिक जीवन में काया पलट हो गई। मनुष्य की यह सारी प्रगति सभ्यता कहलाती है।

संस्कृति की सामान्य विशेषतायें :-

1. वैसे देखा जाए तो संस्कृति सीखी जाती है और प्राप्त की जाती है, अर्थात् मानव के द्वारा संस्कृति को

प्राप्त किया जाता है। इस अर्थ में कि कुछ निश्चित व्यवहार हैं जो जन्म से या अनुवांशिकता से प्राप्त होते हैं, व्यक्ति कुछ गुण अपने माता–पिता से प्राप्त करता है लेकिन सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवहारों को पूर्वजों से प्राप्त नहीं करता हैं। वे परिवार के सदस्यों से सीखे जाते हैं, इन्हें वे समूह से और समाज से जिसमें वे रहते है उनसे सीखते हैं। यह स्पष्ट है कि मानव की संस्कृति शारीरिक और सामाजिक वातावरण से प्रभावित होती है। जिनके माध्यम से वे कार्य करते हैं।

2. संस्कृति लोगों के समूह द्वारा बाँटी जाती है :– ऐसे सोच या विचार या कार्य को संस्कृति कहा जाता है यदि यह लोगों के समूह के द्वारा बाँटा जाता या अभ्यास में लगाया जाता है।

3. संस्कृति संचयी होती है :– संस्कृति में शामिल विभिन्न ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित किया जा सकता है। समय बीतने ज्ञान उस विशिष्ट संस्कृति में जुड़ता चला जाता है, जो जीवन में परेशानियों के समाधान के रूप में कार्य करता है, पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है। यह चक्र बदलते समय के साथ एक खास संस्कृति के रूप में बना रहता है।

4. संस्कृति परिवर्तनशील होती है :– ज्ञान, विचार और परम्परायें नयी संस्कृति के साथ जुड़ते जाते हैं। समय के बीतने के साथ ही किसी खास संस्कृति में सांस्कृतिक परिवर्तन संभव होते जाते हैं।

मानव जीवन में संस्कृति का महत्व :–

संस्कृति जीवन के निकट से जुड़ी है। यह कोई बाह्य वस्तु नहीं है और न ही कोई आभूषण है जिसे मनुष्य प्रयोग कर सकें। यह केवल रंगों का स्पर्श मात्र भी नहीं है। यह वह गुण है जो हमें मनुष्य बनाता है। संस्कृति के बिना मनुष्य ही नहीं रहेंगे। संस्कृति परम्पराओं से, विश्वासों से, जीवन की शैली से, आध्यात्मिक पक्ष से, भौतिक पक्ष से निरन्तर जीवित है। यह हमें जीवन का अर्थ, जीवन जीने का तरीका सिखाती है। मानव ही संस्कृति का निर्माता है और साथ ही संस्कृति मानव को मानव बनाती है। संस्कृति का एक मौलिक तत्व है, धार्मिक विश्वास और उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति। हमें धार्मिक पहचान का सम्मान करना चाहिए, साथ ही सामयिक प्रयत्नों से भी परिचित होना चाहिए जिनसे अन्तः धार्मिक विश्वासों की बातचीत हो सके, जिन्हें प्रायः अन्तः सांस्कृतिक वार्तालाप कहा जाता हैं।

इसीलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक हिन्दू धर्म का धर्म न कहकर मूछ मूल्यों पर आधारित एक जीवन–पद्धति की संज्ञा दी गई और हिन्दू का अभिप्राय किसी धर्म विशेष के अनुयायी से न लगाकर भारतीय से लगाया गया। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित हुई तब किसी न किसी महपुरूष ने इसे गतिशीलता प्रदान कर इसकी सहिष्णुता को एक नई आभा से मंडित कर दिया। इस दृष्टि से प्राचीनकाल में बुद्ध और महावीर के द्वारा, मध्यकाल में शंकराचार्य, कबीर, गुरू नानक और चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से तथा आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा जयातिबा फले के द्वारा किये गए प्रयास इस संस्कृति की महत्वपूर्ण धरोहर बन गए।

ग्रहणशीलता :– भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण इसमें एक ग्रहणशीलता प्रवृत्ति को विकसित होने का अवसर मिला। वस्तुः जिस संस्कृति में लोकतत्व एवं स्थायित्व के आधार व्यापक हों, उस

संस्कृति में ग्रहणशीलता की वृत्ति स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न हो हो जाती है। हमारी संस्कृति में यहाँ के मूल निवासियों ने समन्वय की प्रक्रिया के साथ ही बाहर से आने वाले भाक, हूण, यूनानी एवं कुशाण जेसी प्रजातियों के लोग भी घुलमिल कर अपनी पहचान खो बैठे।

भारत में इस्लामी संस्कृति का आगमन भी अरबों, तुर्कों और मुगलों के माध्यम से हुआ। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति का पृथक अस्तित्व बना रहा और नवागत संस्कृतियों से कुछ अच्छी बातें ग्रहण करने में भारतीय संस्कृति ने संकोच नहीं किया। ठीक यही स्थति यूरोपीय जातियों के अपने तथा ब्रिटिश सम्राज्य के कारण भारत में विकसित हुई ईसाई संस्कृति पर भी लागू होती हैं। यद्यपि ये संस्कृतियाँ अब भारतीय संस्कृतियों का अभिन्न अंग है, तथापि 'भारतीय इस्लाम, एवं 'भारतीय ईसाई' संस्कृतियों का स्वरूप विश्व के अन्य इस्लामी और ईसाई धर्मवालम्बी देशों से कुछ भिन्न है। इस भिन्नता का मूलभूत कारण यह है कि भारत के अधिकांश मुसलमान और ईसाई मूलतः भारत भूमि के ही निवासी हैं। सम्भवतः इसीलिए उनके सामाजिक परिवेश और सांस्कृतिक आचरण में कोई परिवर्तन नहीं हो पाया और भारतीयता ही उनकी पहचान बन गई। जिस प्रकार यहां की बोलियों की गिनती नहीं उसी प्रकार यहां भिन्न धर्मों के सम्प्रदायों की गिनती भी आसान नहीं।[4]

आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वय :-

भारतीय संस्कृति में आश्रम–व्यवस्था के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे चार पुरूषार्थ का विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः इन पुरूषार्थों ने ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्‌भुत समन्वय कर दिया। हमारी संस्कृति में जीवन के ऐहिक और परलौकि दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बद्ध किया गया था। धर्म उन सिद्धान्तों, तत्वों औरजीवन प्रणाली को कहते हैं। जिससे मानव जाति परमात्मा प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना लौकिक जीवन सुखी बना सके तथा मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा शान्ति का अनुभव कर सके। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है, यह अमरता मोक्ष से जुड़ी हुई है और यह मोक्ष पाने के लिए अर्थ और काम के पुरूषार्थ करना भी जरूरी है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक सन्देश एवं अर्थ और काम की भौतिक अनिवार्यता परस्पर सम्बद्ध है। आध्यात्मिकता और भोतिकता के इस समन्वय में भारतीय संस्कृति की वह विशिष्ट अवधारणा परिलक्षित होती है, जो मनुष्य के इस लोक और परलोक को सुखी बनाने के लिए भारतीय मनीशियों ने निर्मित की थी। सुखी मानव–जीवन के लिए ऐसी चिन्ता विश्व की अन्य संस्कृतियाँ नहीं करती। साहित्य, संगीत और कला की सम्पूर्ण विधाओं के माध्यम से भी भारतीय संस्कृति के इस आध्यात्मिक एवं भौतिक समन्वय को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

अनेक में एकता :-

भौगोलिक दृष्टि से भारत विविधताओं का देश है, फिर भी सांस्कृतिक रूप से एक इकाई के रूप में इसका अस्तित्व प्राचीनकाल से बना हुआ है। इस विशाल देश में उत्तर का पर्वतीय भू–भाग, जिसकी सीमा पूर्व में ब्रह्मपुत्र और पश्चिम में सिन्धु नदियों तक विस्तृत है। इसके साथ ही गंगा, यमुना, सतलुज की उपजाऊ कृषि भूमि और दक्षिण का वनों से आच्छादित पठारी भू–भाग, पश्चिम में थार का रेगिस्तान, दक्षिण का तटीय प्रदेश तथा पूर्व में असम और मेघालय का अतिवृष्टि का सुरम्य क्षेत्र सम्मिलित है। इस भौगोलिक विभिन्नता के

अतिरिक्त इस देश में आर्थिक और सामाजिक भिन्नता भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुतः इन भिन्नताओं के कारण ही भारत में अनेक सांस्कृतिक उपधाराएँ विकसित होकर पल्लवित और पुष्पित हुई है।

अनेक विभिन्नताओं के बावजूद भी भारत की पृथक सांस्कृतिक सत्ता रही है। हिमालय सम्पूर्ण देश के गौरव का प्रतीक रहा है, तो गंगा–यमुना और नर्मदा जैसी नदियों की स्तुति यहाँ के लोग प्राचीनकाल से करते आ रहे हैं। भारत की सभी भाषाओं में देवताओं पर आधारित साहित्य का सृजन हुआ है। उत्तर से दक्षिण औरपूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में जन्म, विवाह और मृत्यु के संस्कार एक समान प्रचलित हैं। विभिन्न रीति–रिवाज, आचार–व्यवहार और तीज–त्योहारों में आश्चर्यजनक समानता है। संगीत के साम स्वर और नृत्य के त्रिताल सम्पूर्ण भारत में समान रूप से प्रचलित हैं। भारत अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और पृथक आस्थाओं एवं विश्वासों का महादेश है, फिर भी इसका सांस्कृतिक समुच्चय और अनेकता में एकता का स्वरूप संसार के अन्य देशों के लिए विस्मय का विषय रहा है।

संदर्भ सूची :-

1. भारतीय संस्कृति, डा. रामजी उपाध्याय, पृष्ठ संख्या– 17
2. साहित्य शिक्षा और संस्कृति, डा. राजेन्द्र प्रसाद, पृष्ठ संख्या– 185
3. साहित्य शिक्षा और संस्कृति, डा. राजेन्द्र प्रसाद, पृष्ठ संख्या– 186
4. साहित्य शिक्षा और संस्कृति, डा. राजेन्द्र प्रसाद, पृष्ठ संख्या– 190

A. Peter Raj
Sahajeevan Colony, Haddo
Andaman Nicobar Island
Mobile : 9933274504

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 182-187

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति : अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

पूजा

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

'संस्कृति" एक ऐसा शब्द है जिसके अर्थ की परिधि बड़ी व्यापक और विस्तृत है। इसका व्याकरणिक अर्थ है, 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि। वर्तमान में संस्कृति शब्द को अंग्रेजी के कल्पर अर्थ में लिया जाता है, जिसका संबंध परिष्कार करने, ठीक करने से है। 'संस्कृति' शब्द की व्याख्या समय–समय पर साहित्यकारों, इतिहासकारों एवं धर्मगुरुओं द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार से की गई है।" संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग के साथ संस्कृति की 'कृ' धातु में छत्र प्रत्यय लगने से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ साफ या परिष्कृत करना है।'[1] 'बृहत हिन्दी कोश में शुद्धि, सुधार, परिष्कार, निर्माण तथा पवित्री करण की संस्कृति कहा गया है।"[2] संस्कृति का अर्थ कल्याण के हिंदू संस्कृति विशेषांक में परंपरागत अनुस्यूत संस्कार बतलाया गया है।'

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के प्रकाश में कहा जा सकता है कि संस्कृति उन उदात्त विचारों एवं पवित्र कार्यों की श्रृंखला है जो मानव मन का परिष्कार करती है। संस्कृति शब्द विविध अर्थों का घोतक है।

भारतीय मनीषियों ने अपनी–अपनी दृष्टि से संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। प्रसिद्ध विद्वान 'जैमिनी ने कहा है – 'संस्कारों ही नाम सभवति यस्मिन जाते पदार्थो भवति योग्य कस्मिचिदर्थस्य।'[3] पाण्डुरंग सदाशिव ने 'संस्कृति' की व्याख्या करते हुए कहा है– 'संस्कृति मनुष्य में त्याग, संयम, सेवा, प्रेम, ज्ञान, विवेक आदिभावों को जगाती है। संस्कृति का अर्थ है–अंधकार से प्रकाश की ओर, भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर, अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर जाना, सारे धर्मों का मेल, सारी जातियों का मेल, ज्ञान–विज्ञान का मेल, मानव–जाति के बेड़े को मंगल की ओर ले जाना ही संस्कृति है।'[4]

इस प्रकार मनुष्य जीवन का विकसित रूप ही संस्कृति है। इसलिए व्यवहार कुशल एवं मानवता गुण संपन्न व्यक्ति को विकसित एवं संस्कृति की संज्ञा दी जाती है।

निष्कर्षतः संस्कृति से सर्व–सामान्य मनुष्य का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है। यह वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति को विवेक और व्यावहारिक ज्ञान की अलब्धि होती है। संस्कृति जीवन में आदर्शों, मूल्यों का निर्माण करती है तथा मनुष्य की वह परिष्कृत एवं विकसित अवस्था है जहाँ पहुँचकर मनुष्य सच्चिदानंद को प्राप्त करने में सक्षम होता है। मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ति हेतु विभिन्न तौर तरीकों, साधनों, रीति–रिवाजों, प्रथाओं आदि को प्रयोग में लाता है। इस तरह उसके द्वारा अपनाई जाने वाली विधियों को आगे आने वाली पीढ़ी अपनाती है। इस तरह यह चक्र पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। इन सबके योग को संस्कृति कहते हैं।

संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र स्वरूप का नाम है जो उस समाज के सोचने,

विचार ने, कार्य करने के स्वरूप में अन्तनिर्हित होता है। संस्कृति का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व है। संस्कृति समाज एक–दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। संस्कृति समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संस्कृति किसी भी समाज की आत्मा होती है, उसकी प्राण शक्ति होती है। संस्कृति के अंतर्गत पूरे समाज एवं सामाजिक संबंधों का प्रतिनिधित्व होता है। संस्कृति मनुष्य की जीवन शैली को प्रभावित करती है। उसका रहन–सहन, खान–पान, वेशभूषा, भाषा आदि संस्कृति से प्रभावित होते हैं। संस्कृति का निर्माण एक–दो दिन में नहीं होता बल्कि इसका निर्माण युग–युगांतर में होता है। कला, संगीत, साहित्य, वस्तु विज्ञान, शिल्पकला, धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि सभी संस्कृति के पक्ष हैं। संस्कृति हमारे आंतरिक गुणों का वह समूह है जिससे हम सभ्य समाज में गतिशील रहते है और उसे व्यक्त करते हैं। वह एक ऐसी प्रेरक शक्ति है जो हमारे सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है। संस्कृति में अनुकूलन का गुण होता है। संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है कि यह समय के साथ–साथ आवश्यकताओं के अनुरूप अनुकूलित हो जाती है। संस्कृति समाज के वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार होती हैं। जब वातावरण एवं परिस्थिति में परिवर्तन होता है तो संस्कृति भी उसके अनुसार अपने को ढालती है।

हम संस्कृति को औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह से सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम अपने धर्म को औपचारिक रूप से किसी संस्था जैसे चर्च, या मस्जिद, या आराधनालय के माध्यम से सीखते हैं। हम इतिहास के पाठों और अंग्रेजी पाठों के माध्यम से स्कूलों में अपना इतिहास और भाषा सीखते हैं। लेकिन हम अपनी संस्कृति को अनौपचारिक और अनजाने में परिवार, दोस्तों और मीडिया से भी सीखते है। हम दूसरों का निरीक्षण करते हैं और उनकी नकल करते हैं, और दूसरों के साथ संवाद करते हैं, इस प्रक्रिया में अपनी संस्कृति को आत्मसात करते हैं और सीखते हैं। उदाहरण के लिए, आप शायद जानते हैं कि अगर आप उनसे बात कर रहे हैं तो आपकों लोगों से कितनी दूर खड़ा होना चाहिए, भले ही यह आपको सीधे तौर पर नहीं सिखाया गया था। आपने अपनी संस्कृति के इस हिस्से को अनजाने में अवशोषित कर लिया।

समाज शास्त्रियों के अनुसार संस्कृति के प्रकार के आधार पर दो भागों में बांटा गया है :–

भौतिक संस्कृति :–

भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मनुष्य द्वारा निर्मित सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है, जिन्हें हम देख सकते हैं, जिन्हें स्पर्श कर सकते हैं, और इंद्रियों द्वारा आभास कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति परिवर्तनशील होती है। भौतिक संस्कृति में मेज, पंखा, अलमारी, वातनवाद्य– यंत्र, टेलीफोन, वायुयान आदि अनेक वस्तुओं को गिन सकते हैं। भौतिक संस्कृति के सभी तत्त्व को गिनना सरल नहीं है। सरल एवं आदिम समाजों की अपेक्षा जटिल एवं आधुनिक समाज में इनकी संख्या अधिक है। इसी प्रकार से पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नयी पीढ़ी के पास भौतिक संस्कृति अधिक है। भौतिक संस्कृति संचयी होती है, इसके अंगों में निरंतर वृद्धि होती जाती है। भौतिक संस्कृति का संबंध बाह्य जीवन से होता हैं।

अभौतिक संस्कृति :–

अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को सम्मिलित किया जाता है जो अमूर्त है, जिनका कोई माप–तौल, आकार व रंग–रूप नहीं होता, इंद्रियों द्वारा जिनका स्पर्श नहीं होता बस जिन्हें हम केवल महसूस कर सकते हैं, वह हमारे विचारों एवं कार्यों में निहित हैं।

सामान्यतः अभौतिक संस्कृति में हम सामाजिक विरासत में प्राप्त विचार, विश्वास, मानदण्ड, व्यवहार, प्रथा,

रीति–रिवाज, कानून, मनोवृतियां, साहित्य, ज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता आदि को सम्मिलित करते हैं। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रक्रिया द्वारा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती है। अभौतिक संस्कृति जटिल होती हैं। अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत कम और धीमी गति से होते है। सांस्कृतिक प्रसार के दौरान अभौतिक संस्कृति के तत्त्व को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जाता बस उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है। अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के आध्यात्मिक एवं आंतरिक जीवन से होता है। अभौतिक संस्कृति का मूल्यांकन भौतिक वस्तुओं की तरह उपयोगिता से नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका संबंध मानव के आत्मिक पक्ष से हैं जिसे महसूस किया जा सकता है, किंतु मापा नहीं जा सकता।

संस्कृति के मुख्यतः दो पक्ष है :–

प्रथम रहन सहन, आचार–विचार, संस्कार आदि। दूसरा पक्ष परंपरा से संबंधित है अर्थात परंपरा से प्राप्त विश्वास, मान्यताएं, आस्थाएं, रीति–रिवाज, स्थिति, जलवायु उस देश के व्यक्तियों के खान–पान, रोति–रिवाज एवं रहन–सहन पर प्रभाव डालती है। संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य के मन, प्राण और शरीर की शक्तियों को विकसित करना, उसकी विभिन्नताओं में समन्वय करके समाज को संगठित करना है।

विवाह संस्कार :–

विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह कोई शारीरिक या सामाजिक अनुबंध मात्र नहीं है, यहाँ दाम्पत्य को एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक साधना का भी रूप दिया गया है। इसलिए कहा गया है 'धन्योगृहस्थाश्रम' भारतीय समाज में शारीरिक–मानसिक परिपक्वता आ जाने पर ही युवक–युवतियों का विवाह–संस्कार कराया जाता है। जब यह लगे कि अब वह परिवार निर्माण की जिम्मेदारी लेने में समर्थ हो गया है तभी उन्हें विवाह जैसे पवित्र बंधन में बांधा जाता है। हिन्दू धर्म में विवाह को सोलह संस्कारों में से एक संस्कार माना गया है। हिंदू संस्कृति में विवाह कभी ना टूटने वाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है। विवाह में दो प्राणी (वर–वधू) अपने अलग अस्तिलों को समाप्त कर, एक सम्मिलित इकाई का निर्माण करते हैं और एक–दूसरे को अपनी योग्यताओं एवं भावनाओं का लाभ पहुंचाते हुए गाड़ी में लगे दो पहियों की तरह प्रगति पथ पर बढ़ते हैं। यानी विवाह दो आत्माओं का पवित्र बंधन है, जिसका उद्देश्य मात्र इंद्रिय–सुख भोग नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादन, संतानोत्पत्ति कर एक परिवार की नींव डालना है।

भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित रहे है। मनुस्मृति के अनुसार विवाह–ब्राह्मदेव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस और पिशाच 8 प्रकार के होते है। उनमें से प्रथम 4 श्रेष्ठ और अंतिम 4 क्रमशः निकृष्ट माने जाते हैं। विवाह के लाभों में यौन तृप्ति, वंश वृद्धि, मैत्री लाभ, साहचर्य सुख, मानसिक रूप से परिपक्वता, दीर्घायु, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति प्रमुख है।

विवाह संस्कार भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है। विवाह लड़के लड़कियों का ही नहीं अपितु दो परिवारों का आपसी संबंध है। वैवाहिक संबंध स्थापित करने में परिवार के सदस्यों एवं माँ–बाप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती हैं। विवाह के समय समस्त रीति–रिवाजों का निर्वहन किया जाता है। हमारे समाज में माँ–बाप की स्वीकृति मिलने पर ही बच्चे शादी करते है भले ही ने प्रेम–विवाह कर रहे हो। अगर लड़कियां लड़के के माँ–बाप नहीं है तो उसकी बहन–भाई आदि द्वारा रिश्ता तय किया जाता है।

खानपान :–

खान–पान जीवन का अनिवार्य पहलू है। इसका संबंध संस्कृति से अंतिम रूप से जुड़ा हुआ है। इतना ही नहीं प्राचीन युग से लेकर आज तक मानव जीवन के विकासों का अध्ययन भी खान–पान के आधार पर ही किया जाता रहा है। भारतीय संस्कृति का हर पहलू एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है–चाहे आप बैठे हों, खड़े हों या कुछ और कर रहे हो। हमारी संस्कृति में खाना खाने के लिए भी कुछ सरल नियम बताए जाते हैं। आज भारतीय संस्कृति और खानपान की पूरी दुनिया कायल हैं। दुबई, मलेशिया और ऑस्ट्रेलिया सहित दुनिया के कई देशों में भारतीय व्यंजनों को खूब पसंद किया जा रहा है। लौकी, सीताफल, दाल–चावल, साग और राजमा जैसे क्षेत्रीय व्यंजनों को भी विदेशों में हाथों हाथ लिया जा रहा है। विदेश में हर कोई भारतीय व्यंजन एवं स्वाद का दीवाना है। लेकिन आज हम आधुनिकता के चलते स्थानीय व्यंजनों को छोड़ चुके है। स्थानीय व्यंजन किसी न किसी स्थान विशेष से जुड़े हैं। वे हमारी संस्कृति की धरोहर हैं। उनसे हमारी पसंद, रुचि और पहचान होती है। इसलिए, भारतीय व्यंजनों का पुनरुद्धार आवश्यक है क्योंकि पश्चिमी प्रभाव के कारण अपना अस्तित्व खोते जा रहे है। अतः इनको पुनः प्रचलित करने की आवश्यकता है।

रहन–सहन :–

रहन–सहन अपने समय की संस्कृति व समाज से हमें जोड़ता है। भाषा, खान–पान, रतन–संतन रीति–रिवाज आदि में विविधता होकर भी भारत एक है। हमें अपनी संस्कृति पर गर्व होना चाहिए। इस प्रेम और भाईचारे से देश को फिर से सोने की चिड़िया बनाने का कार्य किया जा सकता है।

वस्त्राभूषण :–

वेशभुषा का संबंध देश की सभ्यता संस्कृति से होता है क्योंकि देशगत विभिन्नता के साथ सभ्यता और संस्कृति भी बदलती रहती है जिसके कारण वस्त्र आभूषणों में भी अंतर आ जाता है। इसलिए कहा जाता है – जैसा देश वैसा भेष।

किसी भी इंसान द्वारा उपयोग किये जाने वाले वस्त्रों एवं परिधानों की प्रकृति का निर्धारण किसी भी देश तथा उसके अंचलों के भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परिस्थिति के आधार पर किया जाता है, जोकि धीरे–धीरे उस क्षेत्र या स्थान विशेष के फैशन ट्रेंड के रूप में जाना जाने लगता है। लोग किसी ट्रेंड को तभी फॉलो करते हैं, जब वो उसे अपने क्षेत्र की संस्कृति के अनुरूप पाते हैं। भारतीय संस्कृति में सदियों से वेशभूषा का अपना एक विशिष्ट महत्व रहा है, जो कि भारतीय समाज की विचारधारा को दर्शाता है।

विविध पर्व एवं त्यौहार :–

भारत विविधताओं वाला देश है। यहाँ जीवन को उत्साह पूर्वक जीने के लिए अनेक पर्व और त्यौहारों का आयोजन किया जाता है। हमारी संस्कृति में वर्ष के अधिकांश दिनों में उत्सव एंव त्यौहारों का विधान है। हमारे पर्व या त्यौहार मात्र उत्सव नहीं होते जिन्हें उल्लास और उमंग के साथ मनाकर एक औपचारिकता पूरी कर दी जाती है, बल्कि अधिकांश पर्वों में एक संस्कृति, एक इतिहास और एक परंपरा निहित है।

साधारणतः पर्व और त्यौहार कोए कही मान लिया जाता है किंतु दोनों में भिन्नता है। पर्व एक विशेष उपलब्धि का जान है जिसे सामूहिक रूप से मनाया जाता है। उदाहरण के तौर पर 15 अगस्त 26 जनवरी राष्ट्रीय पर्व हैं। कुछ पर्व ऐसे हैं जो अनेक स्थानों पर कई दिनों तक उत्सव के रूप में मनाए जाते हैं जैसे– मैसूर का

दशहरा, कुल्लू का दशहरा यातिः पति उत्सव आदि। जो परंपरागत हों और संस्कारों से मुक्त हो अर्थात् जिनमें हमारी संस्कृति एवं पौराणिकता की झलक हो वे त्यौहार कहलाते हैं। यथा – होली, दीपावली, दशहरा, तीज रक्षाबंधन आदि। वास्तव में हमारी संस्कृति ही उत्सव प्रिय हैं। यह हमारे समृद्ध सांस्कृतिक जीवन एवं गहन आध्यात्मिक चिंतन का प्रतिबंध है। त्यौहार हमारी संस्कृति के प्रतीक माने जाते हैं जिससे हमारी संस्कृति की पहचान होती है।

भारतीय संस्कृति में व्रत, पर्व–त्योहार, उत्सव आदि का अपना विशेष महत्व है। हिंदुओं के ही सबसे अधिक त्योहार मनाये जाते हैं, कारण हिन्दू ऋषि मुनियों रूप में जीवन को सरस और सुंदर बनाने की योजनाएं रखी हैं। प्रत्येक पर्व–त्योहार, व्रत, उत्सव, मैले आदि का एक गुप्त मतत्त्व है। प्रत्येक के साथ भारतीय संस्कृति जुड़ी हुई है। वे विशेष विचार अथवा उद्देश्य को सामने रखकर निश्चित किये गये हैं।

नैतिक मूल्य :–

नैतिक मूल्य भारतीय संस्कृति की पहचान है जोकि हमें पुरखों से विरासत में मिली धरोहर है। संपूर्ण विश्व में भारत की पहचान नैतिकता से है। लेकिन नैतिक मूल्यों के ह्वास ने आज समाज को मानवता के स्तर में बहुत नीचे गिरा दिया है। नैतिक मूल्य एवं सिद्धांत अंदर ही अंदर चटकने लगे हैं। भौतिक सुविधाओं के प्रति बढ़ता आग्रह आंतरिक टूटन का यथार्थ है। समाज में बढ़ते अवरोधों और दोहरी मानसिकता के कारण नैतिक मूल्यों का विघटन हो रहा है। व्यक्तिगत लालसाओं की पूर्ति समाज विरोधी मनोवृत्तियों का द्वार खोल देती है। युवाओं का रूष्ठ और रूखा व्यवहार, बड़ों के प्रति अनादर, कुतर्क व मनमानी यह सब दर्शाता है कि युवाओं में नैतिक मूल्यों का स्तर किस हद तक गिर चुका है।

पाश्चात्य संस्कृति हमारी सभ्यता संस्कृति को मिट्टी में मिलाकर रख दिया है। पाश्चात्य संस्कृति का व्यक्ति अंधानुकरण करने लगा है। देर रात पार्टियों, क्लबों में जाना, शराब पीना, जुआ खेलना आदि सब पाश्चात्य संस्कृ ति की ही देन है। इक्कीसवीं सदी की नई पीढ़ी जिस प्रकार ज्ञानी और तकनीकवान होने का दंभ भर रही है, वह उसे समग्रता और मनुष्यता से दूर ले जा रही है।

जिस महान् धरा पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम व अर्जुन जैसे महान विभूतियों का जन्म हुआ है, आज उसी धरा से शिष्टाचार, नैतिकता व संस्कार खोते जा रहे हैं। संस्कार हमें सफलता की ऊंचाइयों तक लें जाते हैं। जब हम अपने आदर्श, संस्कार व उद्देश्य भूल जाते हैं तो असफलताएं ही हाथ लगती हैं। कड़वा सच यह है कि आज के युवाओं को संस्कार, आदर्श व सिद्धांत का पता ही नहीं है। आज की युवा पीढ़ी तो पागल हाथी की तरह नैतिकता व संस्कारों को भुलाकर अपने रास्ते में आने वाली हर चीज को रौंदते हुए चली जा रही है।

कितनी अजीब बात है कि यह सब दशको के एक छोटे से अंतराल में हो गया। आज से कुछ दशक पहले अपने से बड़ों का आदर करना व उन्हें उचित प्यार देना अपना कर्तव्य माना जाता था। लोग मिलनसार थे और रिश्तों में गरमाहट थी। लेकिन अगर ईमानदारी से सोचे तो अनैतिकता व अशिष्टता को फैलाने वाला कोई और नहीं अपितु हम ही हैं। उनको सहेजने के लिए भी हमें ही कदम उठाने होंगे। अपने बच्चों को अच्छे संस्कार व शिक्षा दें। बच्चा कोरे कागज की तरह होता है, उस कोरे कागज पर संस्कारों, नैतिक मूल्यों व शिष्टाचार की तहरीर लिखना हमारा फर्ज है।

निष्कर्ष :-

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि संस्कृति एक परंपरागत अनुभव है जोकि हमारे जीवन में प्रथाओं, आदतों, आदर्शों, ज्ञान, विश्वास, सिद्धांतों के रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। संस्कृति एक दीर्घकालीन परंपरा होती है। जिसके निर्माण में मनुष्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। संस्कृति हमारे आंतरिक गुणों का वह समूह है जिससे हम सभ्य समाज में जीवन व्यतीत करते हैं। अपने सांस्कृतिक पर्वों, त्यौहारों को मनाकर आपसी मेल–जोल बढ़ाते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. पांडुरंग सदाशिव, हिन्दी संस्कृति सानेगुरु पृ०–5
2. कालिका प्रसाद, बृहत् हिन्दी कोश, पृ०–1390
3. संपादक धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, पृ०–80
4. https://www.Kailasheducation.com
5. https://www.Scotbuzz.ory
6. http: // literature awgh.org
7. him.Wikipedia.org
8. current news dainik.com
9. http: // www.ignited.in
10. www.jagran.com

Mail ID : poojasangwan716@gmail.com

Ph : 8053317791

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 188-191

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

'पकी जेठ का गुलमोहर' संस्मरण का सांस्कृतिक अध्ययन

पूजा शर्मा

शोधार्थी, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, साम्बा

मनुष्य की बहुमूल्य धरोहर उसकी संस्कृति है। संस्कृति एक ऐसा पर्यावरण है, जिसमें रहकर मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बनता है, और प्राकृतिक पर्यावरण को अपने अनुसार ढालने की क्षमता अर्जित करता है। 'संस्कृति' शब्द संस्कृत के 'कृ' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय और 'सम' उपसर्ग को जोड़कर बना है। सम्कृक्ति = संस्कृति। वास्तव में संस्कृति शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है, कुछ विचारक संस्कृति को संस्कार का रूपान्तरित शब्द मानते हैं। कुछ हिंदी विचारकों द्वारा दी गई परिभाषाएं इस प्रकार हैं :–

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।"[1]

डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांग पूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।"[2]

रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में, "संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर समाज में छाया रहता है। जिसमें हम जन्म लेते हैं।"[3]

भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति है। जो लगभग 5,000 हजार वर्ष पुरानी है। विश्व की पहली और महान संस्कृति के रुप में भारतीय संस्कृति को माना जाता है। "विविधता में एकता" कथन भारत के सन्दर्भ में एकदम उपयुक्त बैठता है। अर्थात् भारत एक विविधतापूर्ण देश है, जहाँ विभिन्न धर्मों के लोग अपनी संस्कृति और परंपरा के साथ शांतिपूर्ण तरीके से एक साथ जीवन यापन करने में विश्वास रखते हैं। विभिन्न धर्मों के लोगों के रस्मों–रिवाजों में विभिन्नता होने के बावजूद भी वह एकता की डोर में बंधे हुए हैं। पूरे विश्व भर में भारतीय संस्कृति बहुत प्रसिद्ध है। विश्व के बहुत रोचक और प्राचीन संस्कृति के रुप में इसको देखा जाता है। लोग अलग–अलग धर्मों से सम्बन्ध रखते हैं उनके रीति–रिवाज, परम्पराएं, भोजन, वस्त्र आदि अलग होते हुए भी लोग यहाँ सामाजिक रुप से स्वतंत्र हैं। इसी वजह से धर्मों की विविधता में एकता के मजबूत संबंधों का यहाँ अस्तित्व है।

भारत में विभिन्न धर्मों के लोगों की अपनी संस्कृति और परंपरा होती है। उनका अपने त्योंहार और मेले होते हैं जिसे वो अपने तरीके से मनाते हैं। लोग भिन्न–भिन्न भोजन संस्कृति जैसे पोहा, बूंदा, ब्रेड ऑमलेट, केले का चिप्स, आलू का पापड़, मुरमुरे, उपमा, डोसा, इडली, चाईनीज, सेवईयाँ, बिरयानी, तंदुरी, मठ्ठी आदि का अनुकरण करते हैं।

भारत की सत्तर प्रतिशत आबादी गांव में निवास करती है। इसलिए भारत की पारंपरिक संस्कृति और

जीवन शैली गांवों में है जो भारत के सच्चे सार का प्रतीक है। आज राष्ट्र विकास के निर्माण में गाँव के जीवनशैली पर शहरी जीवन के बढ़ते प्रभाव के कारण गांव का शहरीकरण होना स्वाभिक सी बात है। लेकिन इस विकास के दौर में लोग अपनी संस्कृति को सहेज कर रखने की बजाय अपनी प्राचीन मान्यताओं को भूलते जा रहें हैं। मेरे इस आलेख का आधार भगवानदास मोरवाल कृत 'पकी जेठ का गुलमोहर' संस्मरण है। जिसमें उन्होंने स्मृतियों के बहाने अपने मेवाती समाज और वहां के सांस्कृतिक परिवेश को चित्रित करने का प्रयास किया है जो कि अब गांव शहरों में आने वाले बदलावों के कारण समाप्त होते जा रहें हैं।

भगवानदास मोरवाल हरियाणा के 'काला पानी' कहे जाने वाले मेवात के नगीना कस्बे के रहने वाले हैं। मेवात उनकी नस–नस में रचा बसा है। उनके उपन्यास, 'काला पहाड़', 'बाबल तेरा देस में', 'हलाला' इस बात का सबूत हैं। लेखक ने अपनी स्मृति–कथा 'पकी जेठ का गुलमोहर' के माध्यम से पूरे मेवाती समाज की झलक प्रस्तुत करने की कोशिश की है। इसमें लेखक ने मेवात की खूबियों के साथ–साथ मेवात की खामियों को भी तटस्थता से उजागर किया है। इस संस्मरण में उन्होंने मेवात में बीते उनके बचपन से लेकर दिल्ली में अपने पैरों पर खड़ा होने तथा लेखक बनने तक के लंबे सफर के छोटे–बड़े किस्से दर्ज किए हैं। इस संस्मरण को पढकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम कोई आत्मकथा पढ़ रहें हो, क्यूंकि इसमें आत्मकथा जैसी क्रमबद्धता है, मेवात में बीते उनके बचपन के दिन, आर्थिक स्थिति अच्छी नहोने के बावजूद भी पढाई जारी रखना शादी, नौकरी के सिलसिले में दिल्ली की गलियों की खाक छानना, फिर लेखक बनने तक के सफर को क्रम के हिसाब से बताया गया है। इस संस्मरण को पढ़ते हए बहुत बार यह लगता है कि जैसे हम किसी आत्मकथा का पठन कर रहें हों। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका 'आत्म' भगवानदास मोरवाल न होकर खुद मेवात ही है।

मेवात एक मुस्लिम बहुल क्षेत्र है, जहां हिंदू–मुस्लिम आपस मेंमिल–जुल कर रहते हैं, कि एक बार के लिए विश्वास करना मुश्किल हो जाता है। 'पकी जेठ के गुलमोहर' संस्मरण के माध्यम से लेखक 1980 के दशक से पहले वहां की साझा संस्कृति का नमूना हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। "हिन्दुओं के बनिया, बामन, जैन, विभाजन के दौरान पाकिस्तान से आये सन्नार्थियों (शरणार्थियों) के अलावा कुम्हार, चमार, भंगी, खटीक, भडभूंजा, डकौत, माली, तेली, नाई, धोबी, चानौर, (कोली), कुंजड़ा, फकीर, लुहार, मीरासी, खाती, जैसी प्रमुख जातियों और उनकी मिली–जुली तहजीब की मिसाल है नगीना।"[4] अलग–अलग धर्मो से सम्बन्ध रखने के बावजूद भी मेवात में साम्प्रदायिक सौहार्द के नाम पर सभी धार्मिक स्थलों के प्रतीक मौजूद हैं। बकौल लेखक, " जैन मन्दिर, कुम्हारों का मन्दिर,भंगियों का मन्दिर, माता मन्दिर के अलावा, जामा मस्जिद, ईदगाह, पीरों की मजार सभी कुछ है मेरे कस्बे में।"[5]

मेवात मे बाहुल्य क्षेत्र होने के बावजूद हिन्दू जाति के लोग भी अपनी परम्परा का पालन बखूबी करते हैं। "हिन्दुओं में पीर–फकीरों की मजारों पर गलेप यानी चादर चढ़ाने और उन पर दीये जलाने की परम्परा बहुत पुरानी है।"[6] वर्तमान युग में भी मेवात में इन परम्पराओं का चलन है, लेकिन बदलाव के युग में यह परम्पराएं केवल नाम भर के लिए रह गयी हैं। इनका प्राचीन रूप इस तथाकथित मॉडर्न समय में विलुप्त होता जा रहा है। अब तो मजार पर गलेप चढ़ाने के समय उनकी स्तुति में गाया जाने वाला संगीत भी किसी को याद नहीं है।

लेखक ने 1980 के दशक से पहले मेवाती समाज में प्रचलित रीति–रिवाजों का वर्णन अपने स्मृति

आख्यान में प्रस्तुत किया है। जैसा कि लेखक ने लगभग अपनी सभी रचनाओं में मेवात की मिली जुली संस्कृति का वर्णन किया है कि वहां के हिन्दू मुसलमान मिलकर रहते हैं। सभी त्यौहार एक साथ मिलकर मनाते हैं, त्यौहार किसी भी धर्म विशेष का हो, लेकिन उसे पूरा नगीना मनाता है।

लेखक के शब्दों में, "1980 तक नगीना में उत्सवी रौनक और चहल–पहल या तो सावन भादों में नजर आती थी, या फिर मुहर्रम के दिनों में दिखाई देती थी। यह उत्सवी माहौल किसी धर्म विशेष या समुदाय में नहीं होता था बल्कि पूरे नगीना में रहता था। एक तरफ सावन–भादों के महीनों में हिन्दुओं की बहन–बेटियां अपने अपने मायके में आकर जगह–जगह पड़े झूलों पर मल्हारों की फुहारे बरसातीं, तो दूसरी तरफ मेवों की लड़कियां झूलों पर पींग खाती हुई यह गीत गाती नजर आती :–

पांच सुपारी मेरे हाथ बामन बूझण मैं चली
कह बमणा मेरे मन की बसी बात
कब बगदेगो मेरो सायबा।"[7]

अस्सी के दशक से पहले तक यह उत्सवी माहौल नगीना की शान था। तीज त्यौहार और मुहर्रम हिन्दु–मुस्लिम साथ मिलकर मनाते। लेकिन अस्सी के दशक के आरम्भ होते ही समय ने ऐसी करवट ली कि यह तीज का मेला, मुहर्रम के दौरान निकलने वाले ताजिये बंद हो गये। इसमें तीज न भरने के पीछे मुख्य कारण था– लोगों का बड़ी संख्या में शहरों की ओर पलायन और मुहर्रम में ताजिये न निकलने की मुख्य वजह था– धार्मिक गुरुओं द्वारा मेवों को यह समझाना कि ताजिये शियाओं में निकाले जाते हैं, सुन्नियों में नहीं। हमारा समाज चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, समुदाय से सम्बन्ध रखता हो, सबसे ज्यादा विशवास वह अपने धार्मिक गुरुओं पर करता है। उनकी हर सही–गलत बात पर वह आँख बंद करके भरोसा करता है। इन सभी कारणों की वजह से आज मेवाती समाज में पहले जैसा अपनेपन का भाव समाप्त हो गया है। रचनाकार के शब्दों में, "धार्मिक और सामुदायिक तर्क अपनी जगह हैं मगर बढती धार्मिक कट्टरता और हमारे गांव–देहातों से पलायन के चलते सबसे बड़ा आघात व नुकसान हमारी सामूहिक उत्सवधर्मिता को पहुंचा है।"[8]

लेखक ने इस स्मृति कथा में मेवाती समाज में प्रचलित बहुत सारे रीति–रिवाजों का वर्णन किया है– जैसे 'सन्टी खेलने', 'छन पकैया', 'कंगन खिलाई' और 'बन्ना–बनवारे' की रस्म आदि। कि किस प्रकार के गांव स्त्रियां–पुरुष शादी व्याह या घर–परिवार मौहल्ले में होने वाले छोटे मोटे उत्सवों में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेते थे। शादी–व्याह के अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत (बन्ना–बनवारा), जिनकी रचना स्त्रियां स्वयं करती थी, लेकिन अब इनकी जगह लेडीज संगीत ने ले ली है, जिसमे लोकगीतों के स्थान पर फिल्मी गीतों को गाया जाता है। आज की पीढ़ी तो बन्ना–बनवारे की परम्परा को पूरी तरह से भूल चुकी है। लेखक के शब्दों में, "1997 में मेरी भतीजी की शादी में भांवरों के समय गाये जाने वाले गीतों की बात चली, तो उस वक्त वहां मौजूद महिलाएं एक–दूसरे का मुहं देखने लगी। किसी को भांवरों के समय गाए जाने वाले गीत याद नहीं थे। तभी किसी ने सुझाव दिया कि ताई गुटारन को बुलवाया जाये... तब कहीं जाकर भांवरों की रस्म विधिवत् व पारम्परिक ढंग से सम्पन्न हुई।"[9] अर्थात लेखक यहाँ आधुनिकता से प्रभावित नई पीढ़ी जो अपनी संस्कृति व परम्पराओं को भूलती जा रही है की ओर हमारा ध्यान आकृष्ठ करना चाहते हैं। अगर इस तरह हम अपनी संस्कृति को भूलते जायेंगे तो हम अपनी आने वाली पीढ़ी को विरासत में क्या देंगे जो संस्कार हमे हमारे पूर्वजों से विरासत में मिलें हैं।

इस तरह तो हमारी संस्कृति विलुप्त होती जायेगी।

'पकी जेठ का गुलमोहर' कथाकार भगवानदास मोरवाल की स्मृतियों के बहाने मेवात और उसके जैसे अन्य ग्रामीण–शहरी समाजों की परतो की पड़ताल है। अब गांव पहले जैसे नहीं रह गए, पर गांवों की आबोहवा बदलने के कारणों पर हर कोई गहराई से बात नहीं करता। लेखक गांवों के इसी बदलती फिजा की पड़ताल अपने स्मृति–आख्यान में करते हैं। वह लिखते हैं, "1986 तक आते–आते हमारे घर से दो काम हमेशा के लिए विदा हो गये। पहला, घर का पुश्तैनी धन्धा, माटी के बासन बनाना और दूसरा, जिससे घर का आधा खर्च पूरा होता था, यानी भैंस रखना. पुश्तैनी धन्धा विदा होने की खास वजह थी एक–एक कर परिवार का एकल हो जाना। इसके इलावा हम तीनों भाइयों में से किसी ने इसमें दिलचस्पी नहीं ली....जबकि भैंसों को न रखने की मुख्य वजह पर्यावरण में तेजी से आया परिवर्तन था....पशु–चारे की किल्लत और दुधारू पशुओं, खासकर भैंस की बढ़ती बेतहाशा कीमत के चलते, एक आम भूमिहर परिवार भैंस रखने की कल्पना भी नहीं कर सकता।"[10]

मेवात में व्याप्त सांप्रदायिक एकता को किस प्रकार राजनीतिक दलों ने अपने स्वार्थपूर्ति हेतु नष्ट कर दिया है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण इस पुस्तक में मिलता है। देश की दो मुख्य राजनीतिक पार्टियों की सद्भावना रैली में मेवात में न सिर्फ हिंसा, बल्कि हत्याएं तक होती हैं। रचनाकार के शब्दों, "'मेवात में जब लगा कि हालात ठीक हैं उसके लगभग पौने दो महीने बाद 30 जनवरी, 1993 को फिर से सद्भाव बहाल करने की गरज से, एक तरफ निकाली गयी सत्ताधारी कांग्रेस और दूसरी तरफ भारतीय जनता पार्टी द्वारा निकाली गयी नूंह में तथाकथित सद्भावना रैलियों ने स्थिति को सात दिसम्बर से भी ज्यादा विस्फोटक बना दिया। इन दोनों राजनीतिक पार्टियों ने गांधी के इस शहीदी दिवस को मेवात के इतिहास में एक बदनुमा धब्बे की तरह दर्ज कर दिया। इन दोनों पार्टियों के तथाकथित देशभक्तों और राष्ट्रवादियों की खूनी झड़प के चलते, ठाकुर बाहुल्य कस्बे उजीना में चार लोगों को जिन्दा जला दिया गया।"[11] अतः कहा जा सकता है कि 'पकी जेठ का गुलमोहर' संस्मरण में लेखक ने बदलते ग्रामीण परिवेश के कारण विलुप्त होती संस्कृति का चित्रण किया है जिसके कारण हमारा मूल कहीं ना कहीं हमसे छूटता जा रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी अशोक के फूल, पृष्ठ संख्या 38
2. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ संख्या 05
3. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ संख्या 53
4. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 14
5. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 14
6. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 23
7. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 35
8. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 36
9. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 24
10. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 207
11. भगवानदास मोरवाल, पकी जेठ का गुलमोहर, पृष्ठ संख्या 276

Email: sadotrapooja146@gmail.com, Mobile no- 6005598964

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 192-195

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारत में ऑनलाइन शिक्षा की चुनौतियां

प्रिया शुक्ला

सहायक आचार्य, भूगोल विभाग, गौरी शंकर द्विवेदी महाविद्यालय, झींझक, कानपुर देहात।

शोध सार :-

पिछले 2–3 दशक में भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में ऑनलाइन शिक्षा का प्रचार–प्रसार तेजी से बढ़ा है। वर्ष 2020 में कोरोना महामारी के चलते ऑनलाइन शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गई, जिसके चलते भारत में भी मोबाइल अथवा कम्प्यूटर द्वारा ऑनलाइन शिक्षा का प्रसार प्रचार तेजी से बढ़ा। यद्यपि रूचि में ऑनलाइन शिक्षा के सुचारू रूप से संचालन में अनेक समस्यायें हैं इनमें ऑनलाइन शिक्षा हेतु मानक नीति का अभाव उपकरणों का अभाव अध्ययन स्थलों का अभाव इंटरनेट की पहुंच से कभी ऐसी समस्यायें शामिल हैं। प्रस्तुत शोध पत्र आनलाइन शिक्षा की चुनौतियों को रेखांकित करने के साथ ही समाधान की प्रस्तुत करता है।

तकनीकी शब्द :- ऑनलाइन शिक्षण, लॉकडाउन, कोरोना, ई लर्निंग।

भूमिका :-

लगभग दो दशकों पूर्व जब ऑनलाइन शिक्षण की अवधारणा अस्तित्व में आयी थी, तब भारत तथा विश्व के अधिकांश देश इसके प्रति सहज नहीं थे। विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों एवं शिक्षण संस्थानों ने तब इसे गम्भीरता से नहीं लिया था। ऑनलाइन शिक्षा एक प्रकार की दूरस्थ शिक्षा ही है, तथा इसका प्रचलन बहुत पहले से भारत तथा विश्व भर में है। रूस, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, ब्राज़ील, कनाडा जैसे देशों में, जहाँ का क्षेत्रफल बहुत अधिक तथा जनसंख्या कम, किन्तु अत्यधिक बिखरी हुई है, में ऑनलाइन शिक्षा या इंटरनेट आधारित शिक्षा का प्रचलन बहुत पहले से ही है। इन्टरनेट, कम्प्यूटर, मोबाइल आदि के प्रसार बाद भारत में भी ऑनलाइन शिक्षा का प्रचलन तीव्र गति से बढ़ा।

यद्यपि कोरोना काल के दौरान भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में इन्टरनेट व मोबाइल आधारित ऑनलाइन शिक्षा के क्षेत्र में जबरदस्त उछाल आया है, परंतु इसके पूर्व भी भारत में अनेक विश्वविद्यालय एवं शिक्षण संस्थान ऑनलाइन पाठ्यक्रमों का सफलतापूर्वक संचालन कर रहे थे, परंतु तब तक ऑनलाइन शिक्षा केवल उच्च शिक्षा एवं बड़े संस्थानों तक ही सीमित थी। नवम्बर–दिसम्बर 2019 में कोविड महामारी के अस्तित्व में आने के बाद सम्पूर्ण विश्व में लॉकडाउन लगाने की स्थिति आ जाने के कारण प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा संस्थानों तक समस्त शिक्षण संस्थान बन्द करने पड़े। विश्व भर में एक अरब से अधिक विद्यार्थियों की शिक्षा एक साथ ही बाधित हो गई।

ऐसी स्थिति में शिक्षा प्रक्रिया को निर्बाध रूप से चलायमान रखने के लिए ऑनलाइन शिक्षा अथवा

ई–लर्निंग को परम्परागत शिक्षण विधि के तात्कालिक विकल्प के रूप में अपनाया गया। ई–लर्निंग अथवा ऑनलाइन शिक्षा का आशय इन्टरनेट व अन्य संचार उपकरणों के माध्यम से प्रदान की जाने वाली शिक्षा से है। इसके अनेक रूपों में वेबसाइट आधारित शिक्षण, मोबाइल आधारित शिक्षण, कम्प्यूटर या लैपटॉप आधारित शिक्षण, वर्चुअल क्लासरूम शिक्षण तथा ऐप आधारित शिक्षण इत्यादि शामिल हैं। कोरोना काल में ई–शिक्षा ने सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था में अपना स्थान गहराई तक बना लिया है तथा वर्तमान में प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च शिक्षा एवं शोध संबंधी शिक्षण प्रशिक्षण तक का संचालन ई–शिक्षा अथवा ऑनलाइन शिक्षा के माध्यम से किया जा रहा है।

ई–शिक्षा या ऑनलाइन शिक्षा इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों जैसे कम्प्यूटर, लैपटॉप, टैबलेट, मोबाइल, इंटरनेट एवं सूचना प्रौद्योगिकी के समन्वय द्वारा प्रदान की जाने वाली शिक्षा है। वस्तुतः कोरोना काल से पूर्व तक भारत में ऑनलाइन शिक्षा अपने शैशवावस्था में थी, कोविड–19 संकट के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा लगाये गये लॉकडाउन के चलते सरकारी व निजी शिक्षण संस्थाओं ने ऑनलाइन शिक्षा की दिशा में अनेक प्रयास किये, जिसके चलते अब कक्षा 2 से लेकर पीएच.डी., मेडिकल व इंजीनियरिंग तक की शिक्षा सभी विद्यार्थी ऑनलाइन माध्यम से ग्रहण कर रहे हैं। भारत सरकार का इलेक्ट्रॉनिक एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय विभिन्न शैक्षिक संस्थानों में ई–शिक्षा पर आधारित शोध, शिक्षण एवं अनुसंधान परियोजनाओं को प्रोत्साहित कर रहा है। इनमें दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से साक्षरता में सुधार के लिए पाठ्य सामग्री का विकास, शोध एवं अनुसंधान संबंधी नवोन्मेष, मानव संसाधन से संबंधित विषय एवं शिक्षक–प्रशिक्षण, शोधार्थी प्रशिक्षण जैसे विषय भी शामिल हैं।

ई–शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी विद्यार्थी अथवा सीखने का इच्छुक व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी समय और कहीं पर भी शैक्षिक गतिविधि कर सकता है अर्थात ई–लर्निंग या ऑनलाइन शिक्षा में समय और स्थान की बाध्यता नहीं रहती। ई–शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी वेब आधारित शिक्षण सामग्री को अनिश्चित काल तक देख सकता है और बार–बार पढ़कर इसके जटिल पहलुओं को समझ सकता है।

ई–शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी को कहीं भी पुस्तक या अध्ययन सामग्री खरीदने की आवश्यकता नहीं होती, जिसमें विद्यार्थियों को बहुत अधिक धन खर्च नहीं करना पड़ता है। विद्यार्थियों को नोटबुक्स, पेन व अन्य लेखन सामग्री भी खरीदनी नहीं पड़ती है। साथ ही विद्यार्थियों को कोचिंग या कक्षाओं में आने–जाने में समय और धन भी खर्च नहीं करना पड़ता है। इन कारणों से ऑनलाइन शिक्षा पारम्परिक शिक्षा की विधि की तुलना में सस्ती होती है। ई–शिक्षा में कॉपी या नोटबुक आदि की आवश्यकता भी न के बराबर होने के कारण कागज़ के प्रयोग को भी हतोत्साहित करने में उल्लेखनीय सफलता मिली है जिससे पेड़ों की कटाई पर रोक लगती है जो पर्यावरण को बचाने में बहुत सहायक हो रहा है।

ऑनलाइन शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में इन्टरनेट एवं कम्प्यूटर कौशल का ज्ञान विकसित होता है जिससे विद्यार्थियों को आगे चलकर अपने करिअर एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ने में बहुत सहायता मिलती है। ई–शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी विभिन्न प्रकार के नवीन कौशल सीखकर उनको अपने जीवन में उतार कर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

यद्यपि भारत में ऑनलाइन शिक्षण में तीव्र वृद्धि हो रही है, परंतु ऑनलाइन शिक्षण व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालित होने के मार्ग में अनेक बाधाएं भी हैं। इनमें सभी विद्यार्थियों के पास मोबाइल या लैपटॉप न होना,

उचित अध्ययन स्थलों का अभाव, ऑनलाइन शिक्षण हेतु किसी मानक या नीति का अभाव, इन्टरनेट की सुलभता न होना, इन्टरनेट की धीमी गति, सामाजिक सामंजस्य का अभाव, लॉकडाउन जनित समस्याएं, शिक्षकों में कुशलता का अभाव आदि प्रमुख हैं। इन समस्याओं के यथाशीघ्र निराकरण से ही भारत जैसे विशाल देश में ऑनलाइन शिक्षण को गति प्रदान की जा सकती है। ई–शिक्षा से जुड़ी प्रमुख समस्याएं एवं चुनौतियों का वर्णन निम्नलिखित है–

1. ऑनलाइन शिक्षा हेतु मानक नीति का अभाव :–

वर्तमान में भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा ऑनलाइन शिक्षण हेतु कोई स्पष्ट नीति या दिशा निर्देश नहीं बनाये गये हैं। ऑनलाइन शिक्षण की दिशा में जो समस्याएं विद्यमान हैं, उनका मूल कारण यह है कि वर्तमान में डिजिटल शिक्षा, संरचनात्मक व्यवस्थाएं, अध्ययन सामग्री, उचित सहभागिता का अभाव तथा विभिन्न भाषाओं में अध्ययन सामग्री का अभाव भी है। डिजिटल शिक्षा का तात्पर्य केवल ब्लैक बोर्ड पर शिक्षकों द्वारा लिखने का ऑनलाइन वीडियो तथा ऑनलाइन व्याख्यान तक ही सीमित नहीं है, डिजिटल या ऑनलाइन शिक्षा का तात्पर्य उपकरण, तकनीकी, अंतर्क्रियाशीलता, निश्चित अवधि एवं उत्तम अध्ययन सामग्री की सहायता से उपयुक्त मंच के माध्यम से प्रभावी, संवादात्मक एवं ज्ञानात्मक शिक्षा प्रदान करना है।

2. उपकरणों का अभाव :–

प्रायः एक घर में एक से अधिक बच्चे होते हैं। जबकि कोरोना काल में अधिकांश शिक्षण संस्थान ऑनलाइन कक्षाएं संचालित कर रहे हैं, ऐसे परिवार जहाँ केवल एक ही मोबाइल है, वहाँ एक से अधिक विद्यार्थी होने पर ऑनलाइन शिक्षण में बाधा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार केवल 10 प्रतिशत विद्यार्थियों के पास ही टैबलेट, लैपटॉप या कम्प्यूटर है, जबकि लगभग 40–45 प्रतिशत विद्यार्थियों के पास ही एंड्रॉएड मोबाइल है। चूंकि कोरोना काल में अधिकांश लोगों की आर्थिक स्थिति प्रभावित हुई है, ऐसे में उन परिवारों द्वारा बच्चों को नया मोबाइल या लैपटॉप खरीदकर देना कठिन कार्य है।

3. अध्ययन स्थल का अभाव (घरों में स्थान की कमी) :–

वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार तीन चौथाई घरों में बच्चों के पढ़ने के लिए कोई अलग जगह या कमरा उपलब्ध नहीं है। 2011 की जनगणना में यह बात प्रमाणित हुई है कि तीन या तीन से अधिक सदस्यों वाले 71 प्रतिशत घरों में 2 कमरे या उससे भी कम जगह है। ग्रामीण क्षेत्रों में 74 प्रतिशत घर तथा नगरीय क्षेत्रों में 64 प्रतिशत घर एक या दो कमरों वाले ही हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि पढ़ने के लिए एकांत व शांत वातावरण आवश्यक होता है जो ऐसी स्थितियों में कतई सम्भव नहीं है। इसी प्रकार ऑनलाइन शिक्षण हेतु भी एकांत एवं शांत वातावरण चाहिए, परंतु वर्तमान स्थिति में भारत के अधिकांश घरों में बच्चों के अध्ययन के लिए पृथक स्थान एवं शांत वातावरण उपलब्ध कराना अत्यंत कठिन एवं असम्भव सा है।

4. इंटरनेट की पहुँच में कमी :–

भारत जैसे लगभग 140 करोड़ की विशाल जनसंख्या एवं विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के बीच इंटरनेट का वितरण एवं उपलब्धता सर्वत्र समान नहीं है। वर्ष 2017–19 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार केवल 42 प्रतिशत नगरीय एवं 15 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास इन्टरनेट की सुविधा उपलब्ध है। एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार 34 प्रतिशत नगरीय एवं 11 प्रतिशत ग्रामीण उपभोक्ताओं ने इन्टरनेट सेवा का उपयोग किया

था। इन आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में कम से कम 60 प्रतिशत विद्यार्थी ऑनलाइन शिक्षण व्यवस्था से वंचित हैं। ग्रामीण, निर्धन एवं अल्प आय वर्ग के लोगों के पास ऑनलाइन शिक्षण हेतु कोई विकल्प ही नहीं उपलब्ध है।

5. इन्टरनेट की गति में कमी :-

ऑनलाइन शिक्षण के लिए इन्टरनेट की उपलब्धता के साथ ही उसकी उचित गति भी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण होती है। ऑनलाइन शिक्षण में इन्टरनेट की धीमी गति के कारण शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के मध्य संवाद प्रायः बाधित हो जाता है जिसके कारण ऑनलाइन शिक्षण के पर्याप्त एवं वांछित परिणाम नहीं प्राप्त हो पा रहे हैं।

निष्कर्ष :-

आनलाइन शिक्षण को सुचारू रूप से चलाने हेतु यद्यपि अनेक समस्याये हैं, फिर भी वर्तमान एवं भविष्य ऑनलाइन शिक्षा का ही है। ऑनलाइन शिक्षा के द्वारा दूर बैठा विद्यार्थी की पहले से रेकार्डेड विषय वस्तु अथवा ऑनलाइन कक्षा में अध्ययन कर सकता है। इसमे आने जाने में समय बचाने के साथ ही धन की भी बचत होती है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें भी ऑनलाइन शिक्षा के विधिवत प्रचार–प्रसार हेतु प्रयासरत है। इन प्रयासों में कम्प्यूटर प्रयोगशालाओं की स्थापना इन्टरनेट सेवाओं का बेहतरीकरण, विद्यार्थियों को ऑनलाइन शिक्षा हेतु टेबलेट या कम्प्यूटर उपलब्ध कराना आदि शामिल है। अतएव यह कहा जा सकता है कि ऑनलाइन शिक्षा वर्तमान एवं भविष्य दोनों ही की शिक्षा हो सकती है। साथ ही यह क्रान्तिकारी बदलाव लाने वाला कदम सिद्ध हो सकता है।

सन्दर्भ :-

1. Agnihotri, N., Sharma, T.K and Sippy, D. (2020). Population Growth, Food
2. Security, Biodiversity and Covid-19. The Biobrio, 8(3-4): 503-508.
3. Agnihotri, Nikhil & Jha Arun Kumar Singh (2022). Impact of Lockdown on Environment. Advances in Plant Sciences Vol. I95-103.
4. Arora, A.K & Srinivasan, R. {2020). Impact of pandemic Covid-19 on the teaching-learning process: A study of higher education teachers. Prabandhan: Indian Journal of Management,13{4),43-56.
5. Kapasia,N.,Paul,P.,Roy,A.,Saha J.,Zaveri, A., Mallick,R., Barman,B., Das, P. & Chauhan, P. {2020). Impact of lockdown on learning status of undergraduate and post graduate students during Covid-19 pandemic in West Bengal, India. Children and Youth Services Review, 116, 105194,https://doi.org/10.1016/j.childyouth.2020.105194
6. Simon Burgess, H.H. {2020, April 1). Schools, skills,and learning : Theimpact of COVID-19 on: education.retrieved from VOXeu
7. https://voxeu.org/article/impact-covid-19-education
8. www.IHI,org
9. www.expresshealthcare.com
10. www.qcin,org
11. www.indmedica.com
12. NABH Reference Guide Book

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 196-202

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण

डॉ. परमानंद पाटीदार

सहायक प्राध्यापक (हिंदी), शासकीय महाविद्यालय कन्नौद, जिला देवास – म.प्र.

सार शब्द :- भारतीय संस्कृति, पर्यावरण, समकालीन परिदृश्य के क्षेत्र में कविता में संस्कृति और पर्यावरण, संरक्षण, महत्व।

भूमिका :-

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को विशेष महत्व दिया गया है। आदिकाल से ही देश में पर्यावरण के विभिन्न स्वरूपों को देवताओं के समकक्ष मानकर उनकी पूजा अर्चना की जाती है। पृथ्वी को तो माता का दर्जा दिया गया है। ''माता भूमिः पुत्रों अहमः पृथ्विया'' अर्थात् पृथ्वी हमारी माता है एवं हम सभी देशवासी इस पृथ्वी की संतान है। पर्यावरण शब्द ''परि+आवरण'' के संयोग से बना है। परि का आशय चारों ओर तथा आवरण का आशय परिवेश है।

प्रकृति एवं पर्यावरण से मनुष्य का नाता बहुत ही घनिष्ठ है। प्रकृति के बिना तो मानव की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रकृति एवं पर्यावरण सभी जीवों को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते है। प्रकृति के दोहन से न केवल मानव का जीवन त्रस्त हो गया है वरन मानव उत्पादों और कार्यों से दूसरे जीवों का जीवन भी संकटमय हो गया है। प्रकृति से कौन नहीं जुड़ना चाहेगा? प्रकृति के सौंदर्य में अजीब सा खिंचाव है।

प्रकृति एवं पर्यावरण का ध्यान रखना तथा संरक्षण करना हमारी महती जिम्मेदारी है। प्रकृति व पर्यावरण सही रहेगा तो ही मानव उन्नति के शिखरों को छू सकता है। समकालीन कवि अपने आस–पास के प्रकृति एवं पर्यावरण पर कविता के माध्यम से विचार व्यक्त करते हुए कविता के माध्यम से प्रकृति व पर्यावरण संरक्षण तथा संतुलन पर कविता कर समाज को संदेश देना चाहते है।

पर्यावरण के दायरे में इसलिए वनस्पतियों, प्राणियों और मानव जाति सहित सभी सजीवों और उनके साथ संबंधित भौतिक परिसर को शामिल किया जाता है। वास्तव में पर्यावरण में जल, अग्नि, वायु, भूमि, पेड़–पौधे, जीव–जन्तु, मानव और उसकी विविध गतिविधियों के परिणाम आदि सभी का समावेश होता है।

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण :-

औद्योगिक क्रांति की दौड़ में मानव शक्ति के प्रयोग और संसाधनों के विकास के लिए प्रकृति के दोहन का जो कुछ आरम्भ किया उससे सम्पूर्ण पर्यावरण प्रभावित हुआ है। पर्यावरण को दूषित करने का उत्तरदायित्व मानव का है। मनुष्य ही सबसे ज्यादा पर्यावरण को क्षति पहुंचा रहा है लेकिन आश्चर्य की बात है कि वह स्वीकार

भी नहीं करता है। आज संसार कार्बनिक और अकार्बनिक कूड़े के ढेर पर बैठा है जिसमें कभी भी विस्फोट हो सकता है, इसी चिंता की अभिव्यक्ति समकालीन कवि अरूण कमल के काव्य में देखी जा सकती है।

कवि अरूण कमल की कविताओं में जहां वर्तमान पर्यावरणीय दुर्दशा के प्रति गहरा क्षोभ है, तो वहीं उसके भविष्य के प्रति गहरी आस्था भी है :–

''असम्भव है सोचना –
जिनकी मिट्टी गंगा – पानी से गुँथी है
उनके लिए असम्भव है सोचना कि एक दिन
गंगा के ऊपर उड़ता हुआ पक्षी
विष की धाह से झुलस जायगा
कि एक दिन गंगा
नहीं रहेगी और फिर गंगा –
वे रख आए हैं गंगा के द्वार पर विषपात्र
गंगा के साथ भी षड्यन्त्र
हिमालय के साथ
पृथ्वी नक्षत्र समस्त मण्डल के साथ।'' [1]

जल ही जीवन है। जल के प्रदूषण से कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती है। केवल मनुष्य जीवन से ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पर्यावरणीय जीव–जगत से पानी का अटूट संबंध है, हम पानी पर पूर्ण रूप से निर्भर है। गंगा का जल पवित्र माना जाता है लेकिन मनुष्य कृत कार्यों के कारण गंगा का अस्तित्व भी संकट में है।

गंगा के अस्तित्व की चिंता करते हुए कवि का ह्दय दुःखी हो जाता है कवि अरूण कमल की वेदना प्रकट होती है। यहां कवि का तात्पर्य यही है कि जिसे हम माँ का दर्जा देते है, वही गंगा आज विलुप्ती के कगार पर है। गंगा के प्रदूषित रूप की भयावह स्थिति को प्रकट करते हुए कवि कहते है कि गंगा के ऊपर से उड़ने वाला पक्षी विष के प्रभाव से झुलस जाता है। गंगा नदी कितनी भयंकर रूप से प्रदूषित हो चुकी है। मानव षड्यन्त्र कर रहा है वह गंगा, हिमालय, पृथ्वी, नक्षत्र समस्त मण्डल के साथ ऐसा ही चलता रहा तो प्रकृति का अस्तित्व ही खत्म हो जायेगा। गंगा को बचाने के जितने भी सरकारी प्रयास किए जा रहे है, वह केवल एक कागजी कार्यवाही है, एक छलावा है। गंगा के बचाव के लिए आज कई आयोग गठित किए गये, लेकिन नतीजा सिफर ही रहता है।

कवि अतीत को याद करते हुए गंगा के किनारे से शुरू जीवन, वे पहला स्नान, वो गंगा के पहले स्पर्श को याद करते है। गंगा को पर्यावरणीय दृष्टि से बचाना आवश्यक है।

कवि अरूण कमल ने ''सौन्दर्य'' कविता में प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन किया है। जब प्रकृति की गोद में या सड़क के किनारे के दोनों तरफ लगे हुए पेड़ देखते है तो प्रकृति के प्रति हमारा लगाव बड़ता ही जाता है। पेड़–पौधे का वातावरण व पर्यावरण के लिए महत्व अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। लम्बे–लम्बे पेड़ ऊपर

आपस में ललाट से सटाते ललाट अद्‌भूत लगता है :–

''सड़क के दोनों तरफ
खूब लम्बे पेड़
ऊपर उठकर मिलते हुए
ललाट से सटाते ललाट
छान रहे सूर्य–किरण।''[2]

कवि अरूण कमल ने ''इच्छा'' नामक कविता में प्रकृति के प्रति अपनी इच्छा को व्यक्त किया है। कवि कहते है कि जब मैं उठूँ तब भादों का चंद्रमा ताड़ के फल सा उगा हुआ हो। गंगा नदी धरती के बराबर भरी हो तथा धान के खेत भरे हुए हो। प्रकृति में चारों ओर हरियाली आच्छादित हो। प्रकृति में हर जगह पर पुष्पों की सुगंध फैली हुई हो तथा पेड़–पौधों से वातावरण स्वच्छ हो रहा हो :–

''मैं जब उठूँ तो भादों हो
पूरा चंद्रमा उगा हो ताड़ के फल सा
गंगा भरी हों धरती के बराबर
खेत धान से धधाए
और हवा में तीज त्योहार की गमक।'' [3]

कवि मंगलेश डबराल ने ''पेड'' नामक कविता में पेड़–पौधों पर कहते है कि पेड़ में पृथ्वी और आकाश एक साथ मौजूद है। जब हमारा जन्म भी नहीं हुआ था तब भी पेड़ थे। पुरानी मधुर स्मृतियाँ हमारे पास है। करोड़ों पशु–पक्षी तथा चिड़ियों की नींद की यादों को लिए वे हमारे लिए देवता तुल्य है। प्रकृति सदा ही देती है, लेती नहीं है :–

''पृथ्वी और आकाश उनमें एक साथ मौजूद हैं
जब हम नहीं थे तब भी थे वे पेड़
उनसे ज़्यादा उनकी स्मृतियाँ हैं हमारे पास
वे बने हैं करोड़ों चिड़ियों की नींद से
हमने उन्हें कभी नाराज़ या बौखलाते नहीं देखा
नहीं देखा सर धुनतें हुए।'' [4]

कवि ज्ञानेन्द्रपति ने गंगा नदी के प्रदूषण पर गंभीर चिंता व्यक्त की है। प्रदूषण के कारण गंगा नदी में पाए जाने वाले जलीय जीवों पर बहुत ही प्रभाव होता है। कवि ने कछुए के जीवन की चिंता करते हुए प्रश्न किया है कि कितने दिन जिएँगे वे भाग्यशाली कछुए ? अन्य जलीय जीव जन्तुओं का वजूद भी खतरे से खाली नहीं है। वास्तव में नदी के प्रदूषण से जलीय जंतु और स्थलीय जीवों पर भी प्रभाव होता है। अतः प्रदूषण की समस्या से जल्द ही निराकरण करना चाहिए :–

''आँख गड़ाकर देखा तो भी कहीं नहीं उस खबर में

गंगा में कितने दिन जिएँगे वे भाग्यशाली कछुए
जबकि जलजीवों की प्रजातियाँ ही हुई जातीं अभागी
गंगा का प्रदूषण भीषण
खा रहा उनकी उम्र, नाबूद कर रहा वुजूद।'' [5]

कवि भगवत रावत ने ''समुद्र के बारे में ' कविता के माध्यम से समुद्र का वर्णन किया है। कवि की जैसे ही आँख खुली तो सामने खुद को समुद्र के किनारे पाया। प्रकृति में अनंत, फैला हुआ आकर्षक समुद्र जो अद्‌भुत है अपने अंदर समेटे हुए है प्रकृति का अद्‌भुत खजाना :–

''आँख खुली तो
खुद को समुद्र के किनारे पाया
इसके पहले
मैंने उसे पढ़ा था किताबों में
आँखों में फैले, आसमान की तरह
वह फैला था, आकर्षक, अनंत।'' [6]

कवि चंद्रकान्त देवताले ने ''समुद्र'' कविता के माध्यम से विशाल समुद्र के उतरते पानी व चढ़ते पानी के थपेड़ों वाले झाग व जल की अनन्त क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। समुद्र के पास आती और दूर जाती आवाज़ों का वर्णन रोमांचित कर देता है। समुद्र की विशालता तथा विभिन्न बिम्बों को कवि आइने में क़ैद करने का सपना देख रहे है :–

''मैंने सोचा था आकाश और समुद्र के बीच की
अनन्त जल–क्रीड़ाओं को एक बिम्ब के
आइने में क़ैद कर लूगाँ।'' [7]

कवि अशोक वाजपेयी ने संकेत दिया है कि प्रकृति व पर्यावरण के लिए जो जिम्मेदारी निभाएगें वही आदमी बचेगा अर्थात् प्रकृति व पर्यावरण का संरक्षण अत्यंत आवश्यक है। वृक्ष मद–मद हवा में पत्तियों के द्वारा गाता है। प्रकृति जब स्वच्छ वातावरण में झूम–झूम कर अपनी प्रशंसा को व्यक्त करती है। मनुष्य का भविष्य भी तब तक ही सुरक्षित है तब तक प्रकृति का संरक्षण होता रहेगा :–

''वृक्ष अपनी पत्तियों से गाता है अहरह एक हरा गान,
आकाश लिखता है नक्षत्रों की झिलमिल में एक दीप्त वाक्य
पक्षी आँगन में बिखेर जाते हैं एक अज्ञात व्याकरण–
वही थोड़ा–सा आदमी
अगर बच सका, तो वही बचेगा।'' [8]

कवि वीरेन डंगवाल ने जंगल की अंधाधून कटाई पर क्षोभ प्रकट किया है। जंगल से कई लोगों को आश्रय मिलता है तथा जीविकोपार्जन के लिए मदद मिलती है। प्रकृति का क्षरण होने पर मानव के जीवन को

प्रभावित करता ही है कवि के अनुसार :–

''जबकि काटे जा रहे थे जंगल के जंगल
आदिवासियों को बेदख़ल करते हुए?'' [9]

कवि ने ''खालीपन'' कविता में वृक्ष विहीन पृथ्वी तथा प्रकृति के अधूरेपन को अभिव्यक्त किया है। प्रकृति में वृक्षों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है, बिन वृक्ष पृथ्वी का कोई औचित्य नहीं है। हरियाली से युक्त वृक्ष भी देखने पर आनंदित करता है। हरे वृक्ष की छाया में आराम करना प्रफूल्लीत करता है :–

''एक हरा वृक्ष
इतना हरा
कि छाया भी हरी हो जाती।'' [10]

कवि नरेश सक्सेना ने ''फूल कुछ नहीं बताएँगे'' नामक कविता में प्रकृति में सुन्दर फूल की आभा को व्यक्त किया है। फूलों के कारण ही वातावरण सुगन्धित व मोहक प्रतीत होता है। फूलों का विकास प्रकृति में धीरे–धीरे होता है तथा फूलों से प्रकृति में चार चाँद लग जाते है। फूलों का विकास भी क्रमिक रूप से होते हुए अंत में फूलों से इत्र उत्पन्न होता है जिससे भी सुगन्ध उत्पन्न होती है अर्थात् फूल ड़ाली पर लगे होते है तब भी व इत्र बनाने के बाद भी सुगन्ध ही फैलाते रहते है, सदा ही प्रकृति को देते ही रहते है, कवि के अनुसार–

''कितने फूलों से बनती है एक क्यारी
कितनी क्यारियों से एक बगीचा
और कितने बगीचों से बनती है
एक शीशी इत्र की
यह बताएँगे फूलों के व्यापारी
फूल कुछ नहीं बताएँगे।'' [11]

कवि नरेश सक्सेना ने ''नदी'' कविता के माध्यम से प्रदूषण की स्थिति तथा भया वक्ता का चित्र उभारा है। पहले जब प्रदूषण नहीं होता है तब नदी कि स्थिति सुंदर व स्वच्छ पानी जैसी थी किंतु वर्तमान की स्थिति में नदी को मल और मूत्र से गंदा किया जा रहा है। नदी की सतह पुरी क़ालिख और तेलीय ही है। सूर्य भी अपना चेहरा देख नहीं पाता है अर्थात् पानी इतना गंदा हो चुका है कि अस्वच्छता से साफ पानी नहीं रहा है। मछलियों का दम भी घुट रहा है, नदी मृत समान हो रही अर्थात् प्रदूषण का स्तर अधिक हो गया है –

''हमने घी और दूध से भरी नदियों का स्मरण किया
और उन्हें मल और मूत्र से भर दिया
नदी की सतह पर अब सिर्फ़ कालिख और तेल है
सूरज तक नहीं देख पाता उसमें अपना चेहरा
मछलियों का दम कब का घुट चुका।'' [12]

कवि विजय बहादुरसिंह ने प्रकृति एवं पर्यावरण को अहम मानते हुए कहा है कि वास्तव में प्रकृति से

जुड़कर ही सर्वोत्तम सुख को प्राप्त किया जा सकता है मौसम परिवर्तन के बाद वृक्षों के सभी पत्ते गिर जाते है फिर भी वृक्ष धैर्य का परिचय देते हुए सही समय का इन्तजार करता है तथा प्रकृति से जुड़कर रहता है सही समय आने पर फिर वही हरियाली को प्राप्त करता है :–

''पतझर
लटका हुआ है पेड़ से
पेड़ की चुप्पी तो देखिए
देखिए उसका धीरज।'' [13]

कवि कैलाश वाजपेयी ने ''पेड़'' कविता के माध्यम से पेड़ की समाज व प्रकृति के प्रति सदैव ही देने की प्रवृत्ति को प्रकट किया है। पेड़ की महत्वकांक्षा है कि जल्दी से वृद्धि करू जिससे समाज को लाभ हो तथा चिड़ियों को व अन्य पक्षी को भी चहकने व आराम करने मौका दे अर्थात् पेड़ सदा ही त्याग की भावना रखता है व संदेश देता है कि सभी को प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति सजग रहना आवश्यक है कवि के अनुसार :–

''पता नहीं मैं
पेड़ कब हूँगा
हरा और खुरदरा
कब तू, चिड़ियाँ
आयेगी झूलने
बाते करने
मेरी शाख पर।'' [14]

उपसंहार :–

हमारी संस्कृति पर्यावरण संरक्षण प्रधान रही है, जो प्रदूषण पर रोक लगाती है तथा आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करती है एवं यह स्पष्ट करती है कि मनुष्य के प्राणों की सुरक्षा तथा पवित्रता की सुरक्षा प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा पर निर्भर करती है। कालिदास, सूरदास, रसखान तुलसीदास, कबीरदास ने किसी संस्था में शिक्षा प्राप्त नहीं की, लेकिन अपनी रचनाओं में प्रकृति को इस तरह चित्रित किया कि इसको विनाश की बात सोची भी नहीं जा सकती।

उपरोक्त समकालीन कवि तथा उनकी रचनाएं भी पर्यावरण और संस्कृति को बचाने के लिए संकेत करती है। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारी संस्कृति अद्वितीय, समृद्धशाली और संगठित है। पर्यावरण के संरक्षण में यह नियमबद्ध तथा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का सूत्र प्रदान करती है। हमें निष्ठापूर्वक नैतिक अनुशासन की समस्त जन समूदाय को शिक्षा देनी चाहिए, जिसमें संस्कृति और पर्यावरण के प्रति प्रेम तथा उत्साह की भावना को प्रबल बनाया जा सके।

कोरोना के इस वैश्विक संकट के समय में सभी को शक्ति देते हुए भारत संदेश देता है, हम सदैव ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना रखते है, यही हमारी संस्कृति है जो अन्य संस्कृतियों से हमें भिन्न बनाती है।

संदर्भ सूची :-

1. अरूण कमल – अपनी केवल धार, गंगा को प्यार, पृष्ठ 64
2. अरूण कमल – अपनी केवल धार, सौन्दर्य, पृष्ठ 14
3. अरूण कमल – पुतली में संसार, इच्छा, पृष्ठ 100
4. मंगलेश डबराल – घर का रास्ता, पेड़, पृष्ठ 17
5. ज्ञानेन्द्रपति – संशयात्मा, नजातदिहन्दा, पृष्ठ 159
6. भगवत रावत – समुद्र के बारे में, प्रतिनिधि कविताएँ, पृष्ठ 25
7. चंद्रकांत देवताले – प्रतिनिधि कविताएँ, समुद्र, पृष्ठ 30
8. अशोक वाजपेयी – प्रतिनिधि कविताएँ, थोड़ा – सा, पृष्ठ 61
9. वीरेन डंगवाल – दुष्चक्र में सृष्टा, तारन्ता बाबू से कुछ सवाल, पृष्ठ 41
10. वीरेन डंगवाल – कवि ने कहा, खालीपन, पृष्ठ 36
11. नरेश सक्सेना – कवि ने कहा, फूल कुछ नहीं बताएँगे, पृष्ठ 47
12. नरेश सक्सेना – कवि ने कहा, नदी, पृष्ठ 97
13. विजय बहादुर सिंह – पतझर, कविताकोश।
14. कैलाश वाजपेयी – तीसरा अँधेरा, पेड़, पृष्ठ 49

मो.नं. 8889119008

ई–मेल :– parmanandpatidar124@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 203-208

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में मिथिला लोक संस्कृति की प्रासंगिकता

डॉ. पुष्पा कुमारी

इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय कामेश्वर नगर, दरभंगा–846008 (बिहार)

शोध सार –

प्रस्तुत शोध आलेख में मिथिला के विभिन्न लोक संस्कृतियों की चर्चा की गई है। विशेषकर लोक संस्कृति के विविध आयामों और उनपर अब तक किए गए अध्यनों को खंगालने की कोशिश की गई है। निःसंदेह मिथिला लोक संस्कृति की प्राचीनता, सम्पन्नता एवं नैसर्गिकता अप्रतिम है, जो आज भी अपनी पहचान तथा वजूद को बाजारवाद के प्रचंड झंझावतों को झेलते हुए कायम है।

दरअसल किसी देश के मूल्य और संस्कृति के वास्तविक और प्राकृतिक स्वरूप को निरखना–परखना हो तो इसका सबसे अच्छा स्रोत उस देश की संस्कृति और मुख्य रूप से लोक संस्कृति है। अतः उत्तर भारत की संस्कृतियों में मिथिला की प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है यहाँ की प्रमुख संस्कृति में लोक साहित्य, लोककला, लोकधर्म आदि के रूप में विस्मृत किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन मिथिला के विभिन्न संस्कृति पर आधारित हैं।

मुख्य शब्द – मिथिला, लोक संस्कृति, लोक साहित्य, लोककला, लोकधर्म।

प्रस्तावना –

किसी भी देश की संस्कृति को जानना है, तो पहले उस देश के लोक संस्कृति को जानना आवश्यक है। लोक संस्कृति में लोक जीवन का बोध होता है। किसी भी देश की संस्कृति, उस देश में निवास करने वाले आमजनों के रहन–सहन, आचार–विचार, खान–पान, वस्त्र–आभूषण, नृत्य, गीत, संगीत, जन्म, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों से निर्मित होती है।

भारतीय संस्कृति –

हमारी देश की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि हजारों वर्षों बाद भी यह संस्कृति आज भी अपने मूल्य स्वरूप में जीवित है। समाज और संस्कृति की बात की जाए तो समाज और संस्कृति में गहरा संबंध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है। समाज में संस्कार नियम और लोगों का समूह होता है। समय के अनुसार मनुष्य की सोच, खोज की वृत्ति, उन्नति की महत्वकांक्षा आदि ने मानव को अपनी संस्कृति और सभ्यता से दूर हटा दिया। वर्तमान आधुनिक दौर में जहाँ व्यक्ति कुंठा, निराश के शिकार हो जाता है ऐसे में परिवार से ही उसे नैतिक बल व भावनात्मक संबल मिलता है। भारतीय संस्कृति की नींव पम्पराओं पर टीकी हुई है। हमारी सभ्यता का सुन्दरतम रूप है समाज जो परिवार नामक छोटी–छोटी इकाईयों से बनी होती हैं। भावनाओं को बुनियाद पर विश्वास के बंधन परिवार सुरक्षित रहता है। परिवार में

कर्त्तव्य भाव एवं दायित्व का पालन करना अहं शिक्षा होती है जो भविष्य में समाज और राष्ट्र की उन्नति में सहायक होगी।

भारतीय संस्कृति की पहचान के लिए देश के विविध धर्म, वर्ग जाति के लोगों के व्यवहार को देखना चाहिए। अच्छा, बुरा, सही गलत आदि का चिंतन मनुष्य करता है। रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है कि संस्कृति मानव जीवन में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता युग–युगान्तर से संस्कृति निर्मित होती है। संस्कृति किसी भी राष्ट्र की उत्कृष्टतम निधि होती है। राष्ट्र–विशेष का जीवन स्मरण, उसकी उन्नति–अवनति, प्रतिष्ठा आदि तथ्य उसकी संस्कृति पर आधारित रहते हैं। जिस राष्ट्र को संस्कृति जितनी उदान्त होती है, वह राष्ट्र उतना ही गौरवशाली बनता है। संस्कृति वह प्रक्रिया है जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है। इससे मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे उसे सुधरा हुआ, ऊँचा, सभ्य आदि आभूषणों से आभूषित किया जाता है।

लोक संस्कृति –

लोक संस्कृति का सामान्य अर्थ है–साधारण जनमानस में प्रचलित वे सब बातें जो सिद्धांत संस्कृति के क्षेत्र से संबद्ध हों। विभिन्न कोशों में लोकसंस्कृति के विभिन्न अर्थ मिलते हैं। 'भाषा शब्द कोश' में उसका अर्थ जगत् के जीवधारियों द्वारा की गई शुद्धि सफाई, सुधार, परिष्कार लोक संस्कृति कहलाती है। नालन्दा विशाल शब्द सागर में इसका अर्थ सब लोग या सर्वसाधारण जनता से संबंध रखने वाली वे सभी बातें जो उसके मन, रूचि, आचार–विचार, कला–कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है।

हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास में लोक–संस्कृति का अर्थ जनजीवन से संबंधित जितने आचार–विचार, विधि–निषेध, विश्वास, प्रथा–परंपरा, धर्म–अनुष्ठान आदि सभी सम्मिलित है।

हिन्दी विश्वकोश की अगर बात की जाये तो उसमें कहा गया है कि इस सामान्य रूप को लोक संस्कृति का धरातल कहा जा सकता है, जिसमें जनसाधारण की परंपराएँ, रीति–नीतियाँ, प्रथाएँ, लोक–विश्वास आदि समाविष्ट होंगे।

विभिन्न विद्वानों के द्वारा लोक संस्कृति की अलग–अलग परिभाषाएँ दी है जैसे–सत्या गुप्त लोकसंस्कृति की सामान्य परिभाषा देते हुए कहती है, हर देश तथा समाज की उत्कृष्ट संस्कृति की आधारशिला वहाँ का लोकसमाज होता है और इसी लोक समाज की संस्कृति 'लोक संस्कृति' कहलाती है।

सत्येन्द्र के अनुसार लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। इसी वर्ग से सम्बन्ध संस्कृति 'लोक–संस्कृति' कही जाती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि लोक संस्कृति लोकसमाज के समूचे जीवन ढंग का प्रगटीकरण होती है। यह जीवन ढंग अपने वस्तु और रूप के पक्ष से शहरी संस्कृति हैं। वास्तव में यह अर्थ नहीं कि लोक व शहरी संस्कृति के बीच कोई संबंध नहीं है। वास्तव में यह तो आदिम मन की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन के क्षेत्र में हुई हो अथवा धर्म, विज्ञान व औषधि के क्षेत्र में।

मिथिला लोक संस्कृति –

हिमालय के पाद प्रदेश में कोशी से पश्चिम गण्डक से पूर्व और गंगा से उत्तर विदेह जनपद एवं

राजधानी नगर मिथिला आजकल एक सांस्कृतिक जनपद के रूप में अवशिष्ट है। इस भू–भाग की प्राकृतिक सुषमा ऐतिहासिक गौरव एवं सांस्कृतिक अन्तर्धारा से समृद्ध है। यहाँ के जीवन में लौकिक एवं वैदिक संस्कृति का समाहार लोकवेद में द्रष्टव्य है।

लोक शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में स्थान एवं जीव प्रथा अशोक के अभिलेख में प्रजागण के रूप में हुआ है। अतः लोक–संस्कृति जनपद विशेष के संस्कारजन्य आचार–विचार एवं उच्चारण की गत्यात्मक अभिव्यंजना है।

लोक की अपेक्षा संस्कृति विशेष परिवर्तनशील होती है। इस प्रकार लोक की अवधारणा एक अटल और अनन्त सागर की हैं, जिसमें कालक्रम से विभिन्न संस्कृतियों का समावेश हुआ है। फलतः लोक का प्रत्यक्षत्व विलुप्त नहीं होता अपितु वह एक सशक्त प्रतिपक्ष के रूप में स्थापित है।

इस भू–भाग में आर्यागमन से पूर्व आर्येत्तर लोगों का बसोबास था। अभियानी प्रवृत्ति के कारण आर्यों को वर्चस्व स्थापना के लिए घोर संघर्ष करना पड़ा। दशराज्ञयुद्ध, वृत्रासुर वध, कालियमन आदि इसके शब्दांकित अभिलेख हैं। यह द्वंद्वात्मक स्थिति आज तक किसी न किसी रूप में कायम है। तथापि आंतरिक द्वन्द्व के होते हुए भी सांस्कृतिक आदान–प्रदान की स्थिति रचनात्मक प्रयास के रूप में जारी है।

यह गौरतलब है कि मिथिला के विभिन्न विद्वानों ने लोक संस्कृति का भिन्न–भिन्न परिभाषा दिए है जैसे–डॉ0 रामदेव झा ने लोकवृत्त पर आधारित जनसामान्य की संस्कृति को लोक संस्कृति कहा है, जबकि डॉ0 रामप्रवेश सिंह इसे लोकायत संस्कृति कहते हैं। इसमें सामान्यतः परम्परित लोकविश्वास, मिथकीय अवधारणा, आचार–विचार, चास–बास, भोजन–छाजन, पर्व–त्योहार, राग–भास, नाच–गान, लोकवाद्य, लोक–क्रीड़ा आदि को समेटा जा सकता है। अतः मिथिला के सांस्कृतिक विकास में लोक ही कारक तत्व हैं, जिसमें लोक का भूत और वर्त्तमान संचित है। इस प्रकार लोक और संस्कृति के बीच तात्विक भेद–प्रभेद को विशेष अध्ययन–अनुशीलन के लिए निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है–(1) लोकधर्म, (2) लोकसाहित्य, और (3) लोककला।

लोकधर्म –

मिथिला का लोकधर्म मूलतः ब्रह्मकेन्द्रित है। लोकब्रह्म अर्थात् सर्वजातीय एवं गाँवों के संरक्षक तथा मातृब्रह्म अर्थात् देव माता एवं बुढ़िया माई। लोकब्रह्म यानी बरहम को गाँव का मुख्य संरक्षक माना जाता है। बरहम के बारे में यह भी माना जाता है कि यह गाँव के आसपास भटकने वाली आत्माओं, भूत–पिशाचों को अपने नियंत्रण में रखते हैं। बरहम बाबा को लोक मिट्टी के बने घोड़ कलश, जनऊ, मिठाई, पान, फूल, पैसा और दूध आदि चढ़ाते हैं। मिथिला में पशु बलि भी इन्हें दी जाती है।

यह गौरतलब है कि बुढ़िया माई का स्थान पश्चिमी बिहार और नेपाल की तराई में कई जगह मौजूद है, जहाँ भारी मात्रा में बलि चढ़ाई जाती है। जोगी बाबा से संबंधित स्थान समस्तीपुर, मुजफ्फरपुर और वैशाली के इलाके में देखे जाते हैं। उनकी मूर्त्ति ऊँट पर सवारी करते हुए बनाई जाती है। ये इसका प्राचीन रूप है। लोकविश्वास के अनुसार मिथिला के समस्त लोकदेवी–देवता इसी ब्रह्मपिण्ड से हुआ है। इसी ब्रह्म से उद्‌गमित कुछ जातीय देवी–देवता अपने चमत्कारी प्रभुत्व के कारण सर्वजातीय बन गये हैं। जिनका वार्षिक लोकोत्सव के अलावा मांगलिक अवसरों पर आनुष्ठानिक पूजन भी लोक प्रचलित है। इस प्रकार इस जनपद की सुख समृद्धि, आपदा–विपदा, दुख–दैन्य, हँसी–खुशी आदि इन्हीं देवी–देवताओं से सूत्रबद्ध है।

लोकधर्म के अन्तर्गत सूर्य (रविषष्ठी) और चन्द्रमा (भाद्र शुक्ल चतुर्थी) का लोकपूजन, व्रतानुष्ठान, कोहबर और अरिपनों से सूर्य–चन्द्र का अंकन कल्याणप्रद माना जाता है। कमला, कोसी, जीवछ और गंगा को नदी देवी एवं बरगद, पीपल, नीम आदि देववृक्ष के रूप में लोकपूर्णतः है।

मिथिला के लोकजीवन को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए अनेकाने व्रत एवं पर्व–त्योहारों का विधान विहित हैं, जो जनपदीय जीवन को एक आचार संहिता के रूप में मर्यादित करता है। मधुश्रावणी, वटसावित्री, अक्षयनवमी, नागपंचमी, रविषष्ठी, जितिया, भ्रातृद्वितिया आदि की संरक्षिका स्त्री है।

जीवाराम बुलाकी आदि कई लोक देवता के बारे में जानेंगे तो पता चलेगा कि इनकी कथा बाघ से लड़ने के दौरान मारे जाने की घटना से जुड़ी है। कारू खिरहर के जीवन चरित्र से पता चलता है कि यह अक्सर पिछले 150 सालों के दौरान जीवित रहे, कहा जाता है कि इन्होंने पूरे इलाकों में मवेशियों में फैली महामारी को समाप्त किया। इस तरह अनेको जाति एवं जनजातियों में किसी–न–किसी लोक देवी व लोकदेवता को मानने वाले जिनकी अटूट श्रद्धा और आस्था होती है।

लोक साहित्य –

लोक संस्कृति के अंतर्गत लोक साहित्य का भी विशेष महत्व है। इसकी रचना किसी विशेष व्यक्ति की रचना नहीं है। बल्कि यह पूरे जन–समूह की रचना है। इसका निर्माण धन, यश, कीर्ति की प्राप्ति के लिए नहीं हुआ है, बल्कि यह हमारी संस्कृति को पीढ़ी–दर–पीढ़ी मौखिक रूप से आगे पहुँचाने का एक जरिया है लोक साहित्य प्राचीन साहित्य होते हुए भी नया है। लोक साहित्य गद्य–पद्य मिश्रित काव्य है। इसमें दो लोग विशेष होते है–वक्ता एवं श्रोता। लोक साहित्य दो शब्दों से मिलकर बना है–लोक तथा साहित्य। लोक शब्द का अर्थ जनसामान्य से है। इस प्रकार से लोक साहित्य का तात्पर्य लोग एक ऐसी कृति के रूप में स्वीकारा गया है, जिस पर समस्त लोक का समान अधिकार होता है।

लोक साहित्य लोक के द्वारा एवं लोक के लिए सृजित तथा लोक को अभिव्यंजित करता लोकसाहित्य श्रुति और स्मृति परम्परा से संरक्षित होता है। आदिम प्रवृत्ति और परम्पराधारित, अभिजात्य संस्कार से भिन्न जनपदीय भाषा में मुखरित मैथिली लोकसाहित्य मानवीय उद्‌गार की मौखिक अभिव्यक्ति है।

हालाँकि मैथिली लोकसाहित्य का फलक व्यापक है–(1) गेयात्मक लोकसाहित्य (गाथागीत एवं लोकगीतों के प्रकार), (2) कथनात्मक लोकसाहित्य (लोककथा, लोकोक्ति, बुझौवल आदि), (3) लोकनाट्‌य साहित्य (लोकधर्मी नाट्‌य, गद्य–पद्य मिश्रित), (4) आनुष्ठानिक लोकसाहित्य (आचार, अभिचार विषयक लोकमंत्र आदि)।

मैथिली का गेयात्मक लोकसाहित्य उत्पन्न समृद्ध है। यह लोकगीतों के अनंत आकाश और गाथागीतों के महासागर तक विस्तृत है। मैथिली लोकगीतों के अनेक संकलनों के अलावा विधागत संकलन भी प्रकाशित है। कोसीगीत (ब्रजेश्वर मल्लिक), थारू लोकगीत एवं मैथिली बालगीत (प्रो0 मौन), संस्कारगीत (कामेश्वरी देवी एवं विभूति आनंद) आदि। कुछ शोधकर्त्ताओं ने इनको विभिन्न नामों से नामकरण किया है–ग्राम गीत, नृत्य गीत, आख्यान गीत, वीरगाथा या वीरकाव्य आदि।

लोक संस्कृति के अंतर्गत लोक पर्वों का विशेष महत्व है। लोकपर्वों का संबंध कृषि और पर्यावरण से है। कृषक समाज लोगों के माध्यम से अपने भाव व्यक्त करते हैं। प्रत्येक पर्व के पीछे अपना एक लोक इतिहास जरूर होता है। किसी विशेष तिथि पर मनाए जाने वाले लोगों द्वारा पर्व को लोक पर्व कहा जाता है। भारतीय

संस्कृति में पर्वों का विशेष महत्व है जो सालों भर कोई न कोई पर्व चलता ही रहता है। हर ऋतु में हर महीने में कम से कम एक पर्व तो निश्चित रूप से मनाया जाता है, जो चैत्र नवरात्रि, रामनवमी, वैशाखी, वट सावित्री, पंचमी, मधुश्रावनी, मैना पंचमी, रक्षाबंधन, जन्माष्टमी, राधाअष्टमी, दुर्गापूजा, कोजागरा, धनतेरस, दिवाली, गोवर्धन पूजा, भातृद्वितीया, छठ, देवोत्थान, कार्तिक पूर्णिमा, मकर संक्रांति, महाशिवरात्रि, वसंत पंचमी, होली आदि प्रमुख है। मिथिलांचल के लोकपर्व में सामा चकेवा का विशेष महत्त्व है जो मिथिलांचल की महिलाओं द्वारा भाई–बहन के पवित्र प्रेम और विश्वास का प्रतीक है।

लोककला –

लोककला मिथिला के सौन्दर्यबोधी लोकचिन्तन का प्रतिफलन है। जनपद के थान गहबरों में संपूजित लोकदेवी–देवताओं की रंग–बिरंगी मृण्मूर्त्तियाँ, आनुष्ठानिक पूजापात्र हो, मांगलिक अल्पना अथवा कलात्मक भित्तिचित्र हो, काठ–बाँस, मूँज, सिक्की एवं कोइढ़ला का कलात्मक सृजन हो अथवा लोकगीत–संगीत और नृत्य–नाट्य से अनुरंजित प्रदर्शनकारी कलाएँ हो, मिथिला की परम्परित लोककलाओं का संसार फैला हुआ है।

मिथिला की लोककला के संदर्भ में लोक चित्रकला आज जनपदीय स्तर से ऊपर राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शोधानुशीलन का विषय बन गया है। मिथिला लोक चित्रकला आज के समय में इन शैलियों में विकसित है–मधुबनी, जनकपुर और हरिजन चित्रशैली। मधुबनी शैली आभिजात्य (कायस्थ, ब्राह्मण, राजपूत) शैली है, जबकि जनकपुर शैली नेपाल तराई की मधेसी शैली और इन सबों से भिन्न हरिजन शैली मुख्यतः अनभिजात्य (दुसाध, चमार जातीय) शैली की लोकचित्र कला है। लेकिन इनका कलात्मक स्थापत्य लगभग एक समान हैं। मधुबनी लोक चित्रकला शैली की क्षेत्रीयशैली तंत्राधारित है। दशमहाविद्या, छिन्नमस्ता, काली आदि के चित्र इसके प्रमाण है।

मिथिला लोक चित्रकला को अध्ययनार्थ तीन आयामों में वर्गीकृत किया जा सकता है–(क) अरिपन (अल्पना), (ख) कोहबर और (ग) प्रसंग चित्र।

डॉ0 हरेन्द्र प्रसाद सिंह ने मिथिला की लोककलाएँ को लेकर ये बातें कही है यहाँ के काठ, बेंत, लाह, सिकी, मूँज, सुजनी, पुतरी, मंजूषा, मुखौटा आदि की लोकप्रियता को हमारा ध्यान आकृत किये है। इस अनुक्रम में सिकी का पनबट्टा, विषहरा, पौती, मौनी, फुलिया, चँगेरी, पानचंगेरी, कुश की आसनी, मूँज का पटिया, सबरंग पटिया, लाह की फुलिया, लहठी, काठ का सिनुर, घोरा, कीया, ठक–बक आदि की कलात्मक उत्कृष्टता द्रष्टव्य है। मधुबनी, दरभंगा, लालगंज, हाजीपुर, मंसूरचक, सिवान आदि इसके सृजन केन्द्र है। लेकिन उपभोक्ताओं के बदलते सोच और व्यवस्थित बाजार के अभाव में ये परम्परित कलाएँ दम तोड़ती नजर आ रही है।

निष्कर्ष –

वर्त्तमान समय विमर्शों और हाशिए के विषयों पर चर्चा–परिचर्चा का है, पर इन विविध विमर्शों के इस दौर में भारतीय लोक संस्कृति की भी महती आवश्यकता है। उसी प्रकार मिथिला की लोक संस्कृति मिथिला के कण–कण में बसी हुई है। यह लोगों की पारंपरिक संस्कृति है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रही है। फलतः आज मिथिला की लोक संस्कृति अपने भौगोलिक परिवेश, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और जनपदीय चिंतन की परम्परा में लोकधर्म, लोकसाहित्य और लोककला के विभिन्न आयामों में पल्लवित होकर अपनी विशिष्ट पहचान बनायी हुई है। आज विश्व स्तर पर अपसंस्कृति के विरूद्ध हमारी लोक संस्कृति एक सशक्त विकल्प हो सकती है।

संदर्भ सूची –

1. दरभंगा डिस्ट्रिक्ट, गजेटियर, पृष्ठ–24
2. शांति जी. (2019 जून), लोक साहित्य और मानव समाज, मिडिया विमर्श, मिडिया और लोकजीवन अंक, भोपाल
3. 'दिनकर' रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय (दिल्ली राजपाल एण्ड सन्स, 1956, पृष्ठ–653)
4. मानक हिन्दी कोष (चौथा खण्ड) सं0 रामचन्द्र वर्मा (प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1965), पृष्ठ–59
5. भाषा शब्द कोष (सं.) रामशंकर रसाल (इलाहाबाद : रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, 1974), पृष्ठ–1477
6. नालंदरा विशाल शब्द सागर, संपा, नवल जी (देहली : फूलचन्द जैन, 1950), पृष्ठ–1221, 1388
7. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडस भाग, संपा, राहुल सांकृत्यायन, कृष्णदेव उपाध्याय (काशी : नगरी प्रचारिणी सभा सं0 2017), पृष्ठ–11
8. गुप्त सत्या, खड़ी बोली का लोकसाहित्य (इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1965), पृष्ठ–331
9. सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन (आगरा : विनोद पुस्तक मंदिर, प्रथम संस्करण) पृष्ठ–3
10. चौहान विद्या लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : भोजपुरी और अवधि के संदर्भों में (आगरा : प्रगति प्रकाशन, 1972) प्रस्तावना।
11. सुनीति कुमार चटर्जी, श्री विद्यानन्द ठाकुर कृत लोकोक्ति प्रकाश की भूमिका, पूर्णियाँ, 1935
12. राम प्रवेश सिंह, लोकयत और लोकदेवता, मुजफ्फरपुर, 1986, पृष्ठ–2
13. रामदेव झा, मैथिली लोकसाहित्य, स्वरूप ओ सौन्दर्य, दरभंगा, 2002, पृष्ठ–13
14. सत्यव्रत सिन्हा, भोजपुरी लोकगाथा, इलाहाबाद, 1957, पृष्ठ–5
15. द्रष्टव्य, प्रफुल्ल कुमार सिंह, 'मौन' मैथिलीक नैनागीत, पटना, 1988
16. द्रष्टव्य, प्रफुल्ला कुमार सिंह 'मौन', मिथिला की प्रदर्शनकारी कलाएँ, रंगायन उदयपुर, मार्च, 1979
17. द्रष्टव्य, प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन', चेचर की प्राचीन मूर्त्तियाँ, वैशाली, 1980
18. पूर्वोक्त, रंगायन : प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन'
19. डॉ0 देवनारायण यादव : मिथिला की लोकसंस्कृति : शोध संस्थान, दरभंगा।
20. जयकान्त मिश्र, हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, वाल्यूम–1, इलाहाबाद।

डा0 पुष्पा कुमारी,

मुहल्ला सुन्दरपुर बेला, वार्ड–04, पोस्ट–लालबाग, जिला–दरभंगा (बिहार)

मोबाईल –7766938433 ईमेल–drpk0811@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 209-211

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

वैदिक संस्कृति में पर्यावरण चेतना

डॉ. राधा कुमारी

सहायक आचार्य–हिन्दी, राजकीय कन्या महाविद्यालय, हनुमानगढ़।

हजारों वर्षों पूर्व भारतीय ऋषियों–मुनियों ने मानव कल्याण और सुख के लिए पर्यावरण के महत्त्व और प्रकृति के सान्निध्य के महत्त्व को समझा था। भारतीय संस्कृति का आधार वैदिक युग रहा है और वैदिक संस्कृति आरण्यक प्रधान संस्कृति रही है। प्राचीन ऋषि मुनि अपना जीवन वनों में व्यतीत करते थे। वेदों की ऋचाएँ भी प्रकृति के सुरम्य वातावरण, गिरियों की उपत्यकाओं, नदियों के किनारे, वनों में वृक्षों के झुण्डों के बीच ऋषियों के कंठ से गुंजी थी।

यजुर्वेद में कहा भी गया है :–

''उपह्वरे गिरीमां संगमे च नदीनाम्।
धियो विप्रो अजायत।।''[1]

वेदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वेदकालीन समाज में पर्यावरण के महत्त्व और उसकी रक्षा के प्रति अत्यधिक जागरुकता थी। वैदिक संस्कृति ने पंचतत्वों जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि एवं आकाश में ही पर्यावरण को विद्यमान माना है। वेदों में पर्यावरण से सम्बन्धित अधिकतम ऋचाएँ यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में से प्राप्त होती है। ऋग्वेद में भी पर्यावरण से सम्बन्धित सूक्तों की व्याख्या उपलब्ध है। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त तथा ऋग्वेद का प्रजापति सूक्त पर्यावरण संरक्षण का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। वेदकालीन मनीषियों ने द्युलोक से लेकर व्यक्ति तक, समस्त परिवेश के लिए शांति की प्रार्थना की है। शुक्ल यजुर्वेद में ऋषि प्रार्थना करता है– "द्योः शांति शांतिरंतरिक्षं शांति।"[2]

वेद, सृष्टि के समग्रज्ञान के अजस्रस्रोत, पर्यावरणीय समस्या–समाधान की कुंजी, वैश्विक पर्यावरण संरक्षण के लिए अमृतकोष तथा सह–अस्तित्व के पर्याय है। वैदिक वाङ्मय पर्यावरण संरक्षण से ओत–प्रोत एवं प्रज्ञा–स्रोत है। वेदों का सारभूत पर्यावरण विषयक चिन्तन, चिन्तामनि रत्न है।

अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त प्रत्येक पंक्ति में पर्यावरण और पारिस्थितिकी की समूची अवधारणा का वाङ्निबद्ध मूर्त रूप है– "गिरयस्ते पर्वताः हिमवन्तः, अरण्य ते पृथिवि स्योनमस्तु।"[3]

अर्थात् वे पर्वत जिनके ग्लेशियर नदियों से हमें जल देते हैं, वे जंगल जो प्राणदायक है, हमारे लिए कल्याणकारक होवें।

वैदिक ऋषि पृथ्वी का उपकार मानता है, जो हमें विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ, अन्न और औषधियाँ प्रदान करती है। वैदिक मनीषी पृथ्वी को माता कहता है एवं स्वयं को उसका पुत्र मानता है :–

''माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।''[4]

माता का दायित्व पृथ्वी संपादित कर रही है। लेकिन मनुष्य पृथ्वी रूपी माँ का अनावश्यक दोहन कर रहा है, खनन कर रहा है तथा जल, जंगल, जमीन को हानि पहुँचा रहा है। आज मनुष्य अपने द्वारा दी गई इस प्रतिज्ञा को भूल गया है कि :–

"यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वारिं मा ते हृदयर्पिपम।।"[5]

अर्थात् हे भूमि! जो कुछ मैं तेरा खोद डालूँ, वह शीघ्र ही फिर से उत्पन्न हो जाए। हे मा! मैं न तो तेरे मर्मस्थल और ना ही तेरे हृदय को दुख पहुंचाऊँ।

अथर्ववेद में पृथ्वी को 'वसुधा' अर्थात बहुमूल्य रत्न धारण करने वाली कहा गया है :–

"वसूनि नो वसुधा रासमाना देवी दधातु सुमनस्त्रमाना।"[6]

अर्थात् अपनी गुहा में अनेक प्रकार की निधियाँ धारण कर वसुधा प्रसन्न होकर मानव समुदाय का पालन–पोषण करती है।

वैदिक संस्कृति में 'गो–संरक्षण' को भी महत्वपूर्ण माना गया है। गायों के गोमय से पंचगव्य औषधियों का निर्माण होता है तथा गोबर से उर्वरा शक्ति विकसित होती है। यह पर्यावरण को स्वच्छ रखने में सहायक हैं जैसा कि पृथ्वी की रक्षा के सन्दर्भ में कहा गया है :–

"या रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानी देवा भूमि पृथिवीमप्रमाद्म्।
सा नो मधु प्रियं दुहामयों उक्षतु वर्चसा।।"[7]

वैदिक संस्कृति में 'यज्ञ' को बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। यज्ञ के लिए 'हवि' शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद ने यज्ञ को ही हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण क्रियाकलाप का माध्यम बनाया है। वेदों का प्रधान विषय मूलतः यज्ञ ही है। यज्ञ से ही समूचे जगत का कल्याण निहित है।

यज्ञ और पर्यावरण का अटूट सम्बन्ध है। इस पृथ्वी पर यज्ञमय वातावरण में मानव की प्रत्येक श्वास में दीर्घायु एवं सुस्वास्थ्य की मनोरम झाँकी परिलक्षित होती है।

शथपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने अपनी प्रतिमा के रूप में सर्वप्रथम यज्ञ को ही उत्पन्न किया :–

"अथैन मात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञम् तस्मादाहुः
प्रजापतिर्यज्ञ इतयात्मनो ह्वोनं प्रतिमा सृजत।"[8]

प्रजापति द्वारा यज्ञ के साथ सृष्टि की रचना करने के कारण मानव प्रजापति की सन्तान कही जाती है। प्रकृति अनुरक्षण के लिए यज्ञ में प्रतिष्ठित रहने वाले परब्रह्म की प्रसन्नता के लिए मानव को प्रजापति द्वारा रचित यज्ञ का सदैव अनुष्ठान करना आवश्यक है। जो मानव प्रजापति के द्वारा निर्मित यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता, वह व्यर्थ ही संसार में जीवित रहता है, ऐसा भाव पर्यावरण संरक्षण के अतिरिक्त भला और क्या हो सकता है। वेदों में प्रजापति के महत्त्व का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। यज्ञ ही प्रजापति है और प्रजापति ही यज्ञ है–

"यज्ञ प्रजापतिः।"[9]

"यज्ञो वै प्रजापतिः।"[10]

"प्रजापतिर्यज्ञः।"[11]

"प्रजापतिर्यज्ञः।"[12]

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण के समस्त घटकों के महत्व को समझकर उनमें देवत्व के दर्शन किये और उनसे पाप से बचाने की प्राथनाएँ की। यहाँ प्रार्थनाओं से आशय यही है कि मानव पर्यावरणीय घटकों में देवत्व का दर्शन करे, उनके प्रति किसी पाप अथवा प्रदूषण न करें।

संदर्भ सूची :-

1. यजुर्वेद 26/15
2. शुक्ल यजुर्वेद 36/17
3. अथर्ववेद 12/1/11
4. अथर्ववेद 12/1/12
5. अथर्ववेद 12/1/35
6. अर्थववेद 12/1/44
7. अथर्ववेद 12/1/7
8. शतपथ ब्राह्मण 11/1/8/3
9. शतपथ ब्राह्मण 11/6/3/9/14
10. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/3/2010
11. शतपथ ब्राह्मण 1/1/1/1
12. शतपथ ब्राह्मण 5/4/55/19

Email – radhabishnoi123@gmail.com

Mobile No. 9024428519

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 212-215

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति का इतिहास, वर्तमान एवं भविष्य

रक्षा

शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय।

प्राचीनकाल से जिस भारत को हम विश्व गुरु की भूमिका में मुख्य रूप से पाते हैं। उसी के साथ यह बात भी विश्व प्रसिद्ध है कि उसकी एक अपनी विशाल सांस्कृतिक विरासत है। कहीं भी संस्कृति की चर्चा होने पर यह संभव ही नहीं कि वहां भारत की चर्चा ना हो। संस्कृति और विविधता का देश भारत पूरे विश्व में अपनी संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। हमारे देश में संस्कृति का विशेष महत्व है, दिनकर जी भी संस्कृति का महत्व बताते हुए कहते है कि "भारत में संस्कृति जीवन की प्रतिछाया नहीं बल्कि जीवन जीने की शैली होती है।"[1] इसी के साथ ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का योगदान कम नहीं रहा "भारतवर्ष ने संसार को जितना दिया है उतना शायद और किसी देश ने नहीं। इसके दो महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' की महिमा अपार है। ये नैतिकता, सौंदर्य भावना, राजनीतिक विचार, उदात्त आत्मिकता तथा मन एवं बुद्धि के लिए और बहुत सी बातों का अथाह स्रोत" ।[2]

संस्कृति का अर्थ है उत्तम या सुधरी हुई स्थिति, मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता से अपने चारो तरफ की परिस्थितियों में निरंतर विकास और सुधार की ओर बढ़ता रहता है। अपने रहन सहन और रीति रिवाज, आचार व्यवहार, अनुसंधान और अविष्कार यही सब है जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। मनुष्य समाज में रहता है उसी समाज का मुख्य भाग उसकी संस्कृति है "संस्कृति उतनी ही मानवकृत और सामाजिक गतिविधि है जितना कि मनुष्य संस्कृति द्वारा निर्मित है। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है (अरस्तू)। इसीलिए वह समाज से न तो अलग रह न तो जीवित रह सकता है और न अपना स्वाभाविक विकास कर सकता है। बचपन में हर समाज परिवार और समुदाय बच्चो में नए मूल्यों और संस्कारों का समावेश करता है, जो उस देश के काल के अनुरूप होते हैं।"[3] "इसी कारण मनुष्य जंगलवासियों से भिन्न होता है और सभ्य कि श्रेणी में आ जाता है। सभ्यता संस्कृति का ही एक अंग है।" व्यापक अर्थो में संस्कृति को दो भागों में बांटा जाता है। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें मकान, यान, औजार, यन्त्र आदि वह सारी भौतिक सामग्री है जिसका समाज ने निर्माण किया है।

आध्यात्मिक संस्कृति में ज्ञान, विश्वास, मनोवृत्ति और अभ्यास का ढांचा सम्मलित है।"[4] सभ्यता मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की प्रगति की गवाह होती है। वहीं सस्कृति से उसकी मानसिक व सामाजिक क्षेत्र की प्रगति का पता चलता है।" सभ्यता जो जो प्रगति करती है, आदमी की चिंतनशीलता उसके कवित्व को दबाती जाती है। द्रविड़ सभ्यता में आर्यों से आगे थे यानी आर्यो की अपेक्षा वो अधिक प्राचीन थे।"[5] मनुष्य को मनुष्य होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह भौतिक प्रकृति के साथ साथ अपने और आत्मा को संतुष्ट कर सके। इसी

संतुष्टि में संस्कृति उसकी सहायक बनती है।

भारतीय संस्कृति का इतिहास :–

भारत की संस्कृति सत्य के स्तंभों पर खड़ी है इसी कारण वह गतिशील और विकास की तरफ बढ़ती हुई है। अन्य देशो की संस्कृति से भारत की संस्कृति में इसलिये भिन्नता है इसके विकास में अध्यात्म, धर्म और हिंदू दर्शन जुड़ा हुआ है जो इसे अधिक दृणता प्रदान करता है। दिनकर जी अपनी रचना 'संस्कृति के चार अध्याय' में भारतीय संस्कृति की प्राचीनता को दर्शाते हुए कहते हैं कि "भारतीय संस्कृति की धारा सतत रूप से प्राचीन काल से बहती आ रही है। इस मुख्य धारा में अनेक उपधाराए सम्मलित होती रही, परंतु मूल धारा शास्वत रही। सरस्वती नदी की तरह इस संस्कृति की भी अनेक धाराएं लुप्त हो गई। धर्म, दर्शन, वर्णाश्रम पद्यति, आचार, संस्कार आदि भारतीय संस्कृति के विशिष्ट उपादान हैं।"[6]

"हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव आर्य और आर्यतर संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ है तथा हम वैदिक संस्कृति कहते हैं वह वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृति के मिलन से उत्पन्न हुई थी।"[7] भारत की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। पुरातत्वो के प्रमाण आदि से इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं कि आज से लगभग पांच हजार वर्ष पहले उत्तरी भारत के एक बड़े भाग में एक उच्चकोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। वेदों में परिलक्षित भारतीय संस्कृति प्राचीनता का प्रमाण तो देती ही है साथ साथ आध्यात्मिक चिंतन की ऐसी अभिव्यक्ति कहीं नहीं मिलती है। अन्य देशों की संस्कृति के साथ तुलना में रोम व यूनानी संस्कृति भारतीय संस्कृति से प्राचीन है तथा मिस्र, असीरिया एवं बेबिलोनिया जैसी संस्कृतिया भारत की संस्कृति के समकालीन हैं।

भारतीय संस्कृति का वर्तमान :–

भारतीय संस्कृति अपना मूल रूप तो नहीं खोती मगर प्रगतिशील युग के साथ अपना रूप समय समय पर थोड़ा थोड़ा बदलती रहती है। यह संस्कृति की व्यापकता तथा चरम विस्तार को भी दर्शाता है। हम देखते हैं कि प्राचीन काल से ही प्रकृति की पूजा, जंगल के वृक्षों की पूजा, पर्वत के रूप में गोवर्धन पर्वत की पूजा, इस प्रकार आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक प्राचीन मान्यताएं हमारी संस्कृति में आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं भारतीय संस्कृति में ग्रह, वृक्ष, मौसम सभी कि पूजा होती है चाहे वह वट वृक्ष, पीपल का पौधा या छठ पूजा जैसे अनुष्ठान में सुर्य देव की पूजा। बैसाखी, मकर संक्रांति, पोंगल, ओणम, जैसे तमाम पारंपरिक पूजा पाठ आज भी हमारे समाज तथा संस्कृति की पहचान बने हुए हैं। देव पूजा, व्रक्ष पूजा, प्रकति पूजा, पशु पूजा, और पक्षियों के प्रति सचेतता, यह केवल कोरी अंध भक्ति नहीं है यह दर्शाता है पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता व पशु पक्षियों के प्रति सोच की सहजता। यही सब मान्यताये है जो हमारी भारतीय संस्कृति की रीढ़ बनती हैं, जिनकी टेक से मान्यताएं व परम्पराएं हजारों वर्षो से आज भी विद्यमान हैं।

भारतीय संस्कृति का भविष्य :–

हमारे बुजुर्ग इस बात से चिंता में है कि नई पीढ़ी अपनी संस्कृति और रीति–रिवाजों में उतनी दिलचस्पी नहीं ले रही है जितनी लेनी चाहिए। चर्चा सुनने को मिलती है कि रीति रिवाजों व संस्कृति से छेड़छाड़ की जा रही है। पाश्चात्य संस्कृति नई पीढ़ी पर हावी होती जा रही है और समाज इस कारण दिशाहीन हो रहा है। नई पीढ़ी अपने इतिहास का सम्मान करना तो भूल ही रही है साथ ही अपनी संस्कृति पर सवाल भी उठा रही है।

यह अनिवार्य है विदेशियों के आक्रमण से भारत की संस्कृति एवं जनता पर काफी प्रभाव पड़ा था। "भारत में मुसलमानो का अत्याचार इतना भयानक रहा है कि सारे संसार मे उसका तोड़ जोड़ नहीं मिलता। इन अत्याचारों के कारण हिंदुओ के ह्रदय में इस्लाम के प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई उसके निशान अभी तक बाकी है और पड़ोसी के ह्रदय में इतिहास ने जो जहर की लकीरें छोड़ी है उन्हें शिष्ट मुसलमान भी कहीं न कहीं अनुभव करते हैं। यह बडी ही अर्थपूर्ण बात है भारत के किसी भी मुसलमान विद्वान में मुसलमानी अत्याचारों को उचित बताने अथवा भीषणता पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं कि।"[8]

"मुहम्मद की चढ़ाई के समय हिन्दू धूलि कणों के समान उड़ गए और जीवित लोगों के मुख में उनकी कहानी मात्र शेष रह गई। यह भी की तभी वह मुसलमानों से अत्यंत घृणा करने लगे।"[9]

विदेशी आक्रमणकारी भारत आए और इसी के साथ उन्होंने हमारे देश में अपनी संस्कृति की नींव डाली। कुछ समय तक वह चली भी मगर फिर उनके देश से बाहर होते ही हमारे समाज से उनकी संस्कृति भी बाहर होने लगीं। भारत में इस्लामी संस्कृति का आगमन अरबों व तुर्को के माध्यम से हुआ था। "अरबों और भारतीयों का संबंध हजरत मुहम्मद के जन्म से पहले कई सालों से चला आता रहा है। वे नाविकों एवं व्यापारियों के रूप में भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तट के बंदरगाह पर आते थे। विशेषतः पश्चिमी तट पर चौल, कल्याण, सुपारा तथा मलावर में इनकी बस्तियाँ थीं। इस्लाम के के बाद ये कट्टर मुसलमान हो कर भारत आने लगे। इनमें से अनेक व्यपारी भारत में ही बसजाते और भारत की स्त्रियों से ही शादी कर लेते थे।"[9] फिर भी भारतीय संस्कृति का पृथक अस्तित्व अड़िग है। परायी संस्कृति की अच्छी बातें ग्रहण करने में भारत की संस्कृति ने कभी संकोच नहीं किया। इस ग्रहण करने के क्रम में भी इसने रूढ़ि में न बंध कर अपनी संस्कृति को और सुंदर बनाया।

अन्य संस्कृतिया भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग हैं, तथापि 'भारतीय इस्लाम' एवं 'भारतीय ईसाई' का स्वरूप अन्य देशों के इस्लामियों एवं ईसाइयों से अलग देखने को मिलता है। कुछ भरतीय हिंदुओं मजार पर चादर चढ़ाने की परंपरा भी देखी जा सकती है और बिहार के कुछ मुस्लिम छठ पर्व भी मनाते हैं।

हमारे भारत की संस्कृति का मूल आधार वेद, धर्म और दर्शन है। जिस संस्कृति का आधार धर्म हो वह कभी बदली नहीं जा सकती, उसका रंग रूप बदला जा सकता है, शैली बदली जा सकती हैं, प्राचीन सूत्रों की व्याख्या बदली जा सकती हैं किंतु धर्म की बुनियाद नहीं बदली जा सकती। "वेद, उपनिषद, दर्शनशास्त्र, इतिहास, पुराण इत्यादि भारतीय संस्कृति का मूलाधार हैं। इन ग्रंथों में भारतीय संस्कृति के शास्वत मूल्यों का वर्णन हुआ है।"[10] अनेक भारतीय मजबूरी या मर्जी में विदेश जा कर बस गये पर यह स्पष्ट तौर पर हम देख पाते हैं कि वहाँ भी वे अपनी संस्कृति को आगे बढ़ा रहे हैं। अधिकतर विदेशी भारत और हिंदू संस्कृति से काफी करीब तक परिचित होते हैं। विदेशों में भारतीय परंपरा आगे बड़ रही है, चाहे वह मॉरीशस, त्रिनिदाद, सूरिनाम, फिजी, घाना, दक्षिण अफ्रीका अथवा इंग्लैंड हो या अन्य देश हर जगह भारतीय संस्कृति ने अपनी जड़ें मजबूत की हुई हैं। बाहर देशों में भारतीय संस्कृति पर भी प्रभाव पड़ा है उसमें अनेक बदलाव आए हैं परंतु इसके साथ यह भी है कि संस्कृति ने अपनी विरासत और अपना मूल रूप नहीं खोया है।

वेदों और शास्त्रों में भारतीयों का विश्वास उतना ही है जितना प्राचीन समय में था। लोग अपने जीवन में वहीं से नैतिक मूल्य अपनाते थे और अपने जीवन को अच्छा बनाने की कोशिश करते थे। गीता व उपनिषदों के संदेश हजारों सालों से हमारी प्रेरणा और जीवन का आधार रहें हैं। किंचित परिवर्तनों के बावजूद भारतीय

संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों, जीवन मूल्यों और वचन पद्यति में एक ऐसी निरतंरता रही है। आज भी अधिकतर भारतीय उनसे मूल्य प्राप्त करते हैं और स्वयं को उनसे जुड़ा हुआ मानते हैं।

भारतीय संस्कृति की विशेषताओं में मुख्य है सहिष्णुता, ग्रहशीकताव सहनशीलता। यह सब विशेषताएं शायद अन्य किसी देश की संस्कृति में न हो। "आचार के मामले में हिंदुओं ने यह तो स्पष्ट कर दिया कि वह मुसलमानों का छुआ हुआ पानी भी नहीं पिएंगे, न उनके साथ हम रोटी बेटी का संबंध रखने वाले हैं किंतु विचार के धरातल पर हिंदुओ ने इस्लाम को भी आदरणीय धर्म मान लिया। राणा कुंभा के कीर्ति स्तंभ में हिंदुओं के सभी देवी देवताओं की मूर्तियां हैं किंतु अरबी अक्षरों में अल्लाह का नाम भी खुदा हुआ है।"[11] जिस संस्कृति में लोकतंत्र एवं स्थायित्व के आधार व्यापक हो उस संस्कृति में ग्रहणशीलता का गुण होना स्वाभाविक है। हमारी भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का मुख्य भाग हमेशा से रहा है इसी के साथ चार पुरुषार्थ का विशिष्ट स्थान रहा है। ये चार पुरुषार्थ उत्तरदायी है भारतीय संस्कृति में भौतिक व आध्यात्मिक समन्वय के लिए। इस संस्कृति की विशेषता है कि इसने दैहिक और पारलौकिक दोनों पक्षों को धर्म से जोड़ कर उसे अधिक सुंदर और स्थायी रूप दिया है।

हिमालय पर्वत की विशालता सम्पूर्ण देश का गौरव रहा है वह ताज सा भारत के शीर्ष पर विद्यमान है। वहीं गंगा, यमुना एवं नर्मदा नदियों में पूजनीय हैं, भारतीय उनके जल को अमृत मानते हैं देवी की तरह उनकी पूजा अर्चना होती है। यही नहीं कि देवता बस अध्यात्म में विराजमान हैं उन्हें इस देश के साहित्य में भी भरपूर स्थान मिला है। अधिकतर सभी भाषाओं में उन पर अनगिनत साहित्य रचा गया है जो आज तक मान्यता प्राप्त है। इसका प्रमुख उदाहरण है आचार्य तुलसीदास जी के द्वारा रचित महाकाव्य 'रामचरितमानस' जो श्री राम का जीवन चरित है। आज भी मूल्यों और नैतिकता के उदाहरण इस ग्रंथ से लिये जाते हैं और भविष्य में भी ऐसा ही होता रहेगा। इतनी आधुनिकता आने पर भी भारतवर्ष में रामलीला मंचन होता आ रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष अपनी संस्कृति से कितना जुड़ा हुआ है, भारत कि आत्मा है उसकी संस्कृति। प्राचीन समय में भारत अपनी संस्कृति से पहचाना जाता रहा है और भविष्य में भी यही संस्कृति इसका ताज बनी रहेगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. संस्कृति व समाज, सुभाष शर्मा, भूमिका।
2. मानव और संस्कृति, अनुवादक–योगेंद्र नागपाल, प्रस्तावना।
3. संस्कृति व समाज, सुभाष शर्मा, भूमिका।
4. समाज और संस्कृति, वार्ताकार– राजाराम शास्त्री, आकाशवाणी वार्ता।
5. संस्कृति के चार अध्याय– रामधारी सिंह दिनकर, पृ–68
6. भारतीय संस्कृति–डॉ. राजेन्द्र शर्मा, डॉ. कुँवर लाल, पृ–1
7. संस्कृति के चार अध्याय– रामधारी सिंह दिनकर, पृ–58
8. संस्कृति के चार अध्याय– रामधारी सिंह दिनकर, पृ–255
9. संस्कृति के चार अध्याय– रामधारी सिंह दिनकर, पृ–302
10. भारतीय संस्कृति–डॉ. राजेन्द्र शर्मा, डॉ. कुँवर लाल, पृ–3
11. संस्कृति के चार अध्याय– रामधारी सिंह दिनकर, पृ–319

Email : Raksha01230@gmail.com, Ph. 9910131836

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 216-219

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति व सभ्यता में अंतर

रहिम

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

भारतीय संस्कृति व सभ्यता विश्व की प्राचीनतम व समृद्ध संस्कृति व सभ्यता है। इन्हें सभी संस्कृतियों की जननी माना जाता है। कला, विज्ञान, राजनितिक शास्त्र अर्थशास्त्र सभी श्रेत्रों में भारतीय संस्कृति का स्थान विशेष बना रहा है। भारतीय संस्कृति व सभ्यता शुरूआती दौर से ही अपनी अस्मिता के कारण आज भी अमर है।

यदि हम वर्तमान समय की बात करें तो समय परिर्वतन के साथ सभ्यता व संस्कृति को एक–दूसरे का पर्याय समझा जाता है। जबकि संस्कृति व सभ्यता दोनों एक–दूसरे से भिन्न है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र की संस्कृति से सुपरिचित अवश्य होना चाहता है। ''भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर के प्रति आस्था, 'महर्षि वाल्मीकि' और 'महर्षि व्यास' द्वारा प्रणृत इतिहास मनु, याज्ञवहक्य, नारदादि द्वारा प्रस्तुत धर्मशास्त्र महाकवि भास, कालीदास, अश्वधोष, भवभति, बाणभट्ट द्वारा रचित काव्य, श्री कृष्ण, भीम, अर्जुन, विदुर, चाणक्य, चन्द्रगुप्त का समर्पित लोकनायकत्व, वराहमिहिर आर्यभट्ट आदि का विज्ञान, सारनाथ, कोणार्क, भरहुत आदि की कला के उदाहरण लेकर उसका सर्वत/भावेन कल्याण किया है।''[1]

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के बारे में परिचित होने से पूर्व संस्कृति व सभ्यता की मूल परिभाषा के बारे में जानना आवश्यक है।

संस्कृत शब्द 'सम्' उपसर्ग में 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनी हुई है संस्कृति का शब्दिक अर्थ– 'उत्तम प्रकार से किया गया कार्य'। सामाजिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक व साहित्यिक क्षेत्रों में स्वयं की संस्कृति के अन्तर्गत प्रवेश करता है। समाज के शिष्ट व्यक्तियों के विचार, भाव, व्यवहार, कार्य देश की संस्कृति का निर्माण करते हैं।

प्रसिद्ध समाज शास्त्री 'राबर्ट वीरस्टीड' का कहना है कि ''यह संस्कृति ही है, जो एक व्यक्ति को अन्य सब व्यक्तियों से, एक समूह को अन्य सभी समूहों से और एक समाज को दूसरे समाजों से पृथक करती है।''[2] वास्तव में संस्कृति का नाता व्यक्ति के बौद्धिक व मानसिक मनोवृत्तियों से होता है और इन्हीं के आधार पर वह अपना विकास करता है। जब संस्कृति केवल एक व्यक्ति तक सीमित होती है तो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करती है। लेकिन जब यही संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में प्रचार व प्रसार प्राप्त कर लेती है, तो देश की प्रगति व समृद्धि का प्रतीक बन जाती है। इस प्रकार 'रामधारी दिनकर' के अनुसार ''संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में

सुगन्ध और दूध में मख्खन। इसका निर्माण एक या दो में नहीं होता, युग–युगान्तर में होता है।''[3]

इस प्रकार संस्कृति किसी भी राष्ट्र के मानवीय समूह के द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। यह एक ऐसा आदर्श रूप है जो वर्तमान के मानवीय समूह के विकास व सामाजिक रूप का निर्माण करता है। इसी तरह से सभ्यता शब्द की व्युत्पत्ति 'सभा' शब्द में यत्, तल एवं टाप् प्रत्ययों के योग से हुई है। 'सभ्य' शब्द का अर्थ है ''सभा में बैठने योग्य'' इस प्रकार सभ्यता का अर्थ होता है– मनुष्य की वह योग्यता जो उसे राष्ट्र, समाज व समूदाय में निर्वाह करने योग्य व्यक्ति बनाती हैं।

समाज में एक शिष्ट व समृद्ध व्यक्ति वही है। जो स्वयं की दैनिक जरूरतों को पूरा कर भौतिक रूप से विकसित होता है। समाज में रहकर उनके नियमों व कार्यो को जानकर उन्हें समझना, उनका पालन करना। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति जिन साधनों का प्रयोग करता है वे मूल रूप से संस्कृति के ही अंग माने जाते है।

''अतः सभ्यता का संबंध भौतिक संपदा से है, जो हमें विरासत से नहीं मिलते, अपितु उनका निर्माण करना पड़ता है।''[4]

'सभ्यता एवं संस्कृति' में देखे तो मूल रूप से अन्तर है। मनुश्य एक सामाजिक प्राणी है। वह जिस परिवेश, में रहता है, उसमें स्वयं को विकसित व समृद्ध करने का प्रयत्न करता है। परिवार, राष्ट्र व समूह में रहकर मनुष्य अपने जीवन का विकास करता है। जो उसके सामाजिक व सार्वजनिक जीवन को स्पष्ट करते है। अपने दैनिक जीवन को समृद्ध, सरल व सुगम बनाने के लिए राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक क्षेत्रों को विकसित करने का प्रयास करता है। नैसर्गिक तत्वों को जानकर मानव जाति ने निजी आवश्यकताओं की पूर्ति की है। किंतु उसकी केवल भौतिक जरूरतों की पूर्ति में ही इच्छा शक्ति शान्त नहीं हुई है। इसलिए उसने कला, साहित्य व तकनीकी क्षेत्रों को जानने व समझने का प्रयास किया। इतिहासकारों व विचारकों का मत है कि प्रारंभ में मनुष्य पशुतुल्य था उसके पास अपनी मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति कभी नहीं होती थी। वह आखेट के लिए पत्थरों को हथियारों के रूप में उपयोग करता था। समय के साथ उसने धीरे–धीरे उसने पशु–पालन व कृषि व्यवसाय को करना आरंभ किया। वह अपनी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयास करने लगा। प्रकृति द्वारा उत्पन्न पदार्थों व तत्वों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र मे प्रगति की। जिसे हम 'सभ्यता' अर्थात 'सिविलाइजेशन' कहते हैं।

भारतीय संस्कृति एक ऐसा विशाल महासागर है। जिसमें सृष्टि की सर्व संस्कृतियों का स्वरूप शामिल है। 'महादेवी वर्मा' का कहना है कि ''भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह अतीत का वैभव कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। सरकृति विकास के विविध रूपो की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्वों को समझने के लिए हमें अत्याधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।''[5]

दरअसल भारतीय संस्कृति आरंभ से ही व्यापक व प्रगतिशील रही हैं। वेदों, उपनिषदों, बौद्ध–जैन आदि धर्म ग्रन्थों में इसको स्वरूप और भी विकसित हुआ है। 'बुद्ध' व 'महावीर' जैसे महात्माओं ने अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए मैत्री भावना को अपनाने का समर्थन किया है।

नारी के आदर्श स्वरूप को सीता, सावित्री के रूप में दर्शाया गया है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या सभ्यता व संस्कृति एक है। केवल इनके शब्दों में अन्तर है? देखा जाए तो संस्कृति राष्ट्र की अस्मिता व आत्म संबंधी उन्नति है, जबकि सभ्यता भौतिक उत्थान से परिचित करवाती है।

संस्कृति का संबंध व्यक्ति के विचार, कार्यो, आचरण, व्यवहार से संबंध है, जबकि सभ्यता का जुड़ाव समाज से है।

एक राष्ट्र की भौतिक उत्थान को दूसरे राष्ट्र के भौतिक विकास से श्रेष्ठ सिद्ध किया जा सकता है। लेकिन एक देश की संस्कृति की तुलना अन्य देश की संस्कृति से नहीं की जा सकती है। संस्कृति एवं सभ्यता के इसी अन्तर को स्पष्ट करते हुए 'डॉ० बैजनाथ पूरी' ने लिखा है कि ''संस्कृति, आभ्यन्तर है, सभ्यता बाह्य है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है। परन्तु सभ्यता का अनुकरण करना सरल है। संस्कृति का संबंध निश्चय ही धार्मिक विश्वास से है सभ्यता सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से बँधी है।''[6]

इसी प्रकार सभ्यता संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। सभ्यता के अर्न्तगत मनुष्य के भौतिक सुख आते है, जो उसे समृद्ध व विकसित करते है। इसी प्रगति को सभ्यता का नाम दिया जाता है।

गोविंदचन्द पांडे के अनुसार ''संस्कृति सामान्य रूप से मानव विवेक की चिरस्थायी परंपरा मानी जा सकती है, जो उसके जीवन के विविध आचार–विचार के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। आचार–विचार में समन्वय भारतीय संस्कृति का प्राणतत्व है जिसमें पारस्परिक, सव्यवहार और सद्व्यवहार है, इनमें सहनशक्ति, सहयोग जैसे नैतिक मूल्यों का अविर्भाव होता है।

सभ्यता, समाज में विरासत के रूप में मिल सकती है, लेकिन संस्कृति में धर्म उपदेशों को ग्रहण करने के लिए अपने मन के भाव को बदलना पड़ता है, जो आसानी से सम्भव नहीं है।

इस प्रकार से देखा जाए तो सभ्यता व संस्कृति को एक समझना उचित नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक अवश्य है। जिस प्रकार मानव व समाज का संबंध है, उसी प्रकार से सभ्यता व संस्कृति का भी संबंध जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। सभ्यता के बिना संस्कृति व संस्कृति के बिना सभ्यता की कल्पना नहीं की जा सकती है, दोनों का 'आत्मा' व 'परमात्मा' की तरह नाता है। क्योंकि सभ्यता के विकसित साधनों से ही हम संस्कृति का उत्थान कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि हम भारतीय संस्कृति व सभ्यता के वर्तमान संदर्भ में बात करें तो हमें भारतीय संस्कृति को युग की बढ़ती जरूरतों के अनुसार विकसित और परिवर्तनशील बनाना चाहिए। यदि हम प्राचीन धर्म, ग्रन्थों व आध्यामिक मान्यताओं की बात करें तो आज भी संस्कृति उसी रूप में है शुरुआती दौर से ही प्रकृति तत्वों की पूजा, सूर्य, तुलसी या पीपल की पूजा की बात हो, तो ये सभी धार्मिक चीजें उसी तरह ही देश में व्याप्त है। बैसाखी, मकर संक्रांति, पोगल, ओनम ये सभी धार्मिक पूजा–पाठ हमारे राष्ट्र की संस्कृति की पहचान है। जो हमारी संस्कृति की परंपरा को और भी समृद्ध करती है।

भारतीय संस्कृति के मूल मन्त्र वेद, धर्म दर्शन है। जिनका रंग–रूप, शैली में परिवर्तन आ सकता है। लेकिन धर्म की अनिवार्यता नहीं।

परंतु समय परिवर्तन के साथ भारतीय संस्कृति का स्वरूप में बदलाव करने का प्रयास किया जा रहा है। पाश्चात्य शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण समाज दिशाहीन होता जा रहा है। अतीत के धर्म ग्रंथों के प्रति युवा

पीढ़ी का कोई मान–सम्मान नहीं है। संस्कृति के रूप को मॉडन तरीके से अपनाने का प्रयास किया जा रहा है। व्रत, त्योहारों व उनको मनाने के तरीके में बदलाव आ रहा है। धार्मिक धर्म ग्रंथों की मान्यताएँ केवल दिखावा बनकर रह गयी है।

''भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है। पाश्चात्य संस्कृति से भारतीय संस्कृति की चमक पर ध्यान देते है।''[8]

इस प्रकार हम निष्कर्ष के आधार पर कह सकते है कि सभ्यता व संस्कृति देश का प्राचीनतम व समृद्ध रूप है सभ्यता व संस्कृति के बिना किसी भी राष्ट्र के विकसित स्वरूप को दर्शाना सम्भव नहीं है। सभ्यता व संस्कृति दोनों के शब्दों में अन्तर भले ही हो लेकिन दोनों एक–दूसरे के पूरक है।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. भारतीय संस्कृति, डॉ० किरण टण्डन, प्रकाशक–ईस्टर्न बुक लिंकर्स, संस्करण 2012, भूमिका में।
2. वही, पृष्ठ – 6
3. वही, पृष्ठ – 7
4. वही, पृष्ठ – 9
5. भाषा, संस्कृति और समाज : भाषा और संस्कृति : कुछ बिंदु, कुछ विचार– डॉ० शंकर दयाल सिंह, संपादक डॉ० सोहन शर्मा, प्रकाशक अभिकथन पब्लिकेशन, पृष्ठ 27
6. भारतीय संस्कृति, डॉ० किरन टण्डन, प्रकाशक – ईस्टर्न बुक लिंकर्स, संस्करण 2012, पृष्ठ 12
7. गोविंद चंद पांडे, एन एप्रोच टू इंडियन कल्चर एण्ड सिक्विला इजेशन, 1985, पृ० 29
8. यूनियन बैढ ऑफ इंडिया की तिमाही हिन्दी पत्रिका : यूनियन सृजन, अप्रैल–जून 2019, पृ० 54

ई मेल :– Rashmirashmi9050@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 220-226

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

केरल की संस्कृति और लोक परम्परा में तय्यम

डॉ. रेखा कुर्रे

असिस्टेंट प्रोफेसर, महात्मा गाँधी गोवर्मेंट आर्ट्स कॉलेज, माही, पुडुचेररी– 673311

भारत देश विविधता में एकता को प्रदर्शित करने वाला देश है। भारत का केरल राज्य अपनी सांस्कृतिक विविधता एवं प्राकृतिक सुंदरता के मामले में अत्यधिक समृद्ध है। यहां के लोग विरासत में मिली परंपरागत लोक तथा शास्त्रीय शैलियों को भविष्य के लिए संजोकर रखने में विश्वास रखते हैं। यहाँ प्रत्येक क्षेत्र की अपनी संस्कृति और लोक परम्पराएं होती है। इन्ही लोक परंपराओं में से एक लोकप्रिय नृत्य पूजा और अनुष्ठान विधि केरल और कर्नाटक राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में अनुष्ठान के नाम से किया जाता है जिसे तय्यम कहा जाता है। तय्यम को तेय्यम, तय्यम, थेयम, थेय्यट्टम आदि नामों से भी पुकारा जाता है। तय्यम में हजारों साल पुरानी परंपराएं, रीति–रिवाज, पूजा और अनुष्ठान के नियम शामिल रहते हैं। तय्यम के कलाकार केरल में नंबूथिरी ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई प्राचीन जाति संरचना में निम्न जाति वर्ग से संबंधित होती हैं और ये तय्यम इन क्षेत्रों में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन राज्यों के विभिन्न जिलों के लोग तय्यम को एक ईश्वर के रूप में मानते हैं और तय्यम से आशीर्वाद लेते हैं।

तय्यम का इतिहास :–

तय्यम के इतिहास को लेकर अनेक प्राचीन कथाएं प्रचलित हैं जिनमें से एक प्राचीन मान्यतानुसार केरल में इसकी उत्पत्ति की गणना परशुराम ने ही कलियाट्टम, तेय्याट्टम, पूरवेला और दैवाट्टम जैसे कलारूपों को उत्तर मालाबार में स्थापित किया था। उन्होंने ही मलयर, वण्णान, वेलर, पाणन जैसे आदिवासी समुदायों में तेय्यम के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी दी थी। इस अनुष्ठान में चढावे के रूप में शराब (मदिरा) और मांस आदि का उपयोग किया जाता है।

कुछ विद्वान तेय्यम की उत्पत्ति का श्रेय मनक्काडन गुरुक्कल को मानते हैं (गुरुक्कल का अर्थ शिक्षक से होता है)। वे ''वण्णान जाति'' के प्रमुख कलाकार होते थे। कहा जाता है कि चिरक्कल प्रदेश के राजा ने एक बार उनके जादुई शक्तियों की परीक्षा लेने के लिए अपने राज–सभा में निमंत्रण दिया था। गुरुक्कल, करिवेल्लूर प्रदेश के मनक्काड इलाके में निवास करते थे। राजा ने उनकी यात्रा के मध्य में अनेक रुकावटों का प्रबंध किया गया था ताकि उनकी परीक्षा ली जा सके। लेकिन गुरुक्कल ने अपनी शक्तियों से सभी परीक्षाएँ पार कर ली और राजा के समक्ष आ पहुँचे। गुरुक्कल की शक्तियों से प्रभावित होकर राजा ने उनको, कुछ देवताओं के पोशाक बनाने का उत्तरदायित्व सौंप दिया, जिनके प्रयोग से अनुष्ठानीय नृत्यों का आयोजन करना था। गुरुकुल ने सूर्योदय से पहले पैतीस (35) अलग–अलग पोशाक बना डाले। उनके प्रभुत्व से प्रभावित होकर राजा ने गुरुकुल

को 'मनक्काड्न' की उपाधि प्रदान की। तय्यम के वर्तमान रूप के पीछे की यही कहानी प्रसिद्ध है। इसीलिए एतिहासिक दृष्टि से तय्यम को हजारों साल पुरानी परंपरा माना जाता है और इसमें अनेकों रीति–रिवाज और अनुष्ठान की विधियाँ भी शामिल रहती हैं। इन राज्यों के लोग खुद को भगवान से जुड़ने का एक माध्यम तय्यम को मानते हैं। और इस प्रकार यहाँ के लोग तय्यम को देखने और इस लोकप्रिय अनुष्ठान में शामिल होने दूर–दूर से आते हैं और तय्यम रूपी भगवान से आशीर्वाद मांगते हैं। पाश्चात्य विद्वान ब्रिजेट और रेमंड एल्विन कहते हैं– 'इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि इस आधुनिक लोक धर्म का एक बहुत बड़ा हिस्सा अत्यंत प्राचीन है और इसमें ऐसे लक्षण शामिल हैं जो नवपाषाण, ताम्रपाषाण कालीन निपटान और अभिव्यक्ति के शुरुआती काल के दौरान उत्पन्न हुए थे।'

केरल में तय्यम :–

केरल राज्य में तय्यम के कई रूप देखने को मिलते हैं। केरल के उत्तर मालाबार इलाके की एक प्रमुख पूजा और अनुष्ठान तेय्यम (तेय्याट्टम अथवा तिरा) को माना जाता है। इनकी वेश भूषा, देवता का रंग और इनके आभूषण बिल्कुल अलग होते हैं। जैसे लाल रंग में पोशाक–लाल रंग का देवता, मथामंगलम में पुलियूर काली तय्यम, पय्यानूरी के एक कावु से बाली तय्यम। केरल की लोक परंपरा में तय्यम मुख्य रूप से किया जाता है। यह अनुष्ठान, मुख्य रूप में कोलत्तु–नाड इलाके में (वर्तमान में यह केरल राज्य के कासरगोड, कन्नूर (कण्णूर), वयनाड जिले की मानन्ततवाटी तालूका, कोषघ्क्किोड जिला के वडकरा और कोइलाण्डि तालूका) और कर्नाटक के कोडगु और तुलुनाडु इलाके में एक जीते–जागते पंथ के रूप में दो हजार साल पुरानी रीतियों और विधिओं से क्रियान्वित किया जाता है। तय्यम के निर्वाहक समाज की निचली जातियों के सदस्य होते हैं और इन्ही लोगों का इस कलारूप में विशेष योगदान होता है। इन इलाकों के लोग, तेय्यम को भगवान के प्रतिरूप मानते हैं और इनसे आशीर्वाद लेते हैं। तुलुनाडु इलाके में इसको भूत–कोल भी कहा जाता है।

तेय्यम कोलत्तुनाडु (कण्णूर राज्य) का एक लोकप्रिय और प्रसिद्ध अनुष्ठान कला रूप है। तेय्यम का नृत्य गांव के मंदिर के सामने, कुंज में और घरों में पितर पूजा के अंग के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। तेय्यम अनुष्ठान का समय मलयालम महीना तुलाम (अक्टूबर या नवंबर माह) के दसवें दिन से आरंभ होती है और जून के अंत तक समाप्त हो जाती है। इनमें पुरुष देवताओं का रूप धरते हैं और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नृत्य करते हैं और यह मान्यता है की बदले में देवता समाज को समृद्धि और शांति प्रदान करते हैं। तेय्यम के कलाकार वण्णान, माविलन, वेलन, मलयन, अंजूट्टान, मुन्नूट्टान, पुलयर, कोप्पालर जैसे अन्य समुदायों के होते हैं। देवकुथु तय्यम को छोड़कर मुख्य रूप से सभी पुरुषों द्वारा किया जाता है। देवकुथु महिलाओं द्वारा किया जाने वाला एकमात्र तेय्यम अनुष्ठान है। यह केवल थेक्कुमबाद कुलोम मंदिर पर किया जाता है।

तय्यम संप्रदाय :–

मुख्य धारा ने तय्यम संप्रदाय को प्राचीन, आदिवासी तथा धार्मिक पूजाओं से जोड़कर इसे अधिक फैला दिया है और इसका परिणाम यह हुआ की इसका स्वरूप लाखों लोगों की आस्था का स्वरूप इस लोक–धर्म के साथ जुड़ी हुई दिखाई देने लगी। जैसे देवी माँ भगवती का तय्यम में एक महत्वपूर्ण स्थान था और अभी भी है। भगवती तेय्यम की पंथ, जिसे देवी की मातृ रूप में पूजा की जाती है, देवी के मूल रूप से व्युत्पन्न है। इसके अलावा आत्माओं की पूजा, पूर्वज–पूजा, पशु पूजा, वृक्ष–पूजा, नाग–पूजा, रोग की देवी की पूजा, ग्राम–देवता

की पूजा, वीर–पूजा आदि की पूजा जैसी प्रथाएँ मूलधारा में मौजूद है। इन देवताओं के साथ, अनेक लोक–देवताएँ भी शामिल है। इन देवी–देवताओं में से अधिकांश को भगवती (माँ–देवी जो तीन प्रमुख देवी–देवताओं का दिव्य और संयुक्त रूप है, अर्थात् शिवानी (पार्वती), वैष्णवी (लक्ष्मी) और ब्राह्मणी (सरस्वती) के रूप में जाना जाता है।

अब तय्यम पर हिंदू धर्म की मुख्यधारा के विभिन्न शाखाओं जैसे शैववाद, शक्तिवाद और वैष्णववाद का गहरा प्रभाव भी दिखाई देता है। केरल में वैष्णववाद आंदोलन के कथित रूप से देर से पुनर्जीवित होने के कारण, तय्यम पर इसका गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। इस श्रेणी के अंतर्गत कुछ ही देवता उपलब्ध हैं। वैष्णववाद के दो प्रमुख तय्यम देवता विष्णुमूर्ति और दैवथर हैं। 13वीं शताब्दी में वैष्णववाद तुलुवा क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय था जब यह होयसल वंश के विष्णुवर्धन के शासन में आया था। वे वैष्णववाद के महान समर्थक थे। संभवतः उन्हें शुरू में विष्णुमूर्ति के रूप में विभूषित किया गया था और तुलुवाओं के भूत पंथ में शामिल किया गया था और फिर आगे तेय्यम में एक प्रमुख लोक देवता के रूप में शामिल किया गया था। कुछ लोगों के लिए, विष्णुमूर्ति की कथा मैंगलोर से कोलाथुनाडु में भगवान के प्रवास का प्रतीक है।

मनुष्य द्वारा अपने प्रायश्चित और कामनापूर्ति के लिए इस प्रकार के अनुष्ठानों का उपयोग बहुत ही प्राचीन समय से एक परंपरा के रूप में लगातार होता रहा है। कई धर्म–संप्रदायों में जैसे सात्विक हिंदू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म में बलि देना और रक्तदान करना वर्जित होता है इसके बावजूद ये बलि और रक्तदान करते हुए देखा जाता है। ऐसे धर्म–संप्रदायों में पशुओं की बलि या रक्तदान के लिए वडक्कन वाथिल (बलिदान के अवसर के लिए बनाया गया चबूतरा) के नाम से मंदिर परिसर के बाहर अलग–अलग स्थानों का चयन किया जाता है। इन चबूतरों में मुर्गे की बलि देने के पश्चात प्रसन्न तय्यम देवता मंदिरों में प्रवेश नहीं करते।

अनुष्ठान की विधि :–

अनुष्ठान के प्रथम विधि को तोट्टम कहते हैं, जिसके क्रियान्वयन में सरल से पोशाक के साथ सरल से अलंकार (आभूषण) में, मन्दिर के गर्भ–ग्रह के सामने खड़े होकर देवता के किस्सों का गान करते हैं या अल्प श्रृंगार के साथ तेय्यम से जुड़े हुए प्राचीन ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर जोशीले नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। 'तोट्टम पाट' नामक इस प्रदर्शनी के बाद आज्ञानुसार मुख्य क्रिया की तैयारी करने के लिए विदाई लेते हैं। इसकी तैयारी मुख के श्रृंगार से प्रारंभ होती है, इसमें कई रंगों का प्रयोग किया जाता है जैसे लाल, काला, सफेद, गेरुआ आदि। इस श्रृंगार के हर एक रेखा का अलग अर्थ होता है। मुख के श्रृंगार के पश्चात शरीर के श्रृंगार और विस्तृत पोशाक इनके पहनावे में शामिल होते हैं। पोशाक का सबसे पवित्र तथ्य शिरोभूषण होता है, जो की देवता की मूर्ति के सामने पहना जाता है, पारम्परिक वाद्यों के साथ कलाकार अपना प्रतिबिंब आइने में देखता है। यह इस कलारूप का अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं प्रतीकात्मक मुहूर्त है, क्योंकि कलाकार आइने में अपना प्रतिबिंब ही नहीं, बल्कि उस दैवी शक्ति को भी महसूस करता है, जिसका वह प्रतीक है। अनुष्ठान के आगे बढने पर पारंपरिक पोशाक और अल्कार से सुसज्जित कलाकार मन्दिर के चारों ओर दौड़ता और नृत्य करता है साथ ही 'चेण्डा' (वाद्य उपकरण) के ताल के संग भक्तों को आशीर्वाद भी देता है। आशीर्वाद देने के अवसर पर कलाकार, दैवी शैली में प्रवचन देता है, जो उसके आम ढंग के बातचीत से बिल्कुल भिन्न होता है। इस प्रक्रिया के दौरान, एक दिव्य वातावरण पैदा हो जाता है।

प्रत्येक तेय्यम की पोशाक एवं मुख–अलंकार उसके ऐतिहास्य एवं कहानी पर निर्भर होती है, जो उस प्रत्येक तेय्यम के भाव–शैली के बारे में हमें परिचय देती है। विभिन्न तरीके के रंग पदार्थों के इस्तेमाल से, कलाकार खुद ही अपनी पोशाक की तैयारी करते है। ज्यादा तर पोशाक, नारियल पत्तों के आवरणों को काटने के बाद, काले, लाल और सफेद रंग लगाकर बनाए जाते हैं, जिस पर अनेक चित्र बनाए जाते हैं। ताजे तालपत्रों से आँचल बनाए जाते हैं, नारियल के खोखले खोलों से स्तन बनाए जाते हैं और कमर पर एक लाल कपड़ा ओढ लिया जाता है। तेय्यम घर के या क्षेत्रीय मन्दिर के आँगन में, कुल देवता के आशीर्वादों के साथ सामान्यतः रात्रि काल में अनुष्ठित किया जाता है। मुख–कवच, अलंकार, स्तन कवच, कंकण, माला आदि पूरी श्रद्धा के साथ निर्मित किया जाता है।

तय्यम रूपों में सबसे लोकप्रिय है– मुत्तप्पन, ती चामुण्डी, कण्डाकर्णन, गुलिकन, विष्णुमूर्ति, मुच्छिलोट भगवति आदि। इनमें से ती चामुण्डी, अत्यत जोखिमी माना जाता है क्योंकि इस रूप में, तेय्यम आग–अँगारों में नृत्य करके दैवी माहौल बना देता है।

तय्यम अनुष्ठान का प्रदर्शन करने के लिए कोई मंच, पर्दा या ऐसी कोई अन्य व्यवस्था नहीं होती है। मंदिर में भक्त खड़े रहते हैं या कुछ भक्त मंदिर के सामने एक बड़े पेड़ पर बैठे रहते हैं। एक तरह से यह एक खुला रंगमंच होता है। मंदिर में अपने–अपने महत्व और पदानुक्रम के अनुसार किसी विशेष देवता का प्रदर्शन अंतराल के साथ 12 से 24 घंटे तक जारी रहता है। मंदिर के केंद्रीय देवता को प्रसन्न करने वाले मुख्य नर्तक को अनुष्ठानों में निवास करना होता है। इसके अलावा, सूरज डूबने के बाद, यह विशेष नर्तक उस दिन के शेष समय में कुछ भी नहीं खाएगा यह नियम होता है। उनका मेकअप विशेषज्ञों और अन्य नर्तकियों द्वारा किया जाता है। प्रदर्शन के पहले भाग को आमतौर पर वेल्लट्टम या थोट्टम के नाम से जाना जाता है। यह उचित मेकअप या किसी सजावटी पोशाक के बिना किया जाता है। इस अवसर पर केवल एक छोटी, लाल टोपी पहनी जाती है।

नर्तक अनुष्ठान गीत का पाठ ढोल, वादकों और वाद्य यंत्रों के साथ विशेष करते हैं, जो कि धर्मस्थल के देवता या लोक देवता को प्रसन्न करने के लिए मिथकों और लोकापवाद का वर्णन करता है। इसके साथ लोक वाद्य यंत्रों का वादन होता है। आह्वान के इस प्राथमिक कर्मकांड को पूरा करने के बाद, नर्तक अपने मेकअप रूम में लौट आते हैं। थोड़े समय के बाद फिर से वे उचित मेकअप और वेशभूषा के साथ दिखाई देते हैं। इनके मुख पर फेस–पेंटिंग के विभिन्न पैटर्न दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ पैटर्न को वैराडेलम, कट्टारम, कोझीपुस्पाम, कोट्टुमपुरिकम और प्राक्केजुथु कहा जाता है। फेस पेंटिंग के लिए ज्यादातर प्राइमरी और सेकेंडरी कलर कंट्रास्ट के साथ लगाए जाते हैं। यह नृत्यों में कुछ निश्चित शैली को प्रभावित करने में मदद करता है। फिर नर्तक मंदिर के सामने आता है और धीरे–धीरे मंदिर के विशेष देवता में 'कायापलट' करता है। वह कुछ अनुष्ठानों के पालन

के बाद, सिर पर पोशाक रखता है और नृत्य करना शुरू कर देता है। पृष्ठभूमि में, जैसे लोक संगीत वाद्ययंत्र चेन्दा, तुड़ी, कूजहल और वीकणी एक निश्चित लय में खेले जाते हैं। सभी नर्तक हथियारों की निरंतरता के रूप में अपने हाथों में ढाल और कदथला (तलवार) लेते हैं। फिर नर्तक मंदिर की परिक्रमा करता है, मंदिर प्रांगण (आंगन) में दौड़ता है और वहीं नृत्य करता रहता है। तय्यम नृत्य के विभिन्न चरण होते हैं जिन्हें कलासम कहा जाता है। प्रत्येक कलासम को फुटवर्क के पहले से आठवें चरण तक व्यवस्थित रूप से दोहराया जाता है। एक प्रदर्शन संगीत वाद्ययंत्र बजाने, गायन, नृत्य, और अजीबोगरीब श्रृंगार (आमतौर पर मुख्य रूप से नारंगी) और वेशभूषा का एक संयोजन है। काठिवनूर वीरन तय्यम केरल के प्रसिद्ध तय्यम में से एक है।

तय्यम के प्रमुख प्रकार :–

तय्यम की लगभग 456 प्रकार हैं, जिनमें से 112 प्रसिद्ध हैं। तय्यम का रूप वही पुरुष या स्त्री ले सकते हैं जिन्होंने वीर कर्म करके या पुण्य जीवन व्यतीत करके एक दैवीय स्थिति प्राप्त की है। अधिकांश तय्यम को शिव भगवान या शक्ति (शिव की पत्नी पार्वती) का अवतार माना जाता है। हिंदू धर्म के अनुसार इन प्रमुख देवताओं के साथ उनके (तय्यम के) गहरे और मजबूत संबंध हैं। जिसके कारण तय्यमरूपी ये पुरुष या स्त्री जनता को भगवान के समान आशीर्वाद प्रदान करते हैं। कुछ प्रसिद्ध तय्यम हैं –जैसे वेट्टाकोरुमकन, विष्णुमूर्ति तय्यम, मुचिलोत भगवती तय्यम और श्री मुथप्पन तय्यम शामिल हैं।

1. **विष्णुमूर्ति तय्यम :–** ये तय्यम भगवान विष्णु के अवतार माने जाते हैं। ये तय्यम पलन्थाई कन्नन की कहानी बताता है, जो भगवान विष्णु के बहुत बड़े भक्त थे। इसके अंतर्गत केवल दो वैष्णव तय्यम हैं – दैवतार और विष्णुमूर्ति। यह सबसे लोकप्रिय वैष्णव तय्यम है। विष्णुमूर्ति तय्यम के प्रदर्शन में जटिल संस्कार और अनुष्ठान शामिल होता है।

2. **श्री मुथप्पन तय्यम :–** मुथप्पन तय्यम अन्य तेय्यमों से अलग है क्योंकि यह पूरे वर्ष भर किया जाता है। जबकि अन्य तय्यम मौसमी रूप से (अक्टूबर से मई तक चलने वाला मौसम) किया जाता है। उत्तरी मालाबार में सैकड़ों जगहों पर मुथप्पन मंदिर मौजूद हैं। उनमें से प्रत्येक अपनी खुद की एक कहानी बताता है। मुथप्पन मंदिरों में, कुन्नथुर पाडी और पारसिनी कदवु ने सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। मुथप्पन मंदिरों में अनुष्ठान मालाबार के थिया समुदाय द्वारा किया जाता है।

3. **पदिकुट्टी अम्मा :–** पदिकुट्टियम्मा को भगवान मुथप्पन की माता माना जाता है। मान्यता यह है कि उसने वर्षों तक मुथप्पन की देखभाल की। मुथप्पन के भगवान बनने पर उन्हें देवी का दर्जा दिया गया था। तय्यम पदिकुट्टी अम्मा का प्रदर्शन कोडल्लूर के प्रसिद्ध पालप्रथ मंदिर में किया गया है। श्री पदिककुट्टी महादेवी मंदिर एरुवेसी में पदिकुट्टी अम्मा का एक प्रसिद्ध मंदिर है।

4. **गुलिकन :–** गुलिकन मृत्यु के हिंदू देवता का एक स्थानीय रूप है, जिसे यमराज कहा जाता है। हिंदू

शास्त्रों में गुलिकन को भगवान शिव के सबसे महत्वपूर्ण योद्धा के रूप में श्रेय दिया जाता है। गुलिकन के जटिल और आकर्षक नृत्य चरण अन्य तय्यमों से अलग हैं। नीलेश्वर में बेंकनाकावु (वेंगनकावु) गुलिकन को समर्पित सबसे प्रसिद्ध मंदिर है।

5. **पदमदक्की भगवती** :– पदमदक्की भगवती तय्यम के पीछे की कथा यह है कि एक बार कर्नाटक के एक आक्रमणकारी बल से नीलेश्वर राजा भयभीत हो गए। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने कोरोथ नग भगवती, कुट्टीचथन ख्सस्थप्पन, और भैरवन से प्रार्थना की। देवताओं ने भक्तों की अपील को स्वीकार किया और पदमदक्की भगवती को भेजा। ऐसा माना जाता है कि पदमदक्की भगवती को देखकर हमलावर सेना बेहोश हो गई और देवी ने इस तरह एक युद्ध को टाल दिया। कोरोथ मंदिर वह स्थान है जहां घटना की याद में पदमदक्की भगवती तय्यम प्रतिवर्ष किया जाता है।

6 **कुट्टीचथानी, कुट्टीचथन** :– कुट्टीचथन पूरे केरल में व्यापक रूप से प्रशंसित तय्यम है। यह ब्राह्मण जाति का तय्यम है। माना जाता है कि कुट्टीचथन तय्यम की उत्पत्ति विष्णु माया में भगवान शिव के लिए हुई थी। हालांकि बहुत से चटन ज्ञात हैं, उनमें से तीन प्रमुख हैं और बाकी से अलग हैं। वे करीम कुट्टीचथन, पू कुट्टीचथन और थे कुट्टीचथन हैं।

7. **पुथिया भगवती** :– पुथिया भगवती कन्नूर में स्थित थालिकावु सहित कन्नूर में कई मंदिरों के मुख्य देवता हैं। वह होमकुंड (यज्ञ अग्नि) से प्रकट हुई जब ऋषियों (संतों) ने भगवान शिव के चेचक को ठीक करने के लिए एक होम शुरू किया। प्रदर्शन में पुथिया भगवती के साथ पदकुलंगरा वीरन और वीरकाली हैं।

8. **पेरूम कलियट्टम** :– कुछ कावों में तय्यम उत्सव 12 या अधिक वर्षों के अंतराल पर आयोजित किया जाता है। इस प्रकार के त्योहारों को पेरुम कलियट्टम के नाम से जाना जाता है। 2008 में पेरुमकलियाट्टम रमनथली मुचिलोत कावु, कलाइकोड मुचिलोत कावु और मंडूर पदिनजट्टा थिरुवरकट भगवती मंदिर जैसे मंदिरों में मनाया जाता था।

9. **अग्नि कंदकर्णन आगी** :– कंडाकरण तय्यम में कलाकार की कमर के चारों ओर मशालें जलाई जाती हैं। यह तय्यम केरल के वलियापरमापा कासरगोड के कन्नू वीदु कपाडपुरम के स्वामीमदम में किया जाता है। यह तय्यम मंदिर में सुबह–सुबह किया जाता है। यह कोझीकोड जिले के पट्टारे श्री परदेवता क्षेत्र में भी किया जाता है।

10. **चामुंडी** :– चामुंडी तय्यम मुख्यतः तीन प्रकार का मदयिल चामुंडी, रक्ताचामुंडी और कुंडोरा चामुंडी होता हैद्य ये तीनों चामुंडी देवी काली की छवि के रूप में मानी जाती हैं, जिन्होंने दारिकासुर का वध किया था। इस तय्यम का निर्माण वेलानमार ने किया है।

इन सब के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के तय्यमों में पुलिकारिम कली, पुलिकंदन, मारापुलिक, कंडापुलिक, पुलिमारुथन, मनककोट अम्मा, काठीवनूर वीरान, पदरकुलंगरा भगवती, करिंथिरी नायरी, पेटलान्, सरकाना, विशाकंदन, कंदनार केलानो, वायनाट कुलवणि, कुन्हीरमन गुरुक्कली, मुन्नायरीश्वरन, मनावलन, मानववत्ति, मंजलम्मा, थूवक्करी मुथप्पन, करीमनल चामुंडी, पेरुवंबा चामुंडी, एरोथ चामुंडी आदि सम्मिलित हैं।

अतः निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि तय्यम केरल की लोक संस्कृति का एक प्रमुख हिस्सा है। इसकी अनुष्ठान विधि अद्भुत होती है। केरल से बाहर के लोगों के लिए यह अद्भुत नृत्य और अनुष्ठान क्रिया

होती है। तय्यम मुख्य रूप से विशिष्ट समाज के लोगों द्वारा गाँव या शहर के लोगों द्वारा अपने मंदिरों, घरों या सामाजिक स्थलों पर आयोजित की जाती है। यह कई दिनों तक चलता रहता है। इसका सही समय अक्टूबर और नवम्बर के मध्य से प्रारंभ होकर जून माह के अंत तक किया जाता है। इसमें अलग–अलग तरह के सामाजिक देवताओं के प्रतिरूप बनकर इस अनुष्ठान विधि को किया जाता हैं। प्रत्येक तय्यम का नाम और उसकी अनुष्ठान विधि अलग–अलग होती है। तय्यम रूपों में सबसे लोकप्रिय मुत्तप्पन, ती चामुण्डी, कण्डाकर्णन, गुलिकन, विष्णुमूर्ति, मुच्छिलोट भगवति आदि हैं।

वर्तमान समय में नए युवा लोगों के लिए यह आस्था का विषय कम और लोक परंपरा का हिस्सा अधिक जान पड़ता है। इस लोक परंपरा और संस्कृति को महफूज रखने के लिए केरल राज्य सरकार और पर्यटन विभाग द्वारा सन 2019 में कन्नूर जिले के कल्यास्सेरी के चनथपुरा में तय्यम संग्रहालय बनाने की योजना रही है। हाल ही में केरल पर्यटन विभाग ने सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ावा देने के लिये 'तय्यम' प्रदर्शन नामक एक वार्षिक मंदिर उत्सव की लाइव स्ट्रीमिंग की शुरूवात भी की है। अंत में तय्यम एक प्रसिद्ध धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सव है जिसे केरल के लोग परंपरागत अनुष्ठान विधि द्वारा पूर्ण करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. http://www.keralaculture.org/hindi/theyyam/
2. https://www.hmoob.in/wiki/Theyyam
3. केरल और कन्नूर निवासियों से बातचीत।
4. तय्यम मंदिरों के दर्शन एवं ऐतिहासिक जानकारी का अध्ययन।
5. https://www.divyahimachal.com/2019/07
6. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E
7. मलयालम से हिन्दी शब्दकोश।
8. https://www.hindi2dictionary.com/%E0%95&meaning&hindi.html
9. फील्ड वर्क – विभिन्न तय्यम अनुष्ठानों का दर्शन और मूल निवासियों से बातचीत।

ईमेल :– rkurre1705@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 227-231

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

राहुल सांकृत्यायन के यात्रा–साहित्य में अभिव्यक्त तिब्बतीय समाज एवं संस्कृति

रोहित प्रताप सिंह

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, 202002

यात्रा वृत्तान्त शब्द का अर्थ यात्रा और उसके विवरण से है। यह गद्य साहित्य की विधा है जिसमें यात्री अपनी यात्रा के अनुभवों के माध्यम से उस स्थान का सजीव एवं सचित्र वर्णन करता है। यात्रा वृत्तान्त साहित्यिक यात्री के यात्रानुभवों की संवेदनात्मक एवं कलात्मक प्रस्तुति है, जिसमें विश्व संस्कृति की समग्रता, मानव जीवन की संपूर्णता एवं प्राकृतिक जीवन की विराटता है। नई जगहों को देखकर और अपने सामाजिक विचारों को विकसित करने की प्रकृति मनुष्य में निहित होती है। देश–विदेश के विशद वर्णन के साथ वहाँ के जीवन, रीति–रिवाज, उत्सवों, त्योहारों का सजीव चित्रण यात्रा वृत्तान्तों में किया जाता है।

हिंदी साहित्य में यात्रा वृत्तान्त को एक नई दिशा देने का श्रेय बहुभाषाविद् महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को जाता है। बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद से मिला–जुला चिंतन उनके पास था जिसके द्वारा उन्होंने नव–निर्माण भारत का ख्वाब देखा। यात्रा वृत्तान्त यात्री के निजी अनुभवों का सार होता है, जिसमें संवेदना की प्रस्तुति कलात्मक एवं साहित्यिक पद्धति से की जाती है। यात्रा वृत्तान्त में मानव–जीवन, सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति को जानने–समझने का नया नजरिया दिया जाता है। राहुल जी का साहित्य अपनी विशालता में प्रकारान्तर से मानव सभ्यता और संस्कृति का इतिहास है।

राहुल जी संस्कृति के संदर्भ में लिखते हैं "संस्कृति वस्तुतः देश–जाति से सम्बन्धित है, धर्म के साथ उसका नाता जोड़ना गौड़ रीति से ही हो सकता है। जाति के साथ संस्कृति व संस्कार का सम्बन्ध वैसे ही है, जैसे नए घड़े में घी या तेल भर के कुछ दिन रख कर उसे निकाल देने पर घड़े के भीतर प्रविष्ट स्नेह का अंश बचा रहता है। एक पीढ़ी आती है वह अपने आचार–विचार रुचि–अरुचि, कला–संगीत, भोजन–छाजन या किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत सी पीढ़ियाँ आती–जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अपने से अलग पीढ़ी पर छोड़ती जाती हैं, यही प्रभाव संस्कृति है।"

मानवीय हितों की संवर्धना में उन्होंने बौद्ध धर्म को पसन्द किया और बाद में साम्यवाद को। राहुल जी जन–समाज को शोषण मुक्त कर जन–संस्कृति का विन्यास करना तथा असमानता और हिंसा के परे शांति और सभ्यता का सौहार्द देना चाहते थे।

तिब्बतीय सामाजिक जीवन :-

तिब्बत पूर्व में चीन की सीमा से, पश्चिम में लद्दाख तक फैला हुआ देश है। यह चारों ओर पहाड़ों से घिरा और समुद्रतल से औसतन बारह हजार फुट से अधिक ऊँचा है। इसलिए यहाँ सर्दी अधिक पड़ती है। सर्दी का कुछ अनुमान तो इससे ही हो जायेगा कि मई और जून के गर्म महीनों में भी ल्हासा को घेरने वाले पर्वतों पर अक्सर बर्फ पड़ जाती है। राहुल जी की यात्रा साहित्य में सबसे अधिक उभरने वाला समाज है– तिब्बती समाज। उन्होंने सन् 1929 ई० से लेकर सन् 1938 ई० तक के दस वर्षों में चार बार तिब्बत की यात्रा की। तिब्बती बौद्ध ग्रंथों की खोज उनका लक्ष्य था, फिर भी उनके इन तिब्बत सम्बन्धी यात्रा परक कृतियों से तिब्बत की सामाजिक परिस्थिति का उल्लेख भी हुआ है।

यहाँ की सर्दी के विषय में राहुल जी ने लिखा है कि "सिंहल की भाँति एक सारोउ (तहमत, लुंगी) में तो यहाँ काम नहीं चल सकता, यहाँ तो बारहों मास मोटी ऊनी पोशाक चाहिए। जाड़े में तो इससे भी काम नहीं चलने का। उस समय तो पोस्तीन आवश्यक होती है। साधारण लोग भेड़ की खाल की पोस्तीन बाल नीचे और चमड़ा ऊपर करके पहिनते हैं। धनी लोग जंगली भेड़ियों, लोमड़ी, नेवले तथा और जन्तुओं की खाल पहिनते हैं, जिसकी कीमत भी बहुत अधिक होती है।" तिब्बती लोग मामूली कपड़ों में गुजर नहीं कर सकते।

वहीं तिब्बत के रा–लुङ मठ का वर्णन करते हुए राहुल जी ने बताया है कि यहाँ भिक्षु और भिक्षुणियाँ दोनों एक साथ रहते हैं। दोनों अधिकतर इसी मठ में पैदा हुए हैं। कौन किसका पुरुष और कौन किसकी स्त्री है? इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। भिक्षु सत्तर के करीब होंगे और भिक्षुणियाँ सौ से अधिक। इस प्रकार उन्होंने तिब्बती समाज के असुन्दर पक्ष का भी उल्लेख किया है यहाँ घर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बड़ा पुत्र होता है। पुत्र न होने पर पुत्री या उसका पति (घर जमाई) उत्तराधिकारी होता है।

इस सम्बन्ध में राहुल जी लिखते हैं कि "लड़का न होने पर पुत्री मालिक होती है। उसके भी न होने पर किसी दूसरे को उत्तराधिकारी बना सकते हैं, किन्तु गाँव के मालिक का सहमत होना जरूरी है। सरकार के पास या स–क्य जैसे राज्य के दफ्तर में हर गाँव के प्रत्येक खेत का नाम (नम्बर नहीं, क्योंकि यहाँ अभी तक नक्शा नहीं बना) तथा परिणाम (खेत में बोये जाने वाले बीज के हिसाब से) और मालिक के घर का नाम लिखा रहता है। मालिक घर समझा जाता है, व्यक्ति नहीं। पुत्रों में खेत का बँटवारा न होने से यहाँ दाखिल खारिज का झगड़ा नहीं।" यहाँ राहुल जी घर और सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के बारे में बताते हैं। तिब्बत में सभी भाइयों की एक पत्नी होने से घर और सम्पत्ति का बँटवारा नहीं होता। छोटा भाई यदि अलग शादी करे, तो उसे खाने के लिये कुछ मिल जाता है, पूरा बराबर का हिस्सा नहीं।

तिब्बत में हर गाँव में मुखिया (गोवा) होते हैं। इनके ऊपर इलाके का जोङ पोन (जिला अफसर) होता है। जोङ का अर्थ किला है और पोन का अर्थ अफसर। यायावर राहुल जी तिब्बत के हर घर के अलग–अलग नाम के बारे में बताते हैं कि तिब्बत के कस्बों और शहरों में घर का अलग–अलग नाम होता है, जो कि हमारे शहरों के घर के नम्बर तथा मोहल्ले की जगह काम आता है। ग्या–लिङ–छोक–पा ऐसा ही नाम है।

तिब्बत की कृषि–योग्य भूमि का बहुत बड़ा भाग विहारों (मठों) और सामन्तों की जागीरों में बँटा हुआ है। इस सामाजिक पक्ष को दर्शाते हुये राहुल जी ने लिखा है कि "भारी कर के भार से बचने के लिए लोग अपनी भूमि को किसी बौद्ध विहार या ताबी मठ को दे देते और परिवार के एक व्यक्ति को वहाँ का महन्त बनवा देते।

इसके कारण जहाँ बौद्ध विहारों की सम्पत्ति बहुत बढ़ गई, वहाँ विहारों से त्याग और आदर्शवाद की समाप्ति हो गई।" साथ ही यायावर ने तिब्बतीय ऊन और वहाँ की फसलों का भी उल्लेख किया है। तिब्बत की विशेष पैदावार ऊन है। ऊन, कस्तूरी, फर (समूरी खाल) यहाँ से विदेशों को जाती है। गेहूँ बिना छिलके का, जौ, मटर, बकला, जई तथा सरसों भी काम लायक हो जाते हैं। फसल साल भर में एक ही होती है। जो भिन्न–भिन्न ऊँचाई के अनुसार भिन्न–भिन्न समय में बोई जाती है।

तिब्बतीय समाज में मृत्यु संस्कार के तरीके के बारे में बताते हैं कि तिब्बती लोग मुर्दे को काट–काट कर पक्षियों को खिला देते हैं। महायान की बौधि–सात्विय त्याग–भावना से प्रेरित होकर वह लोग मुर्दे के मांस को बेकार सड़ने–गलने नहीं देते। इस कार्य को करने वाले को रा–को–वा कहते हैं। रा–को–वा मुर्दे के मांस के बड़े–बड़े टुकड़े काट–काट कर रखता जाता है फिर वह मांस से हड्डी निकालकर उसे पत्थर से चूर–चूर कर उसमें सत्तू और पानी मिलाकर वहाँ प्रतीक्षा कर रहे गिद्धों के झुण्ड में डाल देता है। हड्डी के बाद फिर उनको मांस दिया जाता है। इस प्रकार यायावर ने तिब्बत के मृत्यु संस्कार का उल्लेख अपनी तिब्बती यात्राओं में किया है।

तिब्बतीय सांस्कृतिक जीवन :-

तिब्बत में शिक्षा अध्ययन मठों और विहारों में होता है– "भिक्षुओं की शिक्षा के लिए हजारों छोटे–बड़े मठ या विद्यालय हैं। कहीं–कहीं गृहस्थ विद्यार्थी भी व्याकरण, साहित्य वैद्यक और ज्योतिष की शिक्षा पाते हैं, लेकिन ऐसा प्रबन्ध कुछ धनी और प्रतिष्ठित वंशों तक परिमित है। हाँ, कितनी ही बार पढ़ लिखकर भिक्षु भी गृहस्थ हो जाते हैं और इस प्रकार गृहस्थ श्रेणी उनकी शिक्षा से लाभ उठाती है। मठों के पढ़े हुए भिक्षु गृहस्थों के बालकों के शिक्षक का काम भी करते हैं।"

भोजन भारतीय संस्कृति की तरह तिब्बतीय संस्कृति का भी अभिन्न अंग है। तिब्बती भोजन के बारे में वे लिखते हैं कि "तिब्बत में शत–प्रतिशत लोग मांसाहारी हैं।..... बड़े घरों में सूखा मांस हमेशा तैयार रहता है।..... सूखा होने पर उसे पकाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उसके दो–एक बड़े टुकड़े एक ऊँचे पाँव की तस्तरी पर रखकर नमक और चाकू के साथ मेहमान के सामने रख दिए जाते हैं।" यहाँ तिब्बती लोगों के मांसाहार के प्रति लगाव को दर्शाया गया है। तिब्बती लोग मांस प्रिय तो हैं लेकिन मछली और चिड़ियाँ जैसे छोटे–छोटे जीवियों को खाना अभक्ष्य मानते हैं। उनका कहना है कि "एक प्राण की हिंसा से सौ आदमियों का भोजन हो, वह अच्छा है? या पाँच प्राणियों को मारकर एक का भी पेट ना भरे वह अच्छा है? लोग यहाँ मुर्गियाँ पालते हैं लेकिन खाते हैं उनके अण्डे।

तिब्बती लोगों के थुकपा सेवन के बारे में राहुल जी लिखते हैं कि "थुकपा एक तरह की पतली खिचड़ी है, जिसमें चावल, दाल जैसे दुर्लभ और महंगे अन्न को डालना यहाँ आवश्यक नहीं, उसकी जगह सत्तू, मूली या आलू, मांस और हड्डी, चरबी नमक, प्याज जैसी चीजें अधिक पानी में डालकर घंटों पकाई जाती हैं फिर कटोरों में लेकर उसे गरमा गरम पिया जाता है।" थुकपा मकई मँडुए या जौ के सत्तू को उबलते पानी में डालकर पकाने से भी बनाया जाता है। राहुल जी तिब्बती चाय के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "तिब्बती लोग दूध और चीनी डालकर चाय नहीं बनाते। चाय को सोड़ा और नमक के साथ पहले पानी में खूब खोलने दिया जाता है, फिर उसे काठ के लम्बे ऊखल में डालकर मक्खन डाल खूब मथा जाता है। इसके बाद मक्खन मिल जाने पर चाय

का रंग दूध वाली चाय सा हो जाता है फिर इसे मिट्टी की चायदानियों यों में डालकर अँगीठी पर रख देते हैं।" यहाँ चाय के वर्णन के साथ उसके बनाए जाने का भी उल्लेख बखूबी बखूबी ढंग से किया जाता है।

प्रत्येक देश की वेश–भूषा में भिन्नता पाई जाती है, जो स्वभावतः अपनी संस्कृति के अनुरूप बदलती रहती है। तिब्बत की वेश–भूषा के सम्बन्ध में राहुल जी लिखते हैं कि "स्त्रियों का छुपा (लम्बा चौगा) ऊनी पट्टी का होता है और उसमें बाँह नहीं होती उसके नीचे स्त्रियाँ लाल पीले या किसी और रंग की लम्बी बाँह की जाकट पहनती हैं। तिब्बत की वेश–भूषा के सम्बन्ध में राहुल जी लिखते हैं कि "स्त्रियों का छुपा (लम्बा चौगा) ऊनी पट्टी का होता है और उसमें बाँह नहीं होती उसके नीचे स्त्रियाँ लाल पीले या किसी और रंग की लम्बी बाँह की जाकट पहनती हैं। यह जाकट अण्डी या सूती कपड़े की होती है। छुपा टखनों तक का होता है उसके भीतर कमर से ऊपर जाकट होती है और नीचे टखनो तक सूती या अण्डी की घघरी होती है।" तिब्बत की स्त्रियाँ भी आभूषण को प्रिय समझती हैं। सर्पाकार लद्दाखी शिरोभूषण के साथ नाक में सोने की दुअन्नी भर की लोंग सुशोभित लगती है।

तिब्बत के ल्हासा में देवावतरण का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। कुछ दिन पहले से ही घरों की सफाई और सफेदी होने लगती है। तिब्बत का सबसे बड़ा उत्सव है नव–वर्षोत्सव, जो 30 जून को मनाया जाता है– "ल्हासा में तो नव–वर्षोत्सव सबसे बड़ा उत्सव है। यहाँ पर भी लोग नये–नये कपड़ों से सज–धज कर ध्वजा–पताका ले घोड़ों पर चढ़े निकले। स्त्रियाँ भी तमाशा देखने गयी थीं। दलबल सहित दोनों महलों के स्वामी पूरब के पहाड़ों के पीछे गये और वहाँ कितनी देर तक घोड़े और आदमी चक्कर काटते रहे। आज लोग जुए और शराब में पूरी तौर से जुट गये थे।" साथ ही राहुल जी तिब्बती लोगों के लोक विश्वासों के बारे में बताते हैं कि तिब्बती लोगों का विश्वास है कि किसी के पास मि–टि–कू हो तो उसके शरीर पर गोली बिल्कुल असर नहीं करती है। तिब्बत में सोने के पहले बौद्ध स्त्री–पुरुष कुछ प्रार्थना वाक्य बोल कर अपने ही सिरहाने की ओर मुँह करके भगवान बुद्ध और गुरु को ध्यान कर दण्डवत करते हैं।

तिब्बत की एक परंपरा का उल्लेख करते हुए यायावर ने बताया है कि यात्रा पर जाने वाले व्यक्ति के लिये मंगलानुष्ठान एवं मंगल पाठ होता है। भुनी मछली, सारस का उबला अंडा यात्रा में मंगल भोजन समझे जाते हैं। इसके बाद थोड़ा शराब पीना भी शुभ समझा जाता है। मित्र बंधु गले में सफेद साफा (रेशमी चीट) डालकर विदा करते हैं।

राहुल जी ने अपनी यात्रा परक कृतियों में भिन्न–भिन्न देश की विभिन्न कलाओं का सौहार्द रुप से वर्णन किया है। तिब्बती स–स्क्या के मन्दिर कब वर्णन करते हुए राहुल जी लिखते हैं कि "ल्ह–खड–छेन–मो देवालय के खंभे चालीस पचास हाथ ऊँचे और इतने मोटे हैं कि आदमी अपनी बाहों में घेर सकते हैं। मुख्य दरवाजे के बायीं ओर पचास साठ हाथ से भी अधिक ऊँची सीधी सीढ़ी थी जिस पर से उतरने में दरअसल डर मालूम होता था। मन्दिर नदी पार मैदान–सी जगह में है।" यहाँ राहुल जी ने मंदिर वर्णन के माध्यम से तिब्बती लोगों की कला प्रियता का परिचय दिया है।

इस प्रकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की यात्रा परक कृतियों 'तिब्बत में सवा बरस', 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'यात्रा के पन्ने', 'एशिया के दुर्गम भूखंडों में' तिब्बत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का अंकन हुआ है।

संदर्भ :-

1. राहुल सांकृत्यायन : 'बौद्ध संस्कृति' (प्राक्कथन से), पृष्ठ सं.– 03
2. राहुल सांकृत्यायन : 'तिब्बत में सवा बरस', पृष्ठ सं.– 231–232
3. राहुल सांकृत्यायन : 'मेरी तिब्बत यात्रा', पृष्ठ सं.– 126
4. राहुल सांकृत्यायन : 'यात्रा के पन्ने', पृष्ठ सं.– 121
5. राहुल सांकृत्यायन : 'तिब्बत में सवा बरस', पृष्ठ सं.– 224
6. राहुल सांकृत्यायन : 'यात्रा के पन्ने', पृष्ठ सं.– 28
7. वही, पृष्ठ सं.– 31
8. राहुल सांकृत्यायन : 'तिब्बत में सवा बरस', पृष्ठ सं.– 235
9. वही, पृष्ठ सं.– 178
10. राहुल सांकृत्यायन : 'यात्रा के पन्ने', पृष्ठ सं.– 46
11. वही, पृष्ठ सं.– 38–39

आधार ग्रन्थ :-

1. सांकृत्यायन राहुल : 'बौद्ध संस्कृति' सम्यक प्रकाशन 32/3 क्लब रोड, पश्चिम पुरी, पंजाबी बाघ, नई दिल्ली–110063, संस्करण–2018
2. सांकृत्यायन राहुल : 'तिब्बत में सवा बरस', शारदा मंदिर, 17 बाराखंबा रोड, नई दिल्ली, संस्करण–1933
3. सांकृत्यायन राहुल : 'मेरी तिब्बत यात्रा', छात्र हितकारी पुस्तक माला, दारागंज, प्रयाग, संस्करण–1937
4. सांकृत्यायन राहुल : 'यात्रा के पन्ने' जगतराम एंड संस iv/221 मैन रोड़ गांधी नगर दिल्ली–11032, संस्करण–2016

पत्राचार पता :

रोहित प्रताप सिंह

कमरा सं.– 05, ईस्ट हॉस्टल

एस. एस. साउथ (हॉल), अ. मु. वि. अलीगढ़, 202002

ई.मेल : rthakur.amu@gmail.com

मो. नं. 9719844333

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 232-236

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण

सन्दीप कुमार
शोधार्थी, श्री जेजेटी यूनिवर्सिटी, झुंझुनू, राजस्थान।

भूमिका :-

भारतीय संस्कृति मानव जनित पर्यावरण से गहरा सम्बन्ध रखती है जिसमें सभी भौतिक व अभौतिक उत्पाद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रेषित किए जाते है। सभी समाज के अन्तर्गत वैज्ञानिकता में एक सर्वमान्य सहमति समाहित है कि संस्कृति में मनुष्यों द्वारा प्राप्त सभी आंतरिक व व्यवहारिक शामिल है जो अलग–अलग चिह्नों द्वारा भी प्रस्तुत किए जाते है। अतः संस्कृति का मूल केन्द्र बिंदु उन सूक्ष्म विचारों के मध्यातर है जो एक समूह में ऐतिहासिक रूप से उनसे संबद्ध मूल्यों सहित विवेचन होते रहे है।

हमारे भारत को विश्व का सबसे श्रेष्ठ लोकतंत्र माना जाता है, इसे विविधता में एकता वाला देश कहा जाता है। यहां सबके खान–पान, ज्ञान–सम्मान, परिधान व उत्पादन से उपभोग सबमें पश्चिमी के प्रभाव के चलते बहुत अनेक रूपता है। लेकिन भारतीय संस्कृति पर्यावरण संरक्षण में विश्व के अन्य देशो से हटकर अपना एक अलग ही किरदार प्रस्तुत करती है। यहाँ के लोगों ने मानव व प्रकृति के बीच एक अजब ही सन्तुलन पैदा कर रखा है। जो पूर्णता वैज्ञानिकता पर आधारित है। हमारे शास्त्रों में पेड़ पौधों, पहाड़ी, पुष्पों, झरना, पशु–पक्षियो, जंगली जानवरों नदी, सरोवर, तालाब, मिट्टी, घाटी यहां तक की पत्थर की भी पूजा की जाती है। भारतीयों का यह चिन्तन पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने का सबसे सार्थक तथा संरक्षण के लिये बहुमूल्य है।

भारतीय संस्कृति :-

भारतीय जनता आधुनिक परिवेश में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से ग्रस्त होते हुए भी अपनी संस्कृति को उतना ही पूजनीय तथा विश्वसनीय मानती है जितना प्राचीन समय में था। लेकिन अज्ञानतावश कुछ लोग इसे अंधविश्वास के साथ जोड़कर देखते है लेकिन अनेक पैमानों पर परखने के बावजूद भी भारतीय संस्कृति पूरे विश्व में अपना एक अलग ही वजूद कायम किए हुए है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विभिन्न विधियों, प्रविधियों, उपकरणों, रीति–रिवाजों तथा प्रथाओं को जन्म दिया है ये सब पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है इन सबके योग को संस्कृति कहते है। व्यक्ति का समाज तथा संस्कृति के साथ समान संबंध है। व्यक्ति के व्यवहार के ये दोनों ही आवश्यक आधार है व्यक्ति का समग्र विकास समाज तथा संस्कृति दोनों के प्रभाव से होता है।

संस्कृति की परिभाषा :-

भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने संस्कृति के स्वरूप को भाषित करके उसे शब्दायित करने का प्रयास

किया है। दोनों वर्गों की कतिपय प्रधान परिभाषाएँ निम्न हैं। यद्यपि वेदों में संस्कृति का कोई स्पष्ट स्वरूप व्यंजित नहीं हुआ है, तथापि इस शब्द का उल्लेख मिलता है।' 'ऐतरेय ब्राह्मण' में संस्कृति को स्वरूपित करने का प्रयास लक्षित होता है। यहाँ संस्कृति मानव के वैयक्तिक और समष्टिगत उत्कर्ष की प्रतीति कराती है। ध्यातव्य हैं कि भारतीय मुनियों के अन्तर्गत उपनिषदों में ही सर्वप्रथम संस्कृति की सविस्तार व्याख्या दृष्टिगत होती है। जीवन में समाज में मानवीय दृष्टि की महत्ता निर्विवाद है, क्योंकि इसी भावना के परिणामतः सभी धर्म, कर्म, सम्प्रदाय, सदाचार समन्वित होते हैं। ऐसी विशिष्ट संस्कृति को भारतीय चिंतकों ने इस प्रकार शब्दायित किया है।

1. "रवीन्द्रनाथ 'संस्कृति' मस्तिष्क का जीवन है।"[1]

2. राहुल सांकृत्यायन 'एक पीढ़ी आती है, यह अपने आचार–विचार, रुचि अरुचि, कला–संगीत, भोजन छाछ नया किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत–सी पीढ़ियाँ आती–जाती रहती है और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अगली पीढ़ी पर छोड़ जाती हैं। यही प्रभाव (संस्कार) संस्कृति है।"[2]

3. राज गोपालाचार्य 'किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।"[3]

4. हजारी प्रसाद द्विवेदी – ''मनुष्य की श्रेष्ठ साधना ही संस्कृति है।"[4]

पर्यावरण :–

पर्यावरण या वातावरण एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द है जिसका सामान्य अर्थ–'चारों तरफ का आवरण'।

मानव जन्म से मृत्यु पर्यन्त पर्यावरण में ही रहता है। पर्यावरण के अन्तर्गत वह वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रों में विकास करता है। यदि व्यक्ति को उचित वातावरण न दिया जाए तो वह अच्छा व स्वस्थ नागरिक बनने से वंचित हो सकता है। पर्यावरण के अन्तर्गत, नदी, पहाड़, तालाब, मैदान, पेड़–पौधे, जीव–जन्तु, वायु, वन, मिट्टी आदि घटकों को शामिल किया जाता है इसके अलावा पर्यावरण का दूसरा सम्बन्ध एक व्यक्ति का, दूसरे व्यक्ति के साथ आचार–व्यवहार के तौर पर स्वभाव या बर्ताव भी उसे प्रभावित किए बगैर नहीं रहता।

पर्यावरण से सम्बन्धित परिभाषा :–

पर्यावरण का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना कि मानव का इतिहास, पर्यावरण का ज्ञान मानव द्वारा अपने परिवेश में हो रहे प्रत्येक परिवर्तन के निरंतर अध्ययन से ही मिलकर बना है कि रचना, प्रकृति एवं विभिन्न घटकों के संबंधों के आधार पर अनेक विद्वानों ने अलग–अलग तरीकों से पर्यावरण की परिभाषा दी है।

1. पर्यावरण के अंतर्गत वे सभी स्थितियाँ, परिस्थितियों और प्रभाव आते हैं जो जीव या जीव समूह को घेरे हुए हैं।' (बेवस्टर न्यूट्वेन्टी सेंचुरी डिक्शनरी, 1967)"[5]

2. 'प्रकृति में सम्मिलित रूप से जीव–जंतु, पेड़–पौधों, वायु, जल, मृदा आदि सभी के सम्मिलित रूप को हम पर्यावरण कहते हैं। –'किसी भी जंतु के संपूर्ण कार्बनिक और अकार्बनिक वातावरण के आपसी संबंध को पर्यावरण कहते हैं।' (अर्नेस्ट हैकल, 1869)"[6]

3. 'पर्यावरण उन सभी दशाओं, प्रणालियों तथा प्रभावों का योग है जो जीवों व उनकी प्रजातियों के विकास, जीवन एवं मृत्यु को प्रभावित करते हैं। (विश्व शब्द कोश)"[7]

भारतीय संस्कृतिक के अन्तर्गत पर्यावरण का ऐतिहासिक अध्ययन :–

हमारे देश में अनेक तीर्थ स्थानों को पवित्र तथा त्योहारों को मानने की परम्परा अति प्राचीन है। और सभी त्योहारों व तीर्थ स्थानों का सम्बन्ध पर्यावरण के साथ जोड़कर देखा जाता है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तीर्थों की श्रृंखला सी बनी हुई है। इस पवित्र तीर्थ वातावरण का, स्पर्श पाकर व्यक्ति खुद को निष्पाप महसूस करता है। इस तरह के पवित्र तीर्थ स्थानों की यात्रा के अन्तर्गत व्यक्ति पर्यावरण ज्ञान, मनोरंजन स्थल, अभ्यारण्य, अरण्य, सरोवर, झीलों के शुभ दर्शन कर उनके प्रति अपनी सच्ची श्रद्धा व्यक्त करता हुआ दिखाई देता हैं। हमारी संस्कृति आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करने वाली है।

प्राचीनकाल में ऋषि मुनि, का पर्यावरण के सन्दर्भ में चिन्तन व्यावहारिक व वैज्ञानिक होता था और उतना ही महत्त्वपूर्ण होता था, ऋग्वेद, यजुर्ववेद, अथर्ववेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण व भागवत् में पर्यावरण का संस्कृति के साथ बेजोड़ इतिहास देखने को मिलता है।

भारतीय संस्कृति का पर्यावरण के साथ सम्बन्ध आरम्भ से ही है। मानव संस्कृति व सभ्यता पर्यावरण के संरक्षण में ही प्रफुल्लित होती रही है। प्रकृति के सभी घटकों से मानव जीवन पूर्णतया प्रभावित रहा है। नित्य–क्रिया, संस्कार, व्रत, अनुष्ठान, त्योंहारक्रिया–क्रम,पूजापद्धति, नृत्य–गायन सभी में पर्यावरण समाहित है।

भारतीय लोक जीवन में पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि अन्तरिक्ष पाँच चीजों से निर्मित मानव शरीर की सुरक्षा हेतु इनको खास महत्व दिया जाता है। घर में तुलसी की पूजा को इतना महत्व दिया जाता है कि उसकी उपस्थिति को घर के वातावरण के लिए सकारात्मक माना गया है। हमारे धर्म ग्रन्थों में पर्यावरणीय चेतना पर विशेष बल दिया गया है। नवपाषाण काल से ही वृक्ष पूजा, जल पूजा, नदी, पूजा, मातृदेव पूजा आदि के प्रमाण मिलते है।

ऋग्वेद :–

ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम धर्म ग्रंथ माना जाता है जिसमें वृक्षों के भागों का औषधीय गुणों से भरपूर माना गया है। और उन्हें माता की उपमा से विभूषित किया गया हैं औषधी विभिन्न रोगों और प्रदूषण को दूर करती है। यज्ञ–हवन करने हेतु ऋषि मुनि विभिन्न वृक्षों के पत्ते छाल से बनी सामग्री का आज तक भी प्रयोग करते है क्योंकि इनके औषधीय गुण से पर्यावरण का शुद्धिकरण होता है। ऋग्वेद में धरती को माता व आकाश को पिता की संज्ञा दी गई है, जिसके अन्दर वृक्षों के महत्व पर अनेको रूपों से प्रकाश डाला गया है :–

"वृक्षों कोन काटो, क्यों किये प्रदूषण को नष्ट करते हैं।"[8]

पेड़ पौधे में वनस्पति हमारे सुरक्षा कवच है।

यजुर्ववेद :–

यजुर्वेद में पर्यावरण की सुरक्षा एवं संवर्धन के लिए मानव द्वारा किया जाने वाला कार्य अनुशासित ढंग का होने पर बल दिया है।

'जो कुछ भी प्रकृति के कण–कण में है उसमें ईश्वर का वास होता है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति की सुरक्षा के लिए त्यागपूर्वक भोग करना लोभन करना जिससे पर्यावरण को हानि न पहुंचे। यजुर्वेद में कहा गया है कि विधिपूर्वक कृषि रूपी यज्ञादि द्वारा उत्पन्न धान, जौ, तिल, उड़द, धान के चावल, अन्य छोटे दाने वाले अनाज, गेहूं, मसूर और चना आदि अन्न संरक्षित एवं सम्पन्न किये जाने चाहिए।'[9]

अथर्ववेद :–

"अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में पृथ्वी को वृक्ष वनस्पतियों के माता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा पर्यजन्य को इनका पिता कहा गया है।" [10]

पृथ्वी को माता की संज्ञा देकर प्रकृति व पर्यावरण का महत्व मानव जीवन में और अधिक बढ़ा दिया गया क्योंकि पृथ्वी पर ईश्वर प्रदत्त सभी जीव–जन्तु व पौधों का पर्यावरण में अपना एक विशेष महत्व होता है अगर मनुष्य द्वारा इसके साथ किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ की जाती है तो इसका नुकसान दायक प्रभाव मनुष्य के जीवन पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ :–

वेदों के पश्चात् पर्यावरण का भारतीय संस्कृति में अलग व विशेष महत्व ब्राह्मण ग्रन्थों में दिखाया गया है ब्राह्मण ग्रन्थों में वायु को विशेष महत्व देते हुए कहा गया है कि "यह यज्ञ का प्राण है तथा इसके द्वारा, अन्तरिक्ष की बाधाओं और यज्ञ में दी गयी आहुतियों से चारों ओर पृथ्वी से आकाश तक फैलाने वाला कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि वायु ही यज्ञ का वाहक है, वह देवताओं के लिए हवि का वहन करती है। वायु ही यज्ञ का प्राण है, जब अग्निहोत्र होता है तभी वह आह्लादित होती है।''[11]

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के महत्व को बताया गया है कि यज्ञ के द्वारा वातावरण की शुद्धि के साथ–साथ समस्त जीव–जन्तुओं के लिए शुद्ध वायु एवं उनके द्वारा छोड़े जाने वाली कार्बन डाई ऑक्साइड द्वारा पेड़–पौधों को भोजन की प्राप्ति हो।

उपनिषद :–

भारतीय संस्कृति में उपनिषद वह विद्या है जिसमें समस्त व्यर्थ कार्यों को नष्ट करने की शक्ति है उपनिषद कालीन ऋषि–मुनि प्रकृति के करीब रहकर गुरुकुल में अपने शिष्यों को विद्या देते है ''सृष्टि का निर्माण पंचतत्वों के सामूहिक संतुलन का परिणाम है और इसी से पर्यावरण का निर्माण होता है इसके असन्तुलित होते ही प्राकृतिक विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि पृथ्वी के अन्दर अग्नि है जिसके कारण पृथ्वी को अग्नि गर्भा कहा गया हैं।"[12]

रामायण :–

रामायण में रामराज्य के आदर्शों के साथ समाज के उत्तम कोटि के धार्मिक, संस्कृति के जीवन मूल्य नजर आते हैं। रामायण के वर्णित वन, वनस्पतियां, नदी, पहाड़, तालाब आदि को आदर्शात्मक सौन्दर्य में गढ़ा गया हैं। जो स्वस्थ व स्वच्छ वातावरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जाते है। 'रामायण में वायु के बारे में कहा गया है कि वायु प्राण है, वायु परम सुख है तथा वायु सम्पूर्ण जगत् का मूल भी हैं।"[13]

रामायण के अयोध्या कांड में यह वर्णित है कि राम जहाँ भी जाते है प्राकृतिक नजारे पेड़–पौधे, वनस्पतियां, लताएं हर्षोल्लास के साथ उनका स्वागत करते है।

महाभारत :–

वेदव्यास जी की रचना महाभारत धार्मिक लोककथाओं के द्वारा प्रकृति एवं पर्यावरण को साथ लेकर भारतीय संस्कृति का उचित वर्णन किया गया है। कृष्ण की रासलीला व बचपन को ग्वालों के साथ गाय चराते हुए वन में विचरण के साथ संस्कृति से जोड़ते हुए उनके द्वारा छुए व रहे गये स्थान पर पूजा के तीर्थ स्थानों

का निर्माण किया गया जो आधुनिक परिवेश में पूजनीय है 'वन पर्व में वनों के महत्व के बारे में कहा गया है कि वनों से जल संरक्षित होता है, फल, सुगन्धित पुष्प और औषधियाँ प्राप्त होती है।'[14]

देखा जाए तो महाभारत ग्रन्थ पर्यावरण चेतना से ओत प्रोत है। गीता के भगवान कृष्ण का कथन है कि वृक्षों में मैं पीपल हूं और मत्स्य पुराण में पेड़ों को पुत्रों की संख्या से अभिहित करना पेड़ों के महत्व को स्पष्ट करता है हमारी संस्कृति में नीम को पूर्ण चिकित्सक, आंवले को पूर्ण भोजन, पीपल को शुद्ध वायुदात्री, पाकड़ और वट के युग्म वृक्षों को जल संग्राहक एवं वट को पूर्ण घर माना गया है। हमारे हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध रचनाकारों जैसे– कालिदास, रसखान, सूरदास, तुलसीदास कबीरदास ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को ऐसी गहराई के साथ भारतीय संस्कृति से जोड़ा है जिसका कोई तोड़ नहीं है प्राकृतिक चीजों को मिथकों केबल की बजाय उपयोगिता के महत्व को ध्यान में रखकर संजोकर रखना या नष्ट न करने के लिए प्रेरित किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. The Center of Indian Culture, p.15
2. राहुल सांकृत्यायन बौद्ध संस्कृति, पृष्ठ 3
3. डॉ. रत्न चंद्र शर्मा, मुगलकालीन सगुण भक्ति काव्य का सांस्कृतिक विश्लेषण, पृष्ठ संख्या 4
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृष्ठ 69
5. के.एल. तिवारी, एस.के. जाधव, पर्यावरण विज्ञान, पृष्ठ संख्या 3, इंटरनेशनल पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड बेंगलुरू।
6. वही, पृष्ठ संख्या 3,
7. वही, पृष्ठ संख्या 3
8. ऋग्वेद 6/48/17/भाग 2 मा का कम्बीरम्उदवृतो वनस्पतिम्अशस्तीर्विहिनीनशः।
9. यजुर्वेद 18/12/ देव सुदर्शन, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली– 1974 भाग– 2
10. अथर्ववेद, 12/1/1/अर्थवेद संहिता, शास्त्रीय माध्वाचार्य, माध्सव पुस्तकालय दिल्ली, संवत् 2035
11. ऐतरेय ब्राह्मण, 2/34/सायणभाष्य सहित, मालवीय सुधाकर, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1987
12. वृद्धारण्यम उपनिषद, 6/4/22/यथाअग्निगर्भा पृथिवी द्रोरिन्द्रेण गर्भिणी।
13. वाल्मीकि रामायण 7/32/62। वायु प्राण..... विंदते जगत।
14. अग्निहोत्री, प्रभु दयाल, संस्कृत साहित्य एवं पर्यावरण, पृष्ठ संख्या 413, 414 ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, 2011

Mob : 9416377782

Sandeepmachra123@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 237-239

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यास 'पुरवाई' में आदिवासी लोक कलाएं

सीमा देवी

पीएच.डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला–171005

भारत देश में विविध धर्म व संस्कृति के लोग रहते हैं। प्रत्येक समुदाय की अपनी बोली और जीवन पद्धति हैं लेकिन आदिवासी समाज अन्य समाज से बहुत ज्यादा भिन्न है। विवेकी राय के शब्दों में, ''पिछड़े अँचलों, पहाड़ों, वनों के निवासियों को आदिम आदिवासी माना गया है।''[1] अतः स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ में जीवन का विकास न होने के कारण मनुष्य घने जंगलों में निवास करते थे और आज उसी भांति जो व्यक्ति विकास की गति से अनभिज्ञ स्वयं की मान्यताओं तक सीमित रहकर वनों में निवास करते हैं, उन्हें आदिवासी कहा जाता है।

कला और व्यक्ति का अटूट सम्बन्ध है। 'राजपाल हिन्दी शब्दकोश' में कला का अर्थ, ''1 चित्र (जैसे– उसकी कला अच्छी है) 2 नाटय (जैसे– अभिनय कला) 3 नृत्यकला 4 हुनर (जैसे– उत्तम कलाओं वाला व्यक्ति।'' 'तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश' के अनुसार, ''किसी वस्तु की रचना के लिए अपेक्षित सर्जनात्मक प्रतिभा, कौशल और शिल्प, हुनर, विद्या, सर्जन कौशल।''[2] 'बृहत हिन्दी कोश' में कला का अर्थ, ''हुनर, गुण, मणिभूमिका–कर्म (घर सजाना), माल्य–ग्रन्थ विकल्प (माला गूँथना), यंत्र–मातृका (यंत्र बनाना), गाने बजाने आदि की विद्या बताया गया है।''[3] कला के सम्बन्ध में भरतमुनि ने 'नाट्य शास्त्र' में लिखा है, ''न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सविद्या न सा कला।''[4] अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं, कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं जो कला न हो। अतः कह सकते हैं कि व्यक्ति के कार्य से जब उसका व दूसरों का हित होता है तो वह काम कला कहलाती है।

मनुष्य अपने कार्य में पारंगत भी होता है। 'राजपाल हिन्दी शब्दकोश' में पारंगत का अर्थ, ''1 अत्यधिक ज्ञान प्राप्त करने वाला 2 जो पार जा चुका हो।''[5] 'तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश' के अनुसार, ''जो पार पहुँच गया हो, पूर्ण पंडित, विद्वान, ज्ञानी, विशेषज्ञ।''[6] अतः व्यक्ति को अपने ईमानदारी पूर्ण काम का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर वह कला पारंगत कहलाता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में कथाकार कृष्णा अग्निहोत्री विख्यात लेखिका है। इन्होंने अपने कथा साहित्य में नगर, महानगर से लेकर आदिवासी समाज के विभिन्न पहलुओं की यथार्थ अभिव्यक्ति की है। लेखिका के कथा–साहित्य में आदिवासी स्त्रियों की जिन्दगी से जुड़ी समस्याओं के साथ ही उनका अनेक कलाओं में निपुणता को उजागर किया गया है।

विवेचित उपन्यास 'पुरवाई' में मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र झाबुआ के लोगों तथा वहां बसे अन्य आदिवासियों के जीवन को उद्घाटित किया गया है। उपन्यास के शीर्षक के सन्दर्भ में कह सकते हैं कि वर्तमान

समय में झाबुआ विकसित क्षेत्र है। इसलिए लेखिका ने अविकसित क्षेत्रों के आदिवासी लोगों का रोजी–रोटी की तलाश में वहां बसने का चित्रण करके यह स्पष्ट किया है कि जिस भांति झाबुआ वहां के लोगों की मेहनत व समाज सुधारकों तथा सरकार की मदद से विकसित हुआ है। उसी तरह पिछड़े आदिवासी क्षेत्रों में भी वहां के लोगों के परिश्रम व रमेश जैसे समाज सेवक तथा सरकार की सहायता से वहां भी विकास रूपी पुरवाई (हवा) चलनी प्रत्येक आदिवासी लोगों के सुखद जीवन के लिए अति आवश्यक है।

जंगली जड़ी–बूटियों से आयुर्वेदिक दवा बनाने में निपुण स्त्रियां अपनी कला के चलते धनोपार्जन करने के साथ ही दूसरों की मदद करने में संलग्न रहती है। जैसे विवेचित उपन्यास की पात्र आदिवासी रामकली जड़ी–बूटियों से दवाई बनाकर लोगों का उपचार करके उनकी सहायता करती है जिसकी पुष्टि इन पंक्तियों के माध्यम से हुई है, ''सलोनी को जब बिच्छू ने काटा तो रामकली ने जंगल की एक पत्ती मलकर लगा दी तो उसका दर्द चला गया। उसने नरेश से खुशी से कहा– मैं पत्तियों को पहचानकर उनसे काम ले सकती हूँ।''[7] समाज सुधारक रमेश के कथन से पता चलता है कि रामकली की आयुर्वेदिक दवा बनाने में निपुणता होने के कारण उसका कौशल उसके अर्थार्जन का साधन बन जाता है, ''अच्छा है अबकि जब गाड़ी आयेगी मैं इनका रस ले जाकर झाबुआ शहर के एक आर्युवैदिक डॉ. को दूँगा।'' आदिवासी सुरसती लोहे के बर्तन बनाने में पारंगत है और जब कृष्णा नामक पुरुष समाज सेवक रमेश से आग्रह करता है कि सुरसती को उसकी कला के चलते स्वावलंबी बनाने में मदद करे तो सुरसती का बर्तन बनाने के कार्य का पता चलता है जिसका वर्णन कृष्णा के कथन से इस प्रकार हुआ है, ''सिगड़ी, तवा, समसी, कड़ाई आदि इससे वे धाड़की से ज्यादा कमा सकते हैं। सुरसती सब कर लेती है।''[8] कृष्णा की पत्नी सलोनी बर्तनों पर चित्र बनाने की कला के चलते आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने में प्रयासरत रहती है। कृष्णा व नरेश के संवादों से सलोनी की चित्रकला का पता चलता है, ''कृष्णा। ये बताओ सलोनी क्या करती हैं?

– उसने शहर से कुछ फूलदान, मटके एवं सुराही मंगवाई थी उन पर, कसीदार काढ़ती बहुत प्यारा काम है।

– क्या वे बिकी?

– हम तो उनका दाम समझते नहीं। विजय भैय्या ने बिकवा दी।''[9] नरेश सलोनी की चित्रकला से प्रभावित होकर जब उसे कपड़े की गुड़िया बनाने के लिए प्रेरित करता है तो उनके संवादों से आदिवासी बिंदिया का कपड़े की गुड़ियां बनाने में कुशल होने का पता चलता है, ''सलोनी तुम क्या कपड़े की गुड़िया बना सकती हो।

– यूं ही खिलौने में बनानी पर जैसी दुकान में मिलती है वो न आवै।

– मैं चेहरे मंगवा दूँगा, तुम कोशिश करना।

– गुरुजी बिंदिया को आवै है।''[10] समाज सुधारक रमेश की पत्नी कमली चरखे पर सूत कातने में परिपक्व होने के लिए जब प्रशिक्षण लेती है तो कला में निपुण होने के चलते वह अर्थार्जन के साथ यश भी प्राप्त करती है जिसकी पुष्टि इन पंक्तियों के माध्यम से हुई है, ''कमली को चरखे पर सूत कातना आता है तो उसने पत्नी को ट्रायसेम योजना के अंतर्गत तीन महीने का प्रशिक्षण दिलवाया। उसने तो कमाल कर दिया। तेज बुद्धि और श्रम से कई मीटर कपड़ा बुन लेती। उसकी बनाई साड़ियों की माँग बढ़ी और जिले के कलक्टर सा. ने बुलाकर उसे दो हजार रूपये का पुरस्कार दिया।''[11] कमली की वृद्धा नानी में दोने पत्तल बनाने का कौशल होने के कारण वह अपनी कला के माध्यम से धनार्जन में प्रयत्नशील रहती है जिसका वर्णन कमली के कथन से इस प्रकार हुआ

है, ''नानी दोने पत्तल अच्छे बनाती है। मना करो तो भी बनाती ही है।''[12] रमेश जब अनेक आदिवासी नारियों द्वारा विविध प्रकार की उपयोगी वस्तुएं बनाने की कला से परिचित होता है तो उनके द्वारा बनाई गई चीजों को बेचने के लिए आनंद मेले का आयोजन करता है और सरकारी अफसर को मेले के उद्घाटन के लिए आमंत्रित करता है ताकि सरकार उनकी कला से अवगत होकर उन्हें उनके कौशल के बल पर आजीविका प्राप्त करवाने में मदद करे। अग्रलिखित पंक्तियों में नरेश के कथन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी नारियों में अनेक कलाएं होने के कारण ही समाज सेवक रमेश उनके कौशल के आधार पर उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने की चाह रखता है, ''मैं अब एक आदिवासी महिलाओं के द्वारा बनाई वस्तुओं का आनन्द मेला लगवाऊंगा, कोशिश करूंगा कि झाबुआ के कलक्टर आनंद त्रिपाठी उसका उद्घाटन करें। देखते हैं कितनी बिक्री होती है।''[13] अतः समाज सुधारक रमेश का आदिवासी नारियों की कला के प्रति सम्मान होने के कारण वह उन्हें उनके कौशल के बल पर स्वावलंबी बनाने में प्रयासरत रहता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि लेखिका ने विवेचित उपन्यास 'पुरवाई' में आदिवासी नारियों का अनेक प्रकार की हस्तकला में निपुणता को चित्रित करके यह स्पष्ट किया है कि आदिवासी स्त्रियों के पास अर्थोपार्जन का अन्य साधन न होने के कारण वह अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुएं बनाने में निपुण होती है लेकिन उनके कौशल को बाहरी क्षेत्रों में कोई पहचान न मिल पाने के कारण वह जंगल तक ही सीमित रह जाती है इसलिए रमेश जैसे समाज सेवक द्वारा उनकी कला को सरकार तक पहुंचाने में प्रत्यनशील रहने के माध्यम से इस बात पर बल दिया है कि सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह आदिवासी नारियों द्वारा बनाई गई चीजों का भारत के विविध क्षेत्रों में प्रचार–प्रसार करके उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. सोनटक्के माधव, राठोड संजय, भारतीय साहित्य और आदिवासी विमर्श, पृ. 142, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण 2018
2. बाहरी हरदेव, राजपाल हिन्दी शब्दकोश, पृ. 151, दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, संस्करण 2019
3. चातक गोविन्द, तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश, पृ. 119, नई दिल्ली : तक्षशिला प्रकाशन, संस्करण 2006
4. प्रसाद कालिका, बृहत् हिन्दी कोश, पृ. 266, वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, संस्करण 1963
5. सिंह ममता, कला शोध, पृ. 61, नई दिल्ली : प्रगतिशील प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019
6. बाहरी हरदेव, राजपाल हिन्दी शब्दकोश, पृ. 498, दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज संस्करण 2019
7. चातक गोविन्द, तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश, पृ. 280, नई दिल्ली : तक्षशिला प्रकाशन, संस्करण 2006
8. अग्निहोत्री कृष्णा, पुरवाई, पृ. 84–85, कानपुर : अमन प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2018
9. वही, पृ. 85
10. वही, पृ. 119
11. वही, पृ. 120
12. वही, पृ. 122
13. वही, पृ. 135
14. वही, पृ. 125
15. वही, पृ. 157–158

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 240-246

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संगीत का इतिहास

शिशिर देसाई

शासकीय कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय, सनावद।

प्रगैतिहासिक काल से ही भारत में संगीत की समृद्ध परम्परा रही है। गिने–चुने देशों में ही संगीत की इतनी पुरानी एवं इतनी समृद्ध परम्परा पायी जाती है। माना जाता है कि संगीत का प्रारम्भ सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में हुआ हालांकि इस दावे के एकमात्र साक्ष्य हैं। उस समय की एक नृत्य बाला की मुद्रा में कांस्य मूर्ति और नृत्य, नाटक और संगीत के देवता की पूजा का प्रचलन। सिंधु घाटी की सभ्यता के पतन के पश्चात् वैदिक संगीत की अवस्था का प्रारम्भ हुआ जिसमें संगीत की शैली में भजनों और मंत्रों के उच्चारण से ईश्वर की पूजा और अर्चना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दो भारतीय महाकाव्यों रामायण और महाभारत की रचना में संगीत का मुख्य प्रभाव रहा। भारत में सांस्कृतिक काल से लेकर आधुनिक युग तक आते–आते संगीत की शैली और पद्धति में जबरदस्त परिवर्तन हुआ है। भारतीय संगीत के इतिहास के महान संगीतकारों जैसे कि स्वामी हरिदास, तानसेन, अमीर खुसरो आदि ने भारतीय संगीत की उन्नति में बहुत योगदान किया है जिसकी कीर्ति को पंडित रवि शंकर, भीमसेन गुरूराज जोशी, पंडित जसराज, प्रभा अत्रे, सुल्तान खान आदि जैसे संगीत प्रेमियों ने आज के युग में भी कायम रखा हुआ है।

संक्षिप्त परिचय :–

वैदिक युग में 'संगीत' समाज में स्थान बना चुका था। सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में आर्यो के आमोद–प्रमोद का मुख्य साधन संगीत को बताया गया है। अनेक वाद्यों का आविष्कार भी ऋग्वेद के समय में बताया जाता है। 'यजुर्वेद' में संगीत को अनेक लोगों की आजीविका का साधन बताया गया, फिर गान प्रधान वेद 'सामवेद' आया, जिसे संगीत का मूल ग्रन्थ माना गया। 'सामवेद' में उच्चारण की दृष्टि से तीन और संगीत की दृष्टि से सात प्राकार के स्वरों का उल्लेख है। 'सामवेद' का गान (सामगान) मेसोपोटामिया, फैल्डिया, अक्कड़, सुमेर, बवेरु, असुर, सुर, यरुशलम, ईरान, अरब, फिनिशिया व मिस्र के धार्मिक संगीत से पर्याप्त मात्रा में मिलता–जुलता था।

वैदिक काल का संगीत :–

भारतीय संगीत का आदि रूप वेदों में मिलता है। वेद के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है, किंतु उसका काल ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व था। इस पर प्रायः सभी विद्वान् सहमत है। इसलिए भारतीय संगीत का इतिहास कम से कम 4000 वर्ष प्राचीन है।

संभाव्य स्वरों के नियत क्रम का जो समूह है वह संगीत में 'साम' कहलाता है। यूरोपीय संगीत में इसे

'स्केल' कहते हैं। हम देख सकते हैं कि धीरे–धीरे विकसित होकर साम का पूर्ण ग्राम इस प्रकार बना–

क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, मंद्र, अतिस्वार्थ

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि साम का ग्राम अवरोही क्रम का था। नीचे हम सामग्रम और उनको आधुनिक संज्ञाओं को एक सारणी में देते हैं :–

साम	आधुनिक
क्रुष्ट	मध्यम (म)
प्रथम	गांधार (ग)
द्वितीय	ऋषभ (रे)
तृतीय	षड्ज (स)
चतुर्थ	निषाद (नि)
मंद्र	धैवत (ध)
अतिस्वार्य	पंचम (प)

सामगान के प्रायः सात भाग होते हैं :– हुंकार अथवा हिंकार, प्रस्ताव, आदि उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इसके मुख्य गायक को उद्गाता कहते हैं। उद्गाता के दो सहायक गायक होते हैं जिनको प्रस्तोता और प्रतिहर्ता कहते हैं। गान एक हिंकार अथवा हुंकार से प्रारंभ होता है जिसका उच्चार उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता एक साथ करते हैं। उसके मुख्य भाग को उद्गाथ कहते हैं। इसे उद्गाता गाता है। इसके अनंतर एक भाग होता है जिसे प्रतिहार कहते हैं। इसे प्रतिहर्ता गाता है। इसके अनंतर जो भाग आता है उसे उपद्रव कहते हैं। इसे उद्गाता गाता है। निधन या अंतिम भाग को उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता तीनों एक साथ मिलकर आते हैं। अंत में सब एक साथ मिलकर प्रणव अर्थात् ओंकार का सस्वर उच्चारण करते हैं।

सामगान की स्वरलिपि :–

सामगान की अपनी विशिष्ट स्वरलिपि (नोटेशन) है। लोगों में एक भ्रांत धारणा है कि भारतीय संगीत में स्वरलिपि नहीं थी और यह यूरोपीय संगीत का परिदान है। सभी वेदों के सस्वर पाठ के लिए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विशिष्ट चिह्न हैं किंतु सामवेद के गान के लिए ऋषियों ने एक पूरी स्वरलिपि तैयार कर ली थी। संसार भर में यह सबसे पुरानी स्वरलिपि तैयार कर ली थी।

महाकाव्य काल में संगीत :–

वाल्मीकि रामायण में भेरी, दुंदुभि, मृदंग, पटह, घट, पणव, डिंडिम, आडंवर, वीणा इत्यादि वाद्यों और जातिगायन का उल्लेख मिलता है। जाति, राग का आदिरूप है। महाभारत में सप्त स्वरों और गांधार ग्राम का उल्लेख आता है। महाजनक जातक (लगभग 200 ई. पू.) में चार परम महाशब्दों का उल्लेख है। इन्हें राजा उपाधि रूप में विद्वान् को प्रदान करता था।

पुरनानूरू और पत्तुपाटटु (100–200 ई.) नामक तमिल ग्रंथों में अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) वाद्यों का बहुत महत्व दिया गया है। ऐसे वाद्य का विशिष्ट स्थान होता था जिसे 'मुरसुकट्टिल' कहते थे। तमिल के परिपादल (100–200 ई.) ग्रंथ में स्वरों और सात पालइ का उल्लेख है। 'पालइ' मूर्छना से मिलता है। उसमें 'याल' नामक तंत्री वाद्य का भी उल्लेख है। 'याल' के एक प्रकार में एक सहस्र तक तार होते थे।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र :–

भारतीय संगीत का जो सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है वह है भरत का नाट्यशास्त्र। भरत के काल के विषय में विवाद है। यह एक संग्रह ग्रंथ है। इसलिए इसके काल का निर्णय करना और कठिन हो गया है। विद्वान् लोग इसका काल लगभग ई. पू. 500 से 400 ई. तक मानते हैं। नाट्यशास्त्र में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, जाति और ताल का विशद विवेचन किया गया है। भरत ने श्रुतियों का विचार स्वर की स्थापना के लिए किया है। उन्होंने 4 श्रुतियों के अंतराल पर षड्ज रखा है, उसके अनंतर 3 श्रुतियों के अंतराल पर ऋषभ, 2 श्रुतियों के अंतराल पर गांधार, 4 श्रुतियों के अंतराल पर मध्यम, फिर 4 श्रुतियों के अंतराल पर पंचम, 3 श्रुतियों के अंतराल पर धैवत और 2 श्रुतियों के अंतराल पर निपाद रखा है। इस प्रकार श्रुतियों की कुल संख्या 22 मानी है। भरत ने षड्जग्राम और मध्यमग्राम ऐसे दो ग्राम माने हैं। ऊपर जो श्रुतियों का अंतराल दिया है वह षड्ज ग्राम का है। यह ग्राम षड्ज से प्रारंभ होता है। इसलिए इसका षड्जग्राम नाम पड़ा। जो ग्राम मध्यम से प्रारंभ होता है उसका नाम है 'मध्यम ग्राम'। मध्यम ग्राम में मध्यम चतुःश्रुति, पंचम त्रिश्रुति, धैवत चतुश्रुति, निषाद द्विश्रुति, षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति, एवं गांधार द्विश्रुति होता है। गांधार ग्राम भरत को मान्य नहीं है।

भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों की भूमिका एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :–

शोध पत्र सारांश :–

भारतीय संगीत प्राचीनकाल से ही अपनी समृद्धि एवं श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारतीय संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य तीनों कलाओं में ताल की विशिष्ट भूमिका मानी गयी है। लय व ताल के बिना स्वरोत्पत्ति सम्भव नहीं है। आदिग्रंथों के आधार पर वाद्यों के चार प्रकार माने गये हैं। तत, सुषिर, अवनद्ध, और घन, इनमें से अननद्ध वाद्यों की संगीत में विशिष्ट भूमिका है। प्राचीन ग्रंथों मे अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक काल में संगीत के लिखित रूप का प्रमाण मिलता है। रामायण काल तथा महाभारत काल में विभिन्न अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख मिलता है। जैसे– मृदंग, पणव, दुन्दुभी, हुडुक, ढोल, ढोलकी आदि।

प्रस्तावना :–

आदिकाल से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से संगीत विद्यमान है। एलोरा तथा एलिफेन्टा की चित्रकारी एवं मोहनजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशष इस बात के साक्षात प्रमाण हैं, कि आदि काल से मानव गीतरत था। संगीत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन काल से जुड़ा हुआ है। वैदिक युग में भी सामवेदीय ऋचाओं का गान, विविध प्रकार के वाद्य–यन्त्रों सहित किया जाता था। समय के साथ–साथ वाद्यों में भी परिवर्तन आने लगा।

शोध समस्या :– भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों की भूमिका एवं उसके ऐतिहासिक पक्ष को शोध द्वारा जन सम्मुख प्रस्तुत करना।

की–वर्डस :– अवनद्ध वाद्य (अर्थात् ऐसे वाद्य जो कि चमड़े द्वारा मढ़े होते हैं तथा उसमें आघात करने से ध्वनि की उत्पत्ति होती है)

शोध प्रविधि :– प्रस्तुत शोध पत्र की प्रविधि वर्णनात्मक है।

शोध रूपरेखा :– विभिन्न ग्रंथों में उल्लिखित प्राप्त सामग्री द्वारा शोध कार्य को प्रमाणिक बनाने का प्रयास किया गया है।

भारतीय संगीत प्राचीन काल से ही अपनी समृद्धि एवं श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध रहा है। हमारे संगीत का

इतिहास सदा से ही अनूठा रहा है। भारतीय संगीत में गायन, वादन, नृत्य तीनों कलाओं का सुन्दर समावेश प्राचीन समय से ही माना गया है। इन तीनों कलाओं में ताल की विशिष्ट भूमिका मानी गयी है। विभिन्न प्रकार की तालों से तथा भिन्न–भिन्न लयों के प्रयोग से संगीत में रसों का संचार होता है तथा आनन्द की सृष्टि होती है। ताल मनुष्य की अभिव्यक्ति को सार्थक बनाती है।

पखावज :–

पखावज भारत का विशेष अवनद्ध वाद्य है। मृदंग व पखावज एक ही वाद्य के दो नाम हैं अथवा इस पर विद्वानों के मतभेद हैं। संगीत एवं साहित्य के ग्रंथों में प्राचीन काल से ही मृदंग का उल्लेख मिलता है, लेकिन पखावज का उल्लेख 15वीं शताब्दी से पहले नहीं मिलता है।

कहा जाता है कि अमीर खुसरों पखावज बजा रहे थे, उसी समय यह दो टुकड़ों में टूट गया। तब उन्होंने इन टुकड़ों को बजाने की कोशिश की, इस प्रकार तबले का जन्म हुआ। यह उत्तरी भारतीय शैली का ढोलक (ड्रम) है। यह मृदंग के आकार प्रकार का परन्तु उससे कुछ छोटा एक प्रकार का बाजा है।

भेरी :–

भेरी नामक कोणाकार चर्म से बना हुआ अवनद्ध वाद्य, आपत्तिजनक स्थिति में बजाये जाने को दिया जाने वाला वाद्य है जो कि पहरेदारों, चौकीदारों को विशिष्ट अवसरों पर बजाने के लिए दिया जाता था।

नौबत :–

प्राचीन काल में रात्रिकाल में नौबत नामक अवनद्ध वाद्य बजाये जाने की प्रथा थी।

मृदंग :–

पुराणों में मृदंग की उत्पत्ति के विषय में वर्णन मिलता है। देवाधिपति महादेव ने सतयुग में महाबली त्रिपुरासुर का घोर संग्राम में विनाश करके इन्द्र और अन्य देवताओं के सम्मुख, आनन्द से नृत्य किया था।

ढोल :–

प्राचीन ग्रंथों में ढोल वाद्य का निर्माण नहीं मिलता है। ढोल अनेक प्रकारों का तथा अनेक आकारों में होते हैं। कुछ जनजातियों में ढोल को छड़ी से बजाया जाता है। ढोल के मुखों पर चमड़ा मढ़ा होता है। गौंड जाति के लोग इसे दुमड़ी, मुरिया लोग 'परंग ढोल', दंडकारण्य में 'गांगा ढोल', भील और कोरकू लोगों में इसे केवल ढोल कहते हैं। महाराष्ट्र में बजने वाली नाल, तमिलनाडु का पम्बे, आंध्र प्रदेश का पम्बा, कर्नाटक और केरल का चेंग, असम में खोल, मणिपुर में पुंग आदि ढोल समान वाद्य है।

तबला :–

ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व की मेसोपोटामियन संस्कृति में 'तबालु' नामक प्राचीन तालवाद्य का उल्लेख मिलता है। बाद में यही तबालु सीरियन संगीत में स्पष्ट रूप से तबला कहलाया, जो रोम में मशहूर हुआ। अनुमान है कि अरेबियन 'तुबल', 'तब्ल' (अत्तबुल), 'अ–तब्ल', 'अतबल', 'अन्तबल', 'तिन्बूर', 'तुबुल' और तबला (डग्गा) इसी संस्कृति की देन है।

निष्कर्ष :–

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है की प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से विभिन्न ज्ञानवर्धक तथ्य प्राप्त हुए हैं । विभिन्न प्रमाणों के द्वारा, अवनद्ध वाद्यों का गहन अध्ययन किया गया है। मानव सभ्यता के विकास के

साथ–साथ अवनद्ध वाद्यों के क्रमिक विकास पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

संगीत :-

सुव्यवस्थित ध्वनि, जो रस की सृष्टि करे, संगीत कहलाती है। गायन, वादन व नृत्य तीनों के समावेश को संगीत कहते हैं। संगीत नाम इन तीनों के एक साथ व्यवहार से पड़ा है। गाना, बजाना और नाचना प्रायः इतने पुराने है जितना पुराना आदमी है। बजाने और बाजे की कला आदमी ने कुछ बाद में खोजी–सीखी हो, पर गाने और नाचने का आरंभ तो न केवल हजारों बल्कि लाखों वर्ष पहले उसने कर लिया होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। गायन मानव के लिए प्रायरू उतना ही स्वाभाविक है जितना भाषण। कब से मनुष्य ने गाना प्रारंभ किया, यह बताना उतना ही कठिन है जितना कि कब से उसने बोलना प्रारंभ किया है। परंतु बहुत काल बीत जाने के बाद उसके गायन ने व्यवस्थित रूप धारण किया।

संगीत पद्धतियाँ :-

1. उत्तरी राजस्थान संगीत पद्धति
2. दक्षिणी संगीत पद्धति

इतिहास :-

युद्ध, उत्सव और प्रार्थना या भजन के समय मानव गाने बजाने का उपयोग करता चला आया है। संसार में सभी जातियों में बाँसुरी इत्यादि फूँक के वाद्य (सुषिर), कुछ तार या ताँत के वाद्य (तत), कुछ चमड़े से मढ़े हुए वाद्य (अवनद्ध या आनद्ध), कुछ ठोंककर बजाने के वाद्य (घन) मिलते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारत में भरत के समय तक गान को पहले केवल श्गीतश कहते थे। वाद्य में जहाँ गीत नहीं होता था, केवल दाड़ा, दिड़दिड़ जैसे शुष्क अक्षर होते थे, वहाँ उसे 'निर्गीत' या 'बहिर्गीत' कहते थे और नृत्त अथवा नृत्य की एक अलग कला थी। किंतु धीरे–धीरे गान, वाद्य और नृत्य तीनों का 'संगीत' में अंतर्भाव हो गया – गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगतमुच्यते।

भारत से बाहर अन्य देशों में केवल गीत और वाद्य को संगीत में गिनते हैं। नृत्य को एक भिन्न कला मानते हैं। भारत में भी नृत्य को संगीत में केवल इसलिए गिन लिया गया कि उसके साथ बराबर गीत या वाद्य अथवा दोनों रहते हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि स्वर और लय की कला को संगीत कहते हैं। स्वर और लय गीत और वाद्य दोनों में मिलते हैं, किंतु नृत्य में लय मात्र है, स्वर नहीं। हम संगीत के अंतर्गत केवल गीत और वाद्य की चर्चा करेंगे, क्योंकि संगीत केवल इसी अर्थ में अन्य देशों में भी व्यवहृत होता है।

व्युत्पत्ति :-

'संगीत' शब्द 'सम्ग्र' धातु से बना है। अन्य भाषाओं में 'सं' का 'सिं' हो गया है और 'गै' या 'गा' धातु (जिसका भी अर्थ गाना होता है) किसी न किसी रूप में इसी अर्थ में अन्य भाषाओं में भी वर्तमान है। ऐंग्लो सैक्सन में इसका रूपान्तर है 'सिंगन' (singan) जो आधुनिक अंग्रेजी में 'सिंग' हो गया है। आइसलैंड की भाषा में इसका रूप है 'सिग' (singja), (केवल वर्ण विन्यास में अन्तर आ गया है,) डैनिश भाषा में है 'सिंग (Synge), डच में है 'त्सिंगन' (tsingen), जर्मन में है 'सिंगेन' (singen)। अरबी में 'गना' शब्द है जो 'गान' से पूर्णतः मिलता है।

सर्वप्रथम 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में गायन, वादन और नृत्य के मेल को ही 'संगीत' कहा गया है। वस्तुतः 'गीत' शब्द में 'सम्' जोड़कर 'संगीत' शब्द बना, जिसका अर्थ है 'गान सहित'। नृत्य और वादन के साथ किया

गया गान 'संगीत' है। शास्त्रों में संगीत को साधना भी माना गया है।

भारतीय संगीत :–

भारतीय संगीत का एक सबसे बड़ा संगीत का स्रोत सामवेद को भी माना जाता है सामवेद पूरा का पूरा संगीत का ही ज्ञान है।

संगीत एक प्रकार का योग है। इसकी विशेषता है कि इसमें साध्य और साधन दोनों ही सुखरूप हैं। अतः संगीत एक उपासना है, इस कला के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति होती है। यही कारण है कि भारतीय संगीत के सुर और लय की सहायता से मीरा, तुलसी, सूर और कबीर जैसे कवियों ने भक्त शिरोमणि की उपाधि प्राप्त की और अन्त में ब्रह्म के आनन्द में लीन हो गए। इसीलिए संगीत को ईश्वर प्राप्ति का सुगम मार्ग बताया गया है। संगीत में मन को एकाग्र करने की एक अत्यन्त प्रभावशाली शक्ति है तभी से ऋषि मुनि इस कला का प्रयोग परमेश्वर का आराधना के लिए करने लगे।

संगीत की शैलियाँ :–

1.	ध्रूवपद	2.	धमार	3.	ख्याल
4.	ठुमरी	5.	भजन	6.	गजल

संगीत सुनने के लाभ

तनाव कम होता है :–

आज कल हर इंसान की जिंदगी दौड़ धूप से भरी रहती है। काम करते करते हम बुरी तरह से थक जाते हैं। जब संगीत सुनते हैं तो हमारा दिमाग रिलेक्स मोड के अंदर आता है। हमारे दिमाग मे नई एनर्जी का संचार होता है व हम अच्छा फील करते हैं। संगीत हमारे मूड को बदल देता है। संगीत दिमाग मे कार्टिसोल के स्तर को कम करता है। जिससे दिमाग बेहतर तरीके से काम करता है।

दिमाग की नसों को आराम मिलता है :–

काम की वजह से दिमाग की नसे ज्यादा थक जाती हैं। संगीत सुनने से दिमाग को आराम मिलता है जहां पर कई बार दवाएं काम नहीं करती हैं। वहां म्यूजिक थैरेपी काम करती है। स्वर–तरंगें संगीत का रूप लेकर जीवन दायनी सामर्थ्य उत्पन्न करती हैं।

दर्द कम करने मे लाभप्रद :–

कुछ वैज्ञानिक शोध यह बताते हैं कि जब इंसान किसी तरह के दर्द से पीड़ित होता है तो उसे उसका मन पसंद संगीत सुनाया जाना चाहिए। जिससे उसका ध्यान दर्द से हट जाता है। और उसे दर्द का एहसास कम होता है। संगीत सुनने से दिमाग मे डोपामाइन का स्तर अधिक होता है। जो खुशी पैदा करता है।

सांस से संबंधित समस्याओं को दूर करने के लिए :–

अमेरिका वैज्ञानिकों के अनुसार संगीत थेरैपी फेफड़ों के लिए काफी अच्छी रहती है। सांस से संबंधित रोगी को संगीत थैरेपी से ईलाज करने से फायदा मिलता है। लेकिन गम्भीर सांस के रोग इससे सही नहीं हो पाते हैं।

स्मृति ह्रास (मेमोरी लॉस) को कम करता है :–

जिन लोगों की यादाश्त अच्छी नहीं होती है। उनको संगीत सुनना चाहिए। जिससे उनकी यादाश्त अच्छी

हो जाती है। और दिमाग काफी बेहतर तरीके से काम करने लग जाता है।

हृदय के लिए भी संगीत अच्छा है :–

संगीत का उद्‌भव व विकास –

संगीत का विकास मानव जाति के विकास से जुड़ा है। इसलिए संगीत का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन मानव सभ्यता का इतिहास। सभ्यता के विकास के साथ–साथ संगीत भी उन्नत होता रहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में जब मानव का उद्‌भव इस पृथ्वी पर हुआ, तो वह असभ्य व जंगली था, किन्तु संगीत से उसे प्रेम था, क्योंकि संगीत उसके अंतःकरण में निहित था। कण्ठ मानव के लिए ईश्वर की एक सहज और स्वभाविक देन है। यही उसके गीत एवं वाद्य के निर्माण को तथा उसके स्वर क्षेत्र को निर्धारित करता है। मनुष्य में अन्य जंगली प्राणियों की अपेक्षा सोचने व समझने के लिए बुद्धि थी और उसने अपनी बुद्धि के बल पर प्राकृतिक व पशु–पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण अपने कण्ठ से किया, तथा प्रारम्भ में मनुष्य को संगीत की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई। आदिमानव का चिल्लाना, रोना, हँसना, नृत्य करते समय उछलना, कूदना व अपने नंगे शरीर के विभिन्न अंगो पेट, छाती, जाँघ में हाथों द्वारा आघात करके ध्वनि निकालना आदि ये सभी ऐसी स्वाभाविक क्रियायें थी, जिन्होंने संगीत रचना की कहानी को एक प्रारम्भिक रूप दिया।

सन्दर्भ :–

1. मित्तल अंजलि, भारतीय सभ्यता और संस्कृति, पृ0 55
2. सिंह डॉ० ठाकुर जय देव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 3
3. सिंह डॉ० ठाकुर जय देव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 4
4. संगीत दपर्ण, श्लोक, 14, 15, पृ0 4
5. संगीत दपर्ण, श्लोक, 14, 15, पृ0 4
6. मिश्र लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, पृ0 5
7. वही पृ0 5

षड्‌जं वदति मयूरः पुनः स्वरमृषभ चातको ब्रूते।
गान्धाराख्यं छागो निगदति च मध्यमं क्रौंचः
गदति पंचममचिंतवाक् पिको रटति धैवतमुन्मददर्दुरः
शृण समाहतमस्त ककुजंरो गदति नासिकया स्वरमत्तिमम्।। संगीत दर्पण

ई–मेल – desaishishir7@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 247-252

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

कला एवं संस्कृति संचार के मुख्य माध्यम

सोनिका गुप्ता

शोध छात्रा (समाज शास्त्र), छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर (उ0प्र0)

भारत में पिछले वर्षों में शिक्षा के विकास पर लगातार जोर दिया जाता रहा है। गाँवों में, शहरों में तेजी से शिक्षा के आधुनिकीकरण, सामुदायिक विकास और प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में जनसंचार माध्यम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुये है। शिक्षा ने विज्ञान को जन्म दिया है और विज्ञान ने जनसंचार साधनों को आधुनिक युग में शिक्षा एवं जनसंचार के माध्यम दोनों ही राष्ट्रीय विकास के लिये विशेष महत्व रखते है।

राष्ट्रीय विकास में जनसूचना की महत्वपूर्ण भूमिका है हमें हर कदम पर इसकी आवश्यकता पड़ती है और इसे हमेशा एक महत्वपूर्ण निवेश माना गया है। पंचवर्षीय योजनाओं में पहली पंचवर्षीय योजना के समय ही इसके महत्व को स्वीकार किया गया और यह कहा गया कि विकास की प्रक्रिया में जनता की भागीदारी प्राप्त करने के लिए विकास कार्यक्रमों सम्बन्धी जानकारी जनता को उसी भाषा में दी जानी चाहिए। पिछड़े निरक्षर वर्ग और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए सूचना एवं संचार तकनीकि की रणनीति तैयार करते समय भाषा, संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक और बुनियादी सुविधाओं आदि पर विचार किया गया। विकास कार्य के लिये प्रयासरत विशेषज्ञों का भी यह मानना है कि निरक्षर एवं पिछड़े ग्रामीण वर्ग के व्यक्तियों तक संचार एवं सूचना के माध्यमों से पहुँचने वाले संदेश अक्षर ज्ञान के अभाव में अपना उद्देश्य खो देते है। विकास योजनाओं की सफलता हेतु अब विकास प्रक्रिया के नये दृष्टिकोण में मनुष्य पर जोर दिया जाता है और समग्र मानव विकास पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसलिये अब विकास कार्यक्रम तभी प्रासांगिक हो सकते है जब लोगों को शामिल करके, उनका पूरा सहयोग लेकर और उन्हें उसमें भागीदार बनाकर उसे कार्यान्वित किया जाये। प्रस्तुत शोध इसी ध्येय को प्राप्त करने हेतु किया जा रहा है।

जनसामान्य तो लगभग 70 प्रतिशत मौखिक संचार करते है। श्रवण, वार्ता, पठन, पाठन, लेखन में भाषा का प्रयोग होता है। भाषा संचार प्रक्रिया का संकेत है जिसके द्वारा समाज में संचार स्थापित होता है। इसके अतिरिक्त अंग संचालन से भी विचारों की अभिव्यक्ति की जा सकती है। उद्योगों के प्रचार–प्रसार एवं सेवाओं की सूचना, विज्ञापन आदि अनेक क्षेत्रों में उत्तम प्रबन्ध की भूमिका निर्वहन संचार द्वारा होता है। सभा, गोष्ठी, साक्षात्कार एवं दृश्य–श्रव्य माध्यमों द्वारा संचार कार्य अत्याधिक सरल हो जाता है।

अध्ययन की आवश्यकता :–

भारतीय संविधान एवं योजना आयोग ने राष्ट्रीय पुर्नरचना के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जन–सहभागिता पर बल दिया था। इसका सीधा तात्पर्य यह था कि संचार माध्यमों पर एक बड़ी जिम्मेदारी सौपी गई। संचार

माध्यमों का तेजी से विकास हुआ विद्युत संचालित संचार माध्यम चित्रपट, रेडियो एवं टेलीविजन ने सम्प्रेषण को एक नई दिशा प्रदान की, लेकिन इसके बावजूद देश के विकास हेतु जन–सहभागिता प्राप्त करने में क्या वास्तव में सफलता मिली? गरीब तबके के लोगों के बीच गरीबी एवं निरक्षरता की सीमा रेखा बढ़ती गई। इन आधुनिक माध्यमों के संप्रेषण की विशाल क्षमता को देखते हुये विविधता एवं विषमता वाले देश में इनका प्रभाव समान रूप से समान गति से दिखाई नहीं दिया। एक और सम्पन्न वर्ग अधिक सम्पन्न हुआ, उनको योजनाओं का लाभ मिला और दूसरी और, गरीब वर्ग अधिक गरीब होता गया। उनको योजनाओं की सही जानकारी नहीं हो पाई। आज आधुनिक संचार माध्यम इस देश के विकास को गति देने में सफल क्यों नहीं हो सके। इस बात पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाये, तो हम इस निष्कर्ष पर निश्चित ही पहुंचेगे कि इस विधि का उचित उपयोग करने में कही बड़ी भारी भूल कर रहे है, अथवा हम सभी परिप्रेक्ष्य में संचार माध्यमों का उपयोग नहीं कर पा रहे है।

संचार माध्यम :–

संचार के माध्यम का तात्पर्य उस माध्यम अथवा साधन से है जिसके द्वारा एक अथवा एक से अधिक व्यक्ति दूसरे अथवा अन्यों को अपने विचार, भावना, इच्छा/अनिच्छा, तथ्यों, पक्षों को पहुँचा सके, संचार का तात्पर्य एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा एक से दूसरे को पहुँचाने से है और माध्यम का तात्पर्य उस सहायक साधन से है जिसके द्वारा उपलब्ध मनोभावना अथवा तथ्यों को प्रेषित किया जा सके।

भोजन वस्त्र तथा आवास के साथ–साथ इस सांसारिक जीवन में एक मौलिक आवश्यकता है अपनी मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति करना तथा अपने स्वजनों के साथ वार्तालाप करना। भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा विचारों का आदान–प्रदान मनुष्य के जीवन में जीवन पर्यन्त चलता रहता है और सभी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियां (आँख, कान, नाक, त्वचा एवं जिह्वा) मनुष्य को इस कार्य में सहायता प्रदान करती है।

संचार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक लोगों के बीच विचारों, अनुभवों, तथ्यों और प्रभावों का इस प्रकार से आदान–प्रदान होता है जिसमें दोनों के संदेश के बारे में सामान्य ज्ञान होता है। संचार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सम्प्रेषक और संग्राहक के बीच सामंजस्य स्थापित हो, जागरूकता उत्पन्न हो। यह सम्प्रेषण एक ऐसी कार्यवाही है जिसके द्वारा जनता के ज्ञान, विचार अभिवृत्ति को बनाया जाता है या परिवर्तित किया जाता है।

संचार के क्षेत्र में जैसे–जैसे प्रगति हुई मानव जीवन में वैसे–वैसे परिवर्तन होता रहा। भाषा का विकास होते ही मौखिक संचार ने मानव को मानव बनाया तथा उसकी संस्कृति और परम्परा को स्थायित्व दिया। लिपि का आविष्कार संचार क्षेत्र की एक बड़ी क्रान्ति थी। पत्तों, पत्थरों, चमड़े, वस्त्र पर लिखकर मानव ने अपने संचित ज्ञान को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाया। कागज के निर्माण और मुद्रण ने ज्ञान को सर्वसुलभ बना दिया। इसके पश्चात तार, दूरभाष, आकाशवाणी एवं दूरदर्शन ने मनुष्य की क्षमताओं को अति विस्तृत कर दिया।

जनसंचार के माध्यम सभ्यता और संस्कृति के प्रहरी और पोषक है। उनकी उपयोगिता निम्नवत् है–

सूचना :–

विश्व की घटनाओं, समाज की गतिविधियों और व्यक्ति के कृत्यों की सूचना को जन–जन तक पहुंचाने का कार्य जनसंचार माध्यम का है। जनसामान्य की समस्याओं को शासन तक, शासन की उपलब्धियों को जनता

तक पहुंचाकर पारस्परिक सद्भाव जगाने का कार्य जनसंचार माध्यम का है। अद्यतन आविष्कारों, विकास सम्बन्धी सूचनाओं द्वारा जनसंचार के माध्यम पाठकों और श्रोताओं को प्रबुद्ध बनाते है।

मनोरंजन :-

संचार के विविध माध्यम जनसामान्य का मनोरंजन और मानसिक उन्नयन करते है। सामाजिक तनाव, व्यक्तिगत द्वेष को मिटाकर स्वस्थ मनोरंजन का प्रस्तुतिकरण जनसंचार माध्यमों द्वारा सम्भव है।

गतिशीलता :-

राजनीति परिवर्तन, आर्थिक विकास और सांस्कृतिक पुर्नरचना हेतु संचार माध्यम प्रभावकारी अभियान चलाते है। संचार द्वारा सामूहिक क्षमता का विकास होता है। विकास के लिये न्याय और व्यवस्था का वातावरण अपेक्षित है जो संचार साधनों से सुलभ हो सकता है। नियोजन निपुणता और मानवीय सम्बन्धों का प्रबन्ध विकास के लिए महत्वपूर्ण है। विकास के प्रत्येक क्षेत्र में आगामी और पूरक भूमिकाओं के निर्वाहन द्वारा संचार साधन अनुकूल वातावरण बनाते है तथा योजनाओं के कार्यान्वन में सहायक सिद्ध होते है।

संचार का विकास :-

आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व जब वर्णमाला या भाषा का विकास नहीं हुआ था तब आदिम युग से ही मनुष्य अपने अन्य साथियों से अपनी संवेदनाओं, विचारों एवं धारणाओं की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के संकेतों एवं प्रतीकों द्वारा करता रहा है। इन संकेतों अथवा प्रतीकों से व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह परिचित थे, इसीलिए सम्प्रेषित संवेदनाओं, विचारों एवं धारणाओं का अर्थ वे तुरंत समझ लेते थे। आदिम युग में जब भाषा का विकास नहीं हुआ था तब मनुष्य ने अपने संवेग या भावनाओं को व्यक्त करने के लिए संकेत या मुद्रा का सहारा लिया और अपनी भावना को शैल चित्रों में उकेरकर उसे अभिव्यक्त किया। पहाड़ों की गुफाओं में इसके प्रमाण मिलते है।

आदिम काल में जब मनुष्य छोटे–छोटे समूहों में कबीलों के रूप में दूर–दूर रहते थे तब वे अपनी सामाजिक समस्याओं के संचार के लिए ढोल की ध्वनि से अपनी भावना संप्रेषित करते थे। ढोल की विशिष्ट ध्वनि के संप्रेषण से इन कबीलों में इस बात का संचार हो जाता था कि अमुक कबीले में किसी की मृत्यु हुई है अथवा किसी का जन्म हुआ है। तब संचार के साधन सीमित थे। संचार माध्यमों का जब विकास नहीं हुआ था तब दो जहाजों के बीच झंडों को विशिष्ट प्रकार से हिलाकर संदेश का आदान–प्रदान किया जाता था। संचार एवं उपयोग के विकास का अनुमान प्राचीन शैल चित्रों से लगाया जा सकता है। सम्भवत् संचार का विकास उर्वरक के कर्मकाण्डो से ही हुआ हो। मानव जब भी खेतों में अनाज बोता और उसे काटता तो वह अपने प्रयासों की सफलता को किसी न किसी उत्सव में प्रदर्शित करता। मानव की यह मूल प्रवृत्ति है कि उसे वही सुहाता है जो वह वास्तविकता में प्राप्त कर सकता है। मानव की इसी मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति ने नाट्य एवं कठपुतली कला को जन्म दिया, जो जनसंचार की सशक्त माध्यम बनी।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने सुख–दुःख दूसरों से बांटना चाहता है। उसे अपने ही लोगों में रहना अच्छा लगता है। समाज में रहकर वह अपना विकास करना चाहता है। उसके पास मस्तिष्क हैं वह संकेतों प्रतीकों, एवं ध्वनि से संतुष्ट नहीं रहा। उसने अपने क्षेत्र में रहकर अपने ही लोगों के बीच संचार के माध्यम के लिए अपनी भाषा का विकास किया तथा उसके लिये वर्णमाला निर्मित की। उनको वह स्वयं समझता व जानता

था। अर्थात् भाषा संचार के एक सशक्त माध्यम के रूप में उभरकर सामने आई। रहन–सहन एवं संस्कृति की तरह भाषा पर भी भौगोलिक एवं ऐतिहासिक प्रभाव पड़ा। इसीलिये रहन–सहन रीति–रिवाज के समान क्षेत्र की अपनी भाषा में भी अंतर दिखाई देता है।

भाषा ने संचार एवं जनसंचार को एक नया आयाम दिया। जनसंचार के विभिन्न साधनों ने संचार के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति पैदा की। धीरे–धीरे जनसंचार का कार्य गीत एवं नाट्य मंडलियों द्वारा किया जाने लगा। कबूतरों ने भी जनसंचार के माध्यमों के रूप में अहम भूमिका निभाई। डाक एवं तार विभाग की स्थापना से संचार को एक नई दिशा मिली। आज सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट जैसे माध्यमों के आविष्कार ने जनसंचार के क्षेत्रों को विस्तार प्रदान किया।

सम्प्रेषक और संग्राहक के बीच सेतु ही संचार माध्यम है। संदेशों को जिस माध्यम से सम्प्रेषक संग्राहक के पास पहुंचाता है, वही संचार माध्यम है। वक्ता और श्रोता के बीच की सम्पर्क कड़ी ही संचार माध्यम है। ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर यदि संचार माध्यमों का हम वर्गीकरण करे तो वह स्थिति निम्नवत् होगी :–

संचार माध्यम

दृश्य साधन	श्रृव्य साधन	दृश्य–श्रृव्य साधन
1. पोस्टर	1. टेपरिकार्डर	1. टेलीविजन और प्रसारित कार्यक्रम
2. चार्ट	2. रेडिया (आकाशवाणी)	2. चलचित्र
3. समाचार–पत्र	3. लाउडस्पीकर	3. सिनेमा
4. फोटोग्राफ या चित्र	4. गाने या गीत	4. नृत्य
5. बोर्ड	5. कथायें	5. कठपुतली
6. कार्टून	6. टेलीफोन	6. नुक्कड़ नाटक
7. स्लाइड	7. मंच पर भाषण	
8. साहित्य	8. रैली, गोष्ठी, बैठक	

1. पुस्तक 2. ग्रन्थ 3. पत्रिकायें

9. तीज त्यौहार
10. डुग्गी पीटना
9. वेशभूषा या पहनावा
10. भाव–भंगिमाये
11. सांकेतिक चिन्ह
12. प्रेस विज्ञप्ति

उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त संचार माध्यमों का निम्नवत् भी वर्गीकरण किया जा सकता है :–

(अ) परम्परागत संचार माध्यम (ब) मुद्रित एवं लिखित संचार माध्यम (स) यांत्रिक संचार माध्यम

(अ) परम्परागत संचार माध्यम (Traditional Media) :– यह वह माध्यम है जिसका उपयोग मानव आदिकाल से जनसंचार के लिए करता आया है। धार्मिक उत्सव, त्योहार, जन्म–मरण अर्थात् सामाजिक सुख–दुख में घरों की विशेष सजावट, गाने–बजाने, लोक गीत, नाटक आदि के रूप में इनका विकास हुआ। धीरे–धीरे निश्चित भू–भाग की विशेषताओं पर आधारित मेले, त्योहार नाटकों, लोकगीतों, कठपुतली कला आदि के रूप में इनका विकास हुआ।

प्राचीन काल में मनोरंजन द्वारा शिक्षा ही प्रमुख रूप से परम्परागत संचार के माध्यम थे। पारम्परिक संचार माध्यम क्रमशः इस प्रकार से है :–

1. **सांस्कृतिक माध्यम :–**
    1. रीति–रिवाज
    2. त्योहार
    3. लोकोत्तियाँ
    4. पोषाकें
    5. लोक गीत
    6. कठपुतली कला
    7. चित्र कला
2. **लोक साहित्य माध्यम :–**
    1. कहानी
    2. कवितायें
    3. लोकोक्तियाँ
    4. मुहावरें
    5. नाट्य कला

उक्त सभी संचार माध्यम संदेश देने वाले और संदेश प्राप्त करने वाले के बीच एक भावनात्मक सेतु का काम करते हैं। ये सभी माध्यम संदेश देने वाले और संदेश पाने वाले की भाषा, वेशभूषा, संस्कृति सामाजिक स्थिति, व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्या, मानसिक एवं शैक्षणिक स्तर, सोच–समझ से भली–भाँति परिचित रहते हैं। इसलिये संदेश को वह पूर्ण संवेदना के साथ देने की क्षमता रखते है।

लोगों की भागीदारी के साथ के बिना एवं बिना किसी तामझाम के इनकी प्रस्तुति होती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मूल कथानक से हटकर समकालीन समस्याओं का समावेश कर पुनः मूल कथानक पर प्रस्तुति प्रारम्भ हो जाती है। कहीं–कहीं चरित्र में स्थानीय पात्रों के चरित्र के अभिनय की छवि दिखाकर सामाजिक सुधार का प्रयास भी होता है।

आंचलिक भाषा, वेशभूषा सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के अनुरूप इनके प्रदर्शन स्थानीय दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़ते है। इसलिये इनकी लोकप्रियता में कमी नहीं होने पाती। रामलीला एवं कृष्णलीला का प्रदर्शन आदि आज भी ज्ञात होने के बावजूद जन–जन में अति लोकप्रिय बना हुआ है। आज भी इनके प्रदर्शन में हजारों–लाखों की भीड़ आसानी से एकत्र हो जाती है।

(ब) मुद्रित संचार माध्यम :–

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम अपनी उपलब्धियों के छोटे–छोटे फोल्डरों गृह पत्रिकाओं, तकनीकि और गैर तकनीकि प्रकाशनों, लेखों, इत्यादि के माध्यम से प्रचारित कर सकते हैं। यहाँ पुनः ध्यान रखने योग्य है कि मुद्रण साम्रगी ऐसी भाषा में हो जो विशेष लक्ष्य के साथ जनसमूह को प्रभावित करने वाली हो। यह किसी स्थानीय भाषा में भी हो सकती है, जिसमें विषयों को कार्यात्मक चित्रों का उदाहरण देकर समझाया गया हो ताकि लोग सार्वजनिक उद्यमों की भूमिका समुचित रूप से मूल्यांकन कर सकें।

(स) यांत्रिक संचार माध्यम :–

यांत्रिक संचार माध्यमों के अन्तर्गत, टेलीविजन, फोन, कम्प्यूटर, रेडियो इत्यादि आते है। यांत्रित संचार माध्यमो में दो बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धियों की वजह से सूचना महामार्ग की दिशा में प्रगति सम्भव हो सकी है। ये है कम्प्यूटर और टेलीफोन (मोबाइल) के इलेक्ट्रानिक मिलन तथा आप्टिक फाइवर संचार प्रणाली का विकास, उनके विकास के परिणाम स्वरूप विश्व अथवा राष्ट्रीय स्तर पर किसी भी सूचना को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। रेडियों व टेलीविजन पर प्रसारित कार्यक्रम भी सूचना को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। रेडियो व टेलीविजन पर प्रसारित कार्यक्रम भी सूचना एवं संचार प्रक्रिया में प्रभावशाली भूमिका निभा रहें है।

उपसंहार :–

1 परम्परागत संचार माध्यमों का विकास मानव जीवन के सथ–साथ हुआ।

2. इन माध्यमों में मनुष्य का रहन–सहन, क्षेत्रीय भाषा कला संस्कृति तथा सामाजिक परिवेश का प्रभाव देखा जाता है।

3. शिक्षण पद्धति को सहज एवं ग्रहय बनाने में पारम्परिक संचार माध्यम महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

4. पारम्परिक संचार माध्यमों के प्रस्तुतीकरण में कम व्यय होता है।

5. पारम्परिक संचार माध्यम अन्य संचार माध्यमों की तुलना में निरक्षर वर्ग पर अधिक प्रभावी होते है।

6. स्वतंत्रता प्राप्ति आन्दोलन में ये संचार माध्यम हर वर्ग तक संदेश पहुंचाने में अधिक सहायक सिद्ध हुये है।

सन्दर्भ :–

1. अग्रवाल वीबाला (संपादक) : राष्ट्रीय संकट में मीडिया की भूमिका : रावत पब्लिकेशन, जयपुर : 1996

2. उपाध्याय राजीव जैन एवं डा0 मिश्रा अरविंद 'संचार माध्यमों के लिये विज्ञान कथा' भारतीय विज्ञान कला लेखक समिति, फैजाबाद, 2000

3. डॉ0 शर्मा श्री नाथ : 'जनसंचार और पत्रकारिता', आदित्य प्रकाशन, बीना (म0प्र0); 1997

4. डॉ0 शर्मा राकेश : 'संचार एवं सामाजिक परिवर्तन, 'आदित्य पब्लिशर्स, बीना (म0प्र0) ; 1998

5. बनर्जी अंजन कुमार (संम्पादक) : जनसंचार और विकास : पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी ; 1995

6. स्वप्निल सारस्वत : 'महिला विकास–एक परिदृश्य' नमन प्रकाशन, नई दिल्ली 2005

सोनिका गुप्ता, शोध छात्रा, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर (उ0प्र0)

मोबाइल नं0 : 9415408898, Gmail : sonika.aaditya6@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 253-257

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय कला एवं संस्कृति

सोनू बाला, शोधार्थी
डॉ. अनिल कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

भारतीय कला एवं संस्कृति यहां के नागरिकों के जीवन के विकास मूल्यों की सम्यक् संरचना है। यह समाज में निहित गुणों व आदर्शों के संपूर्ण रूप का नाम है जो उस समाज के लोगों द्वारा सोचने–समझने, कर्म करने, खाने–पीने, रहने–सहने, बोलने, नृत्य–गायन, साहित्य कला आदि में दृष्टिगोचर होती है।

डॉक्टर प्रसन्न कुमार आचार्य के अनुसार – "संस्कृति अथवा कल्चर मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार का द्योतक है जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना इसी विकास का परिणाम है।"[1]

कला एवं संस्कृति का अर्थ =

कला :–

भारतीय कला के अंतर्गत उन सभी क्रियाकलापों को समाहित किया जाता है जिसमें कौशल निहित है अन्य शब्दों में कहें तो कला एक प्रकार का कृत्रिम निर्माण है जिसमें शारीरिक व मानसिक दोनों तरह के कौशल प्रयोग किए जाते हैं। प्रारंभिक कला शब्द का प्रयोग भरतमुनि द्वारा लिखित रचना 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। इसके अलावा 'कामसूत्र' 'शुक्रनीति' प्रबंध कोश (जैनग्रंथ) व ललित विस्तार व कला विकास नामक भारतीय ग्रंथों में कला का वर्णन मिलता है परंपरागत रूप से जिसे कला में समाहित किया गया है वह स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत–नृत्य का व्यय रंग मंच आदि है। इसके अलावा आधुनिककाल में कॉमिक्स, फोटोग्राफी, विज्ञापन व चलचित्र आदि को भी कला के साथ जोड़कर देखा जाता है।

महात्मा गांधी के अनुसार– "कला आत्मा का ईश्वरयी संगीत है।"

रविंद्र नाथ टैगोर के अनुसार– "कला में मनुष्य स्वयं अपनी अभिव्यक्ति करता है।"

जयशंकर प्रसाद के अनुसार – "ईश्वर की कर्तव्य शक्ति का संकुचित रूप जो हमको भाव बोध के लिए मिलता है कला है।"

फ्राइड के अनुसार– "कला में मानव अपनी दमित वासनाओं तथा कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति करता है।"

प्लेटो के अनुसार– "कला सस्कृति की अनुकृति है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि कला एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग प्रकृति तथा मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में अलग–अलग रूपों में किया जाता है किंतु प्रकृति तो ईश्वरीय कला का रूप है जो पूर्णतया मानवीय क्रियाओं से अलग है कृत्रिम कला एक तकनीक, शिल्प, कौशल अभिव्यक्ति, अनुकृति, कल्पना,

ज्ञान अभिव्यक्ति, खेल आदि सभी रूपों में देखी जाती है।

संस्कृति :-

संस्कृति का शाब्दिक अर्थ उत्तम व सुधरी हुई स्थिति से है। संस्कृति किसी समाज में पाए जाने वाले उच्च मूल्यों व आदर्शों की वह चेतना है जो सामाजिक प्रथाओं, रीति रिवाज, चितवृतियों, भावनाओं, मनोवृतियों, रहन–सहन और आचरण के साथ–साथ उनके द्वारा भौतिक चीजों को विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है "अंग्रेजी भाषा में संस्कृति को 'कल्चर' शब्द से संबोधित किया जाता है जो लेटिन भाषा किए 'कल्ट या कल्ट्स' से लिया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है –विकसित करना या परिष्कृत करना।"[3]

दिनकर के अनुसार, 'संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। अथवा जिससे समाज में मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी है यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं यह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं इसलिए संस्कृ ति वह चीज मानी जाती है जो हमारे जीवन को लादे हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है।"[4]

रेडफील्ड के अनुसार, 'रेडफील्ड ने संस्कृति की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार उपस्थित की हैं, 'संस्कृति कला और उपकरणों में जाहिर परम्परागत ज्ञान का वह संगठित रूप है जो परम्परा के द्वारा संरक्षित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाता हैं।'[5]

श्री. कून के अनुसार, 'संस्कृति उन विधियों का समुच्चय है जिसमें मनुष्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सीखने के कारण रहता है।'[6]

भारतीय संस्कृति का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति समाज में राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करना है यह संस्कृति प्राचीन होने के बावजूद भी आज सुरक्षित है।

भारत में गीत–संगीत, नृत्य, नाटक कला, लोक परंपराओं, कला प्रदर्शन, धार्मिक संस्कार व अनुष्ठान, चित्रकारी एवं लेखन के क्षेत्रों में एक बहुत बड़ा संग्रह मौजूद है जो मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में जाना जाता है कला और संस्कृति का आपसी रिश्ता काफी गहरा है कला के द्वारा ही संस्कृति का हमारे जीवन में आगमन होता है कला अपने सांस्कृतिक सरोकारों के साथ आगे बढ़ती है। इनकी अभिव्यक्ति कला के विविध रूपों नृत्य, संगीत, नाटक, चित्रकला स्थापत्य कला, सिनेमा, फोटोग्राफी, साहित्य आदि में जीवंत होती है।

भारतीय कला और संस्कृति के विविध रूपों में दृश्य कला, कला प्रदर्शन, साहित्य कला को समाहित किया गया है जिसमें दृश्यकला के अंतर्गत मूर्ति, आर्किटेक्चर चित्र आदि को रखा जाता है। भारत में मूर्ति कला के दौरान प्रागैतिहासिक सिंधु घाटी सभ्यता, बौद्ध मूर्ति कला, गुप्त मूर्ति कला, मध्यकालीन व आधुनिक भारतीय मूर्ति कला का अध्ययन किया जाता है।

कला प्रदर्शन के अंतर्गत संगीत और नृत्य को सबसे ज्यादा महत्व दिया जाता है। संगीत शास्त्रीय, फिल्मी, लोकगीत, भारतीय रॉक और भारतीय पॉप आदि किस्मों को शामिल किया जाता है भिन्न किस्मों के चलते इसमें प्रयोग किए जाने वाले वाद्य यंत्र भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। सितार, तबला, सरोद, सारंगी, बांसुरी, ड्रम,

तंबूरा, तबला पंखाबज, हारमोनियम, बाजा, जल तरंगम, मृदंगम, घातम आदि के अलावा और भी वाद्ययंत्र है जो नृत्य व संगीत कला के क्षेत्र में व्यापक बढ़ावा देते हैं।

भारतीय साहित्य कला के अंतर्गत वैदिक पुराणों, शास्त्रीय, संस्कृत, प्रारंभिक द्रविड़, पाली और प्राकृत मध्यकालीन महिला भक्ति कवि, आधुनिक भारतीय साहित्य राष्ट्रवाद का उभार, राष्ट्रवाद, सुधारवाद और पुनरुत्थानवाद का साहित्य, गांधी का उद्‌भव प्रगतिशील साहित्य, स्वतंत्रता के बाद का साहित्य दृश्य, दलित साहित्य, पौराणिक कथाओं का उपयोग समकालीन साहित्य का अध्ययन किया जाता है।

रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' के उपसंहार में लिखते हुए कहा है कि प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने आप में पूर्ण होती है। उसके सभी अंश और सभी पहलू एक दूसरे पर अवलम्बित और सबके सब किसी केंद्र से संलग्न होते हैं। संस्कृतियां जब बदलती हैं, तब खान–पान, रहन–सहन और पोशाक भले ही बदल जाएं, किंतु उनका मन नहीं बदलता, सोचने की पद्धति नहीं बदलती और जीवन को देखने का दृष्टिकोण उनका एक ही रहता है। उपरोक्त बातों में हमें संस्कृति की परिभाषा की एक सूक्ष्म झलक मिलती है। भारत में लोक संगीत की समृद्ध परंपरा है। भारत में अत्यधिक विविधता के कारण लोक संस्कृति बहुत समृद्ध है।"[7]

असम – जिकर
अरुणाचल प्रदेश : जा–जिन–
जाबिहार : सोहर
छत्तीसगढ़ : भरतज्ञान
गोवा : सुवरी
गुजरात : डांडिया
मणिपुर : खोंजमपर्व
महाराष्ट्र : लावणी
मध्यप्रदेश : आल्हा
पंजाब : भांगड़ा
उत्तरप्रदेश : रसिया
तमिलनाडु : नट्टुपुरापट्टु

यह भारत के विभिन्न राज्यों के अलग–अलग जगह के अलग–अलग रिति रिवाज व संस्कृति के अनुसार संगीत कला है।

भारत अपनी विविधता के लिए जाना जाता है, भारत में कई नृत्य रूप हैं, प्रत्येक एक अलग राज्य, जनजाति, कलाकारों से संबंधित हैं।

उत्पत्ति	नृत्यरूप
छाऊ	ओडिशा
बिहु	असम

गरबा	गुजरात
धमाल नृत्य	हरियाणा
दुमहलर	जम्मू और कश्मीर
लावणी	महाराष्ट्र
भांगड़ा	पंजाब
चकरकूथु	केरल

विश्व रंग में भारतीय कला, संस्कृति, साहित्य, दर्शन एवं भारतीय अस्मिता को आत्मसात् किया गया। विश्व रंग में भारतीयता को प्राथमिकता देना कोई जड़ राष्ट्रीयता नहीं है। यहां भारतीयता वैश्विक संदर्भ से जुड़ी और अपने अनोखेपन में प्रकाशित भारतीयता है। विश्व कविता, कथा, उपन्यास सहित साहित्य की सभी विधाओं का उतना ही स्थान है जितना भारतीय साहित्य का।

भारतीय कला में प्राचीनतम संस्कृति या धर्म प्रधान, अन्नमिकता, परंपरा, प्रतीकात्मक रूपी विशेषताओं को शामिल किया जाता है। भारतीय कला का इतिहास अति प्राचीन है जिसमें चित्रकारी के प्रारंभिक उदाहरण प्रागैतिहासिक काल के हैं जिसमें व्यक्ति गुफाओं की दीवारों पर चित्र बनाया करता था। भीमबेटका की गुफा, अजंता और एलोरा की गुफा इसके बहुत ही शानदार उदाहरण है प्रागैतिहासिक काल में भारतीयों ने जंगली जानवरों बारहसिंघा, भालू, हाथी के चित्र बनाना सीख लिए थे।

भारतीय कला संस्कृति व धर्म प्रदान हो गई जिसमें धर्म को भारतीय कला का प्राण माना जाता है सदैव भारतीय कला धार्मिक, आध्यात्मिक भावना से अनुप्रमाणित रही है। प्रत्येक युग में धार्मिक कृतियों के साथ–साथ लौकिक व धर्मेतर कृतियों का विकास होता रहा है। क्योंकि भारतीय सामाजिक जीवन में इन्हें भी बराबर महत्व दिया गया है अनामकिता के दौरान देखे तो प्राचीन शिल्पियों और स्थापतियों ने अपना नाम और परिचय अधिकांशत गुप्त रखा क्योंकि सृजन कर्ता के नाम की बजाय निर्मित वस्तु या सृजन को ज्यादा महत्व दिया गया है भारतीय कला शाश्वत सत्य का प्रत ीक है "क्योंकि 'सत्यं शिवम् सुंदरम्' की भावना से युक्त होने के कारण उसमें नित्य नवीनता दिखती। क्षणे क्षणे यद् नवतामुपैतित दैवः पंरमणीयतायाः (जो क्षण–क्षण नवीन होता रहे यही रमणीयता है।)"[8]

ऐसे ही संस्कृति मनुष्य की उपलब्धियों का मूल्यांकन करती है और फिर उसे व्याख्यायित करती मनुष्य के श्रेष्ठ विचार एवं उत्तम भाव संस्कृति द्वारा ही प्रदत है लेकिन आधुनिक मनुष्य वास्तविक स्वरूप को। विस्मृत कर आडंबरों को महत्व देते हैं जिसमें संस्कृति के साथ–साथ मानवता का क्षरण होता है लेकिन खुद को इस प्रवृत्ति से बचाना होगा और हमारी संस्कृति को सुरक्षित करना होगा हमारे जो नैतिक मूल्य है वही हमारी संस्कृति की धरोहर है और भारतीय पारंपरिक जीवन दर्शन ऐसी नैतिकता का एक मूल्य मानवता का पाठ पढ़ाता है जिसके विदेशों में भी सराहना होती है और आधुनिक परिवेश में उसका अनुसरण किया जा रहा है पाश्चात्य का भारतीय संस्कृति पर भी प्रभाव देखा जा रहा है "स्वातंर्त्योत्तर भारत में भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव बड़ी मात्रा में दिखाई देता है.....इसका प्रभाव कई वर्षों में मध्यम वर्ग में तथा कुछ हद तक गांव में भी फैला है"।

लेकिन भारतीय संस्कृति की विशेषता देखी जाए तो तमाम बाधाओं को पार करके भी अपनी मौलिकता

को बचाए रखने में आज तक सफल है।

"डॉ. एस.एल. नागोरी ने भारतीय संस्कृति की प्राचीनता को स्पष्ट करते हुए लिखा है भारत की सभ्यता और संस्कृति विश्व की प्राचीन सभ्यताओं और संस्कृतियों में से एक है और विश्व की संस्कृतियों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है जिस समय संसार के अनेक देश अंधकारमय जीवन जी रहे थे उस समय भारत को विश्वगुरु माना जाता था।"[9] उपयुक्त कथन से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीनता और महानता के लिए सदैव ही प्रसिद्ध रही है भारतीय कला व संस्कृति का ऐसा जुड़ाव विश्व के अन्य देशों में नहीं दिखाई पड़ता।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. डॉ राम सजन पांडे, संतों की सांस्कृतिक संस्कृति से उद्धृत, पृष्ठ संख्या 11
2. https:/www.kailasheducation.com
3. https:/www.drishtiias.com
4. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ संख्या 53
5. https:/testbook.com
6. वहीं।
7. hi.m.wikipedia.org
8. मंजू शुक्ला, भारतीय सभ्यता और संस्कृति, पृष्ठ संख्या– 5, रितु पब्लिकेशन जयपुर –2012
9. डॉ. राधा कमल मुखर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृष्ठ संख्या –17

मो. 9518847054

Email id : balasonukkt@gmail.com

Ph. 9068394450

Email id : anil22panwar@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 258-262

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

IMPLEMANTATION OF RIGHT TO INFORMATION AND IMPACT ON Indian Law and Culture

Suman

Dept.of Poltical Science, University College of Basic Science & Humanities
Guru Kashi University, Talwandi Sabo (Punjab)

The Right to Information Act 2005 was passed by the UPA (United Progressive Alliance) Government with a sense of pride. It flaunted the Act as a milestone in India's democratic journey. It is five years since the RTI was passed; the performance on the implementation front is far from perfect. Consequently, the impact on the attitude, mindset and behaviour patterns of the public authorities and the people is not as it was expected to be. Most of the people are still not aware of their newly acquired power. Among those who are aware, a major chunk either does not know how to wield it or lacks the guts and gumption to invoke the RTI. A little more stimulation by the Government, NGOs and other enlightened and empowered citizens can augment the benefits of this Act manifold. RTI will help not only in mitigating corruption in public life but also in alleviating poverty- the two monstrous maladies of India.

The Government of India, based on the recommendations of the Chief Secretaries' conference on "Responsiveness in Government," appointed the Shourie Committee to suggest a draft RTI Bill. The draft, called the Freedom of Information Bill 2000 was passed into law in January 2003.But the law was not notified and finally repealed. In the mean time several State Governments had already passed their own versions of RTI Acts. For example, in 1997 the RTI was passed in two states Tamilnadu and Goa. Soon other states followed. By 2005, nine states had passed RTI but with the passing of RTI by the Union legislature, the State level RTI became redundant. The RTI Act 2005 applies to the whole of India except Jammu and Kashmir (J.K.), but J.K has its own RTI. Act. People in these states took recourse to the various provisions of transparency norms to obtain information held by the public bodies.

The Government of India, based on the recommendations of the Chief Secretaries' conference on "Responsiveness in Government," appointed the Shourie Committee to suggest a draft RTI Bill.

The draft, called the Freedom of Information Bill 2000 was passed into law in January 2003.But the law was not notified and finally repealed. In the mean time several State Governments had already passed their own versions of RTI Acts. For example, in 1997 the RTI was passed in two states Tamilnadu and Goa. Soon other states followed. By 2005, nine states had passed RTI but with the passing of RTI by the Union legislature, the State level RTI became redundant. The RTI Act 2005 applies to the whole of India except Jammu and Kashmir (J.K.), but J.K has its own RTI. Act. People in these states took recourse to the various provisions of transparency norms to obtain information held by the public bodies.

The Government of India, based on the recommendations of the Chief Secretaries' conference on "Responsiveness in Government," appointed the Shourie Committee to suggest a draft RTI Bill. The draft, called the Freedom of Information Bill 2000 was passed into law in January 2003.But the law was not notified and finally repealed. In the mean time several State Governments had already passed their own versions of RTI Acts. For example, in 1997 the RTI was passed in two states Tamilnadu and Goa. Soon other states followed. By 2005, nine states had passed RTI but with the passing of RTI by the Union legislature, the State level RTI became redundant. The RTI Act 2005 applies to the whole of India except Jammu and Kashmir (J.K.), but J.K has its own RTI. Act. People in these states took recourse to the various provisions of transparency norms to obtain information held by the public bodies.

Significance of the RTI Act :-

The RTI Act, 2005 empowers the citizen to question the secrecy and abuse of power practised in governance.

It is through the information commissions at the central and state levels that access to such information is provided.

RTI information can be regarded as a public good, for it is relevant to the interests of citizens and is a crucial pillar for the functioning of a transparent and vibrant democracy.

The information obtained not only helps in making government accountable but also useful for other purposes which would serve the overall interests of the society.

Every year, around six million applications are filed under the RTI Act, making it the most extensively used sunshine legislation globally.

These applications seek information on a range of issues, from holding the government accountable for the delivery of basic rights and entitlements to questioning the highest offices of the country.

Using the RTI Act, people have sought information that governments would not like to reveal

as it may expose corruption, human rights violations, and wrongdoings by the state.

The access to information about policies, decisions and actions of the government that affect the lives of citizens is an instrument to ensure accountability.

Social changes can be brought about by various methods. The social change can be brought by preaching of religions, by launching social reform movements like one done by Raja Ram Mohan Roy, Swami DayanandSarswati, Justice Ranade, Shahu Maharaj, Jotiba Phule, Gandhiji, and Dr. B.R. Ambedkar and other such prominent social thinkers. But such efforts have no legal obligations or force of law remedial measures in cases where individuals do not agree to a prescribed social behavior and conduct. Such optional. eweet will obedience was found not bearing desired fruits in right direction and therefore need arose to formulate laws purely to bring about social change prescribing and providing necessary penal mechanism in case of not confirming to change and violating provisions of such law which aimed at social change from extant social process as procedures and practices. A cursory quick look back on history of Dalits/ Scheduled Castes/Harijans/Depressed Class/Shudras/Anti-Shudras/ Antyajas as they were variously called or addressed contemptuously by fellow Indians will give an interesting scenario of social change that took place during the passage of time and would be of immense importance from this study's view point.

Every Seventh person in India is a Scheduled Caste. The Scheduled Caste have been oppressed right from post Vedic period. And hence positive discrimination, protective discrimination, affirmative action.The Supreme Court has, in several judgments, held that the RTI is a fundamental right flowing from Articles 19 and 21 of the Constitution, which guarantee to citizens the freedom of speech and expression and the right to life, respectively.

The RTI Act was enacted on 15 June 2005 and it came into force on 15 October 2005. The basic objective of this transparency statute is to bring about openness, transparency and accountability of the government functionaries. Various judicial decisions have been pronounced with regard to the RTI law in India to emphasize upon the significance of the RTI Act in bolstering the faith of the common masses in the right to know and receive information. Right to information is the right of the general public to seek and receive information from government sources as to how decisions are taken, how the various expenditures are incurred by the various public authorities and as to the various aspects of functioning of the government departments. The very right to information draws inspiration from the constitutional basis derived from Article 19(1) (a) of the Constitution of India which states that "All citizens have the right to freedom of speech and expression".

The Apex Court of India held that the right to information is an integral element of the purpose of Article 19 of the Indian Constitution. The majority opinion held that freedom of speech and

expression takes within its fold the right of all the citizens of India to read and be informed. In another case the Supreme Court of India stated, "In a government of responsibility like ours where the agents of the public must be responsible for the conduct there can be but a few secrets. The people of this country have a right to know every public act, everything that is done in a public way by their public functionaries. They are entitled to know the particulars of every public transaction in all its bearings." The judgment in Manubhai. D. Shah v Life Insurance Corporation reaffirmed this point.

The fundamental purpose in the right to freedom of speech and expression is to enable every person of this country to form opinions and beliefs and share them freely with others. In essence, the foundational principle involved here is the right to know. The Supreme Court almost a quarter of a century ago in S. P. Gupta & Others v. Union of India, which is popularly known as the Judges Case, made an observation, "Now, if secrecy were to be observed in the functioning of government and the processes of government were to be kept hidden from public scrutiny, it would tend to promote and encourage oppression, corruption and misuse or abuse of authority for it would be all shrouded in the veil of secrecy 22 without any public accountability." Unnecessary secrecy in government leads to arrogance in governance and defective decision making. Open government always ensures greater transparency and efficiency in the matter of governance and administration. There is no gainsaying the fact that exposure to public scrutiny is the surest insignia of an efficient and effective government. It is truly said that open government is a clean government and a powerful shield against political and administrative opaqueness and incompetency.

India always took pride in being the largest democracy, but with the passing of the Right to Information Act in 2005, it has also become an accountable, interactive and participatory democracy. This right has catapulted the Indian citizen on a pedestal from where he can take stock of administrative decisions and actions and make sure that his interests are protected and promoted by the Government. The Right to Information Act is an important landmark for Indian democracy. By this Act the citizen of India has been empowered like never before. He can now question, audit, review, examine, and assess government acts and decisions to ensure that these are consistent with the principles of public interests, good governance and justice. This act promotes transparency and accountability in administration by making the government more open to public scrutiny.

References :-

1. Ansari MM in a lecture entitled, "Impact of Right to Information on Development: A Perspective on India's Recent Experiences", delivered at UNESCO headquarter, Paris, France, May 15, 2008.
2 Baisakh Pradeep, "Human Rights, Villagers push for work benefits in Orissa",India Together, digital edition, Feb 27, 2007

3. Gandhi Sailesh, "Government, The Key to Speeding Up languishing RTI Appeals" India Together, digital edition, Sept 22, 2008 http://www.indiatogether.org/2008/sep/rti-workhours.htm accessed on 13.7.10
4. Gandhi Sailesh, "The RTI Movement will lead India to Swaraj", rediff.News, Oct.11,2007
5. Ghosh Avijit, "Right or not, information still tough to come by", The Times of India, Aug 6, 2008
6. http://righttoinformation.gov.in/webactrti.htm
7. Kejriwal Arvind, "RTI Act, One Year of Unfreedom", Combat Law Magazine March 1 2007, www.doccentre.org/.../DP-LR-issuewise-articles-AH1.php accessed on 3.7.10
8. Kejriwal Arvind, "RTI: An enormous power with the people", India Together, Newsletter, digital edition, Aug 7,2006 http://www.indiatogether.org/2006/aug/ivw-arvind.htm accessed on 30.7.10
9. Mittal Manoj, 'Now, an RTI call center for queries', The Times of India, July 17, 2008
10. Muralidharan Sukumar "The Challenge to Media", http://www.india-seminar.com/2005/551.htm accessed on 10.7.10
11. Puddephatt Andrew,McCall Elizabeth,Wilde Alexandra,"AGuuide to Measuring the Impact of Right to Information Programmes,Practical Guidance Notes,Democratic Governance Group,United Nations Development Programme April,2006 www.undp.org/.../A%20Guide%20to%20Measuring%20the %Impact%20of%20Rig… accessed on 7.9.10
12. The Hindu, May 20, 2003
13. The Hindu, Oct.20, 2006
14. The Indian Express, Sept.25, 200

Social changes can be brought about by various methods. The social change can be brought by preaching of religions, by launching social reform movements like one done by Raja Ram Mohan Roy, Swami DayanandSarswati, Justice Ranade, Shahu Maharaj, JotibaPhule, Gandhiji, and Dr. B.R. Ambedkar and other such prominent social thinkers. But such efforts have no legal obligations or force of law remedial measures in cases where individuals do not agree to a prescribed social behavior and conduct. Such.

Email : jptruth11@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 263-268

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में पर्यावरण

प्रो० (डॉ०) स्वर्णलता कदम

हिन्दी विभाग, शहीद मंगल पाण्डे राजकीय महिला, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, माधवपुरम, मेरठ।

सारांश :–

संस्कृति मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं की अंतिम परिणति है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ''मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है। संस्कृति उस अवधरणा को कहते है, जिसके आधार पर कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है। किसी समुदाय की अनुभूतियों के संस्कारों किसी समुदाय जाति, देश अथवा राष्ट्र का प्राण या आत्मा होती है। संस्कृति द्वारा जाति समुदाय, देश अथवा राष्ट्र विशेष के उन समस्त संस्कारों का बोध होता है। जिनके सहारे वह अपने जीवन मूल्य आदर्शो आदि का निर्धारण करता है। भारतीय संस्कृति की वह कौन सी विशेषता है, जिसके बल पर वह शतसहस्त्र वर्षों से अक्षुगण बनी हुई है और उसके द्वारा परिकल्पित धर्म सनातन धर्म कहा जाता है।

'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा द्वारा अनुप्राणित होकर 'सर्वे भवन्तु सुरिवनः, सर्वे संतु निरामयः की कामना भी भारतीय चिन्तक ने विश्व के कण–कण में ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप की रसात्मक अनुभूति की है। महात्मा गांधी ने कहा कि ''भारतीय संस्कृति में पृथकत्व का लेशमात्र भी नहीं है, क्योंकि वह आध्यात्मिकता की अमर आधारशिला पर आधारित है।

मानवीय संवेदनाएं शाश्वत होती हैं वे प्रत्येक भाषा के साहित्य में प्रत्येक युग में प्रतिफलित होती है। वस्तुतः रचनाकार अपनी रचनाओं में अपने समाज को किसी न किसी तरह प्रतिबिम्बित करता है, चाहे अभिधा हो या लक्षणा या व्यंजना। आज हमारा भारतीय समाज अपनी आध्यात्मिक अवधारणा को त्यागता जा रहा है और तेजी से भौतिकता की ओर बढ़ रहा है। भौतिकता की होड़ में हमने अपने पर्यावरण को बहुत नुकसान पहुँचाया है। ऐसे वातावरण में साहित्यकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है कि वह अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों में पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति जागरूकता पैदा करे। कवि का धर्म यह है कि वह अपनी कलम की नोक पर ऐसे शब्दों का अम्बार जुटा ले जो समाज में व्याप्त विद्रूपताओं के चेहरे से नकाब उठाने के लिए संकल्पबद्ध हो साथ ही समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करे। पर्यावरण सुरक्षा के प्रति एक साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से लोगों में कैसे जागरूकता पैदा करता है, इसी बात को लोगों के सामने लाना, इस शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य है।

आज का साहित्य समाज में विद्यमान तमाम समस्याओं को अभिव्यक्ति देने को आतुर है। अपने लेखन से रचनाकार समाज में विद्यमान तमाम समस्याओं का समाधान खोज रहा है। ताकि मानव को सही दिशा दिखायी

जा सके। साहित्य से इसी उत्तरदायित्व की अपेक्षा है। जब दुनिया के मजदूर और किसान एक होकर क्रांति कर सकते हैं तो साहित्यकार क्यों नहीं?

बीज शब्द :– भारतीय सस्कृति, सभ्यता, साहित्य, जीवन मूल्य, पर्यावरण, समुदाय।

21वीं शती की प्रमुख चिन्ताओं में से एक है पर्यावरण संरक्षण की चिन्ता। पर्यावरण अर्थात् हमारे आस–पास का वातावरण वात् (हवा) का आवरण।

''हैलो मनुष्य
मैं आकाश हूँ।
कल सृजन था, निर्माण था,
आज प्रलय हूँ विनाश हूँ
मेरी छाती में
जो छेद हो गए हैं, काले–काले
ये तुम्हारे भालों के घाव हैं,
ये कभी नहीं भरने वाले।''

(मैं आकाश बोल रहा हूँ, ऋषभदेव शर्मा)

ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यावरण शब्द नवगठित है। हम धरती वासी इन्सानों ने अपने चारों ओर के आवरण रूप नैसर्गिक सम्पदा–कोष को पर्यावरण कहा है, जो हमें जन्मजात–अनायास उपलब्ध है तथा जो हमारे जीवन की उत्पत्ति–स्थिति व संहार का मूल आधार है। इस कोश में मिट्टी–जल–वायु आकाश ताप आदि अजैव घटक तथा वनस्पति और स्तनधारियों से लकर सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवाणुओं तक के जैव घटक आते हैं इन सबकी मात्रा/संख्या के आपसी सन्तुलन का बना रहना प्राणी–जगत् के आस्तित्व की अनिवार्य शर्त है। इस सन्तुलित स्थिति का भंग होना पर्यावरण–प्रदूषण कहलाता है तथा सन्तुलन को बनाए रखने के प्रयास पर्यावरण–संरक्षण कहलाते हैं।

चौदहवीं शताब्दी में मुहम्मद तुगलक के जीवनकाल में इस्लामी दुनिया का प्रसिद्ध यात्री इब्ने–बबूता भारत आया था। अपने संस्मरणों में उसने गंगा की पवित्रता और निर्मलता का उल्लेख करते हुये लिखा है कि ''मुहम्मद तुगलक ने जब दिल्ली छोड़कर दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाया तो उसकी अन्य प्राथमिकताओं में अपने लिये गंगा के जल का प्रबन्ध भी सम्मिलित था, गंगाजल को ऊँटों, घोड़ों और हाथियों पर लादकर दौलताबाद पहुँचाने में डेढ़ दो महीने लगते थे। कहा जाता था कि गंगाजल तब भी साफ और मीठा बना रहता था।'' तात्पर्य यह है कि गंगाजल हमारी आस्थाओं और विश्वासों का प्रतीक इसी कारण बना था, क्योंकि वह सभी प्रकार के प्रदूषण से मुक्त था। किन्तु अनियंत्रित औद्योगिकरण तथा हमारे अज्ञान एवं लालच ने देश की अन्य नदियों के साथ गंगा को भी प्रदूषण का शिकार बना दिया है। कवि लोगों से प्रश्न करता है कि :–

''शस्य श्यामला धरा सुगन्धित, पत्थर से क्यों ढक डाली,
कहाँ जा छुपी नये नगर में, वन उपवन की हरियाली।''

वैज्ञानिकों को विचार है कि तन, मन की सभी बीमारियों को धो डालने की उसकी औषधिय शक्तियाँ अब समाप्त हो गई हैं। यदि प्रदूषण इस प्रकार बढ़ता रहा तो उसके शेष गुण भी शीघ्र विलीन हो जायेंगे और तब

'गंगा तेरा पानी अमृत' वाला मुहावरा निरर्थक हो जायेगा।

गंगाजल की महत्ता के विषय में डॉ0 मित्रेश गुप्त लिखते है :–

''कौन–सा जल है किसी सरिता सरोवर का
जो कभी विगलित प्रदूषित नहीं होता,
एक केवल जल तुम्हारा विश्व में अनुपम,
जो अनंत काल तक दूषित नहीं होता
हे विलक्षण धार शीतल धार शीतला निर्मला गंगे।''

कवि सत्यपाल सत्यम् अत्यंत आक्रोश भरे स्वर में उसी पवित्र गंगाजल की दूषित होने से बचाने के लिये कहते है :–

''गंगाजल इस देश के प्रभु ने दिया वरदान है,
गंदगी उसमें विसर्जन कर रहे क्या ध्यान है
आसुरी इस वृत्ति से भयभीत है अब सुरसरि।''

बसन्त सिंह भृंग ने अपनी बात इस प्रकार कहीं है :–

''गंगा जल का परिगृह सलिल भी
सागर में मिल हुआ अपेय।''

चेतन जीवन भूल, हुआ जड़ आसन पर जड़।
सरिता ही गति हीन, गई ज्यों पोरवर में सड़।

कवि हरिओम पंवार ने अपनी चिन्ता इस प्रकार व्यक्त की है :–

''राम तुम्हारी गंगा मैली गंगा जल भी खारा है।
फिर भी सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तान हमारा है।''

प्रदूषण वायु जल एवं स्थल की भौतिक रसायनिक और जैविक विशेषताओं का वह अवांछनीय परिवर्तन है, जो मनुष्य के लिये लाभदायक दूसरे जंतुओं, पौधों औद्योगिक संस्थानों तथा दूसरे कच्चे माल इत्यादि को किसी भी रूप में हानि पहुँचाता है। अतः हमें गंगाजल की महत्ता समझनी होगी। पर्यावरण की समस्या का जन्म जनसंख्या की वृद्धि के साथ–साथ हुआ है। विकासशील देशो में औद्योगिक एवं रासायनिक कचरे ने जल, वायु तथा पृथ्वी को भी प्रदूषित किया है। भारत में तो घरेलू कचरे और गन्दे जल को बहाने का प्रश्न ही एक विकराल समस्या बन गया है। आज प्रगति की दौड़ में हम अनेकों तरह के बम बना रहे हैं। जगह–जगह इन बम के विस्फोटों के कारण–धरती बंजर हो जाती है और सारा वातावरण प्रदूषित हो जाता है, सिर्फ नुकसान के अलावा कुछ हाथ नहीं आता। अतः कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से युद्ध और बम की विभीषिका से जनता को परिचित कराना अपना धर्म समझा और जनता को सचेत किया :–

''तब से अब तक हिरोशिमा की धरती बोझ बनी है,
उगे कोई फल–फूल तो क्या न उगती नागफनी है।
पर्यावरण विषैला जिसकी हुई नहीं भरपायी,
विकृत अंग बच्चे पैदा होते अब भी दुःखदायी।''

प्रदूषण तीन प्रकार का होता है :– वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण ध्वनि प्रदूषण/मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार वन काटता रहता है। फलतः वातावरण में आक्सीजन की मात्रा कम होती जा रही है। मिलों से निकालने वाले धुएँ के कारण वातावरण में विभिन्न प्रकार की हानिकारक गैसे बढ़ती जा रही है।

यह हमारे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाल रही है। मानव के शरीर पर वायु–प्रदूषण का बुरा प्रभाव पड़ता है इससे अनेक सांस–सम्बन्धी रोग हो जाते है। इससे बचने के लिये साहित्यकार ने वृक्ष लगाने की बात कही हैं, हमारे समाज में तुलसी के पौधे को बहुत ही सम्मान और श्रद्धा के साथ पूजा जाता है। अतः कवि विधिचन्द पटवारी ने अपनी रचना समाज का तुलसी दल हूँ के माध्यम से हर घर में तुलसी का पौध लगाने पर जोर दिया है। निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :–

जितना सींचोगे तुलसी को, उतना वह मुस्कायेगी।
इस बस्ती को बिमारी को, तुलसी दूर भगायेगी।।
''तुलसीदल को काट दिया तो, कब सुगन्ध रह जायेगी।
तेरे घर आँगन की शोभा, फर–फर उड़ जायेगी।

तुलसी एक औषधि के रूप में भी काम आती है अतः हमें तुलसी का पौधा अवश्य लगाना चाहिए। मानव के शरीर हमें वायु–प्रदूषण का बुरा प्रभाव पड़ता है। सभी जीवधारियों के लिए जल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमने उस जल को ही अत्यन्त ही गन्दा बना दिया है। आज की स्थिति में अधिकांश नदियों का जल प्रदूषित होता जा रहा है। ध्वनि की लहरें जीवधारियों की क्रियाओं को प्रभावित करती है। अधिक तेज ध्वनि से मनुष्य की सुनने की शक्ति भी कम हो जाती है तथा उसे ठीक प्रकार से नींद नहीं आती। यहाँ तक कि कभी कभी पागलपन का रोग भी उत्पन्न हो जाता है।

जो धरती हमें अपना सब कुछ सौंप देती है हम मानव उसे ही गंदा प्रदूषित करने में नहीं चूकते हैं। परमाणु–शक्ति उत्पादन केन्द्रों तथा परमाणविक परीक्षण से भी जल, वायु तथा पृथ्वी का प्रदूषण होता है जो देश की वर्तमान पीढ़ी के साथ–साथ भावी पीढ़ी के लिए भी खतरनाक है। द्वितीय महायुद्ध में नागासाकी तथा हिरोशिमा में हुए परमाणु–बम के विस्फोटों से बहुत से मनुष्य अपंग हो गये थे। इतना ही नहीं यहाँ की भावी सन्तति भी अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो गए है।

''सृष्टि विटप का मूल, झूलने लगा गगन में।
आग बरसने लगी, यहाँ भादों सावन में।''
''दूषित वातावरण हुआ है, हवा जहाँ पर ठहर गई है।
वहाँ जन्मने वाला बालक, कैसे देखे किरण नयी है।''
पर्यावरण विषैला, जिसकी हुई नहीं भरपायी,
विकृत अंग बच्चे पैदा होते अब भी दुःखदायी।
दुनिया में सबसे ज्यादा अन्धे कोढ़ी लाचार,
इसी देश में मिलते हैं, सब लाइलाज बीमार।।''

शहरों में शत प्रतिशत निवासियों के लिये स्वास्थ्य कर पेय–जल का प्रबंध नहीं है। दिल्ली जैसे शहर में दूषित जल से महामारी के रूप में पीलिया रोग का प्रकोप कई बार हो चुका है। कई–बार नदियों में शहर का

मलमूत्र और कचरा तथा कारखानों से निकलने वाले बेकार द्रव्य प्रभावित कर दिये जाते हैं। परिणाम स्वरूप हमारे देश की अधिकांश नदियों का जल प्रदूषित होता जा रहा है। कवि को आखिर चिन्ता क्यों न हो? जब हमारी श्रद्धा का प्रतीक गंगा के जल से तुलसी का पौधा मुरझा जाये तो हम और किस जल की शुद्धता पर विश्वास करें :–

''गंगातट पर उगकर यदि तुलसी का बिरवा मुरझा जाये,
तो मैं उसको गंगाजल की कैसे धार मान लूँ?''

वह अत्यंत ओजपूर्ण शब्दों में कहते हैं :–

''धरती का रूप बदलने को, निर्माण नया करना होगा।
भारत को स्वर्ग बनाना तो, बलिदान तुम्हें करना होगा। (सृजन के दीप वर्ष)

पर्यावरण में होने वाले प्रदूषण को रोकने के लिये तथा उसकी रक्षा के लिए गत वर्षों में सारे विश्व में एक चेतना पैदा हुई है। इसी के अन्तर्गत एक 'केन्द्रिय बोर्ड' तथा सभी प्रदेशों में 'प्रदूषण नियन्त्रण' बोर्ड गठित किये गये है। सरकार प्रदूषण की रोकथाम हेतु निरन्तर प्रयास कर रही है। दूसरी तरफ साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से युग को जाग्रत कर रहा है कि हम अपनी हरी भरी धरती को ओर अधिक हरा–भरा बनाएँ वहाँ प्रदूषण का नामोंनिशान न हो। पर्यावरण के प्रति जागरूकता से ही हम भविष्य में और अधिक अच्छा स्वास्थ्य जीवन जी सकेंगे तथा भविष्य में आने वाली पीढ़ी को प्रदूषण के अभिशाप से मुक्ति दिला सकेंगे।

निष्कर्ष :–

संस्कृति और सभ्यता के मध्य अंतर को न समझ सकने के कारण आजकल अनेक भ्रांतियाँ फैल गई है। संस्कृति आत्मा सहज आन्तरिक वस्तु है और सभ्यता परिधान के समान बाह्य वस्तु है। सभ्यता का अनुकरण किया जा सकता है, संस्कृति का नहीं। हम कोट पतलून पहनकर, अंग्रजी बोलकर, भक्ष्या–भक्ष्य–खाकर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करते है। पाश्चात्य संस्कृति का नहीं संस्कृति जीवन का श्रेयस पक्ष है और सभ्यता प्रेयस एवं प्रयोजन पक्ष है जो दोनों की सिद्धि का मार्गदर्शन करें वह धर्म है, धर्म शोभा, गति एवं श्रेष्ठता प्रदान करते हुए हमारे उद्धार का मार्ग प्रशस्त करता है। सुसंस्कृत व्यक्ति वह है जो जीवन में सत्य, दया, दान तथा तप के मार्ग का अवलम्बन करता है। विज्ञान मीडिया और तकनीकि का प्रयोग जनसामान्य की बुझती आशाओं को दिशा देने की आवश्यकता है। साहित्य को पर्यावरण प्रदूषण, बुराई, आतंकवाद भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता आदि पर सीधी चोट करनी होगी। तभी नये संसार और नये आदमी की रचना होगी। यदि प्रदूषण को नहीं रोका गया तो प्राकृतिक सम्पदा के साथ–साथ मनुष्य का अस्तित्व भी इस पृथ्वी से मिट सकता है :–

''बचाना है तो बचाए जाने चाहिए
गांव में खेत, जंगल मे पेड़, शहर में हवा
पेड़ों में घोंसले, अखबारों में सच्चाई, राजनीति में नैतिकता
प्रशासन में मनुष्यता, दाल में हल्दी।''

(बचाओ/कवि ने कहा : उदय प्रकाश)

सन्दर्भ :–

1. मैं आकाश बोल रहा हूँ, ऋषभदेव शर्मा, ताकि सनद रहे, पृ० 52
2. 'तुलसी का बिरवा' विधि चन्द पटवारी वर्ष 1999, पृ० संख्या – 127

3. 'गीत मेघ' वर्ष – 2002 डॉ० मित्रेश गुप्त, पृ० सं० 18
4. 'प्रेम और आक्रोश' वर्ष – 2006 सत्यपाल सत्यम्, पृ०सं० – 107
5. 'बढ़ते चरण थिरकते पांव' वर्ष – 1965 बसंत सिंह भृंग, पृ० 119–116
6. 'अग्निपथ के शिलालेख' वर्ष – 2001 हरिओम पंवार, पृ० सं० 48
7. 'भय भूख और बम' वीरेन्द्र अबोध, वर्ष – 2007, पृष्ठ संख्या – 06
8. 'तुलसी का बिरवा' वर्ष – 1999 विधि चन्द पटवारी, पृष्ठ संख्या – 37
9. 'बढ़ते चरण थिरकते पांव' वर्ष – 1965 बसंत सिंह, भृंग– पृ० 108
10. गीत गांव के हम गायेंगे – वर्ष – 1944, वीर बहादुर मधु, पृष्ठ संख्या – 12
11. 'भय, भूख और बम' – वीरेन्द्र अबोध, वर्ष 2007–06
12. 'तुलसी का बिरवा' वर्ष – 1999 विधि चन्द पटवारी, पृष्ठ संख्या – 37
13. 'सृजन के द्वीप' वर्ष – 1989 रामप्रकाश 'राकेश', पृष्ठ संख्या – 17–35
14. बचाओ / कवि ने कहा : उदय प्रकाश, पृ०– 93

swarankadam@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 269-273

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

वास्तुकला

तहुरानाज, पी0एच0डी0 शोधार्थी
डॉ, सोनिया यादव, शोध निर्देशिका
श्री वेंकटेश्वरा विश्वविद्यालय, गजरौला (उ0प्र0) 244236

प्राचीनकाल में वास्तुकला सभी कलाओं की जननी कही जाती थी। वास्तुकला पुरातन काल की सामाजिक स्थिति प्रकाश में लाने वाला मुद्रणालय भी कही गई है। यह वहीं तक ठीक है जहाँ तक सामाजिक एवं अन्य उपलब्धियों का प्रभाव है। यह भी कहा गया है कि वास्तुकला भवनों के अलंकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जहाँ तक ऐतिहासिक वास्तुकला का सम्बन्ध है, यह सत्य है। फिर वास्तुकला सभ्यता का साँचा भी कही गयी है। जहाँ तक पुरात्तवीय प्रभाव है यह ठीक है किन्तु वास्तुकला के इतिहास पर एक दृष्टिपात से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मानव के प्राचीनतम् प्रयास शिकारियों के आदिकालीन गुफा–आवासों चरवाहों के चर्म–तम्बुओं और किसानों के झोपड़ों के रूप में देख पड़ते हैं धार्मिक स्मारक बनाने के आदिकालीन प्रयास पत्थर और लकड़ी की बाड के रूप में थे। इन आदिकालीन प्रयासों में और उनके सुधरे हुए रूपों में सभी देशों में कुछ न कुछ बातें ऐसी महत्वपूर्ण प्रकार की हैं कि बहुत दिन बाद की महानतम् कलाकृतियों में भी वे प्रत्यक्ष हैं।

प्रत्येक ऐतिहासिक वास्तु की उपलब्धियाँ मोटे तौर से दो मूलभूत सिद्धान्तों से निश्चित की जा सकती हैं, एक जो संकल्पना में अन्तर्निहित है और दूसरा जो सर्वोच्य विशिष्टता का द्योतक हैं। वास्तु में यह युगोत्तरजीवी विशाल और भारी स्मारकों द्वारा व्यक्त रहस्यमयता है असीरियाई, बेबी लोनी और ईरानी कला में यह विलासी जीवन था। यूनानी कला में यह निश्चयात्मक आयोजना और संशोधित दृष्टि भ्रम था। रोमानों में यह भव्यता, आनंद और शक्ति का प्रेम था जिसके फलस्वरूप विलक्षण वैज्ञानिक निर्माण हुआ। पुरातत्वकालीन ईसाइयों में यह ईसामसीह की सच्ची सादगी और गौरव व्यक्त करने वाले गिरजाघरों के निर्माण के प्रति भारी उत्साह के रूप में था।

बौद्ध और हिन्दू वास्तुकला का उत्कृष्ट गुण उसका आध्यात्मिक तत्व है। मुसलमानी वास्तुकला में अकल्पनीय धन, सम्पदा ठाठ और विशाल भूखण्ड पर उसका प्रभुत्व झलकता है, जबकि भारत का भीमकाय अफगानी वास्तु उस शासन की आक्रामक प्रवृत्ति प्रकट करता है, किन्तु मुगल स्मारक उत्कृष्ट अनुपात मुगलों के और कृति सम्बन्धी प्रेम को दर्शाने में श्रेष्ठ है तथा भारत की गर्मी में उनका जीवन भली–भाँति व्यक्त करते है। इस प्रकार भूतकालीन कृतियों में हम देखते हैं कि चट्टानों, ईटों और पत्थरों में मूर्त के विचार ही है जो विश्वसनीय ढंग से किसी न किसी रूप में गौरव के शिखर पर पहुँची हुई सभ्यताओं की तत्कालीन धर्म सम्बन्धी व्यक्त करते हैं। इन तमाम सालों में वास्तुकला सामयिक चेतना पर्यावरण तथा स्थानीय पृष्ठभूमि के सांमजस्य में

विकसित हुई।

आज कुछ ऐसे वास्तुक है जो भूत का अनुसरण करने में ही सन्तुष्ट है कुछ अन्य है जो विदेशी ढंग का अनुकरण करने का प्रयास करते हैं। बहुत थोड़े से ऐसे हैं जो अपने समय, गति और राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुरूप वास्तु का विकास करने का प्रयास कर रहे हैं। इस छोटे से वर्ग का प्रयास नया संघात प्रस्तुत करने का है, जो मनुष्य के नए विचार सोचने और धारण करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार से हमारे युग के भवन निर्माण करने का प्रयास करते हैं और बाद में ये ही भवन शरीर और मस्तिष्क के स्वस्थ विकास को प्रोत्साहित करके जाति का निर्माण करेंगे। वास्तुकला कभी–कभी ज्ञात उपयोगिता सम्बन्धी आवश्यकताओं और उसकी निर्माण पद्धतियों से आगे भी बढ़ जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि वास्तुकला का आधार इमारतें हैं, किन्तु यह इमारतें खड़ी करने के अतिरिक्त कुछ और भी है जैसे कविता गद्य रचना के अतिरिक्त कुछ और भी है, मीठे स्वर में गाए जाने पर कविता प्रभावशाली होती है, जब उसके साथ संगीत और लययुक्त नृत्य चेष्टाएँ भी होती है, तब वह केवल मनुष्य के हृदय की ओर विभिन्न इन्द्रियों को ही आकर्षित नहीं करती अपितु इनके गौरवपूर्ण मेल से निर्मित सारे वातावरण से ही उसे अवगत कराती है।

इसी प्रकार वास्तु कल्पनाएँ दार्शनिक गतिविधियों से, सम्मिलित लयात्मक, संगीतात्मक तथा वर्णात्मक अर्थो से परिपूर्ण होती हैं और ऐसी वास्तु कृतियाँ मानव को छूति हुई सभी प्रकार से उसकी प्रशंसा का पात्र होती है। महान् वास्तु कृतियों की यह प्रशस्ति चिरस्थायी होती है और भावी पीढ़ियों को प्रेरणा देती है। वास्तुकला के प्रयोगो में बहुत अस्थिरता रही है जिसके अगणित शैलिया प्रकट हो गयी हैं। वास्तुकला न कोई पंथ है नहीं शैली, यह तो विकास का अटूट क्रम है। इसलिए वास्तुक को शैलियों से विशेष प्रयोजन नहीं, जैसे बदलते हुऐ फैशन से किसी महिला की पौशाक का कोई सम्बन्ध नहीं।

वास्तुकला का विकास विन्यास की संरचनात्मक आवश्यकताओं और उपलब्ध सामग्री की सौंदर्य सम्भावनाओं द्वारा प्रस्तुत प्रतिबन्धों की उपस्थिति में सुंदरता के लिए खोज और संघर्ष के फलस्वरूप हुआ है जब इसके फलस्वरूप किसी रचना की सृष्टि होती है, तब ऐसा लगता है कि आज की वास्तुकला भारी रचनाओं और आवृत्तियों के रूप में मूर्तिकला ही है। यदि इस संदर्भ में देखे तो वास्तुकला व्यक्ति के अपने सजक मन की सम्पूर्ण एवं सुविकसित रचना होनी चाहिए जो स्वयंभू के उच्च स्तर तक पहुँचती है।

वास्तुकला का इतिहास :–

वास्तुकला किसी स्थान को मानव के लिए वास योग्य बनाने की कला है। कालान्तर में यह चाहे जितनी जटिल हो गई हो इसका आरम्भ मौसम की उग्रता, शत्रुओं के आक्रमण से बचने के प्रारंभिक उपायों में ही हुआ होगा इसलिए विद्धानों नें इसे मानव सभ्यता का ''योजक मसाला'' कहा है।

आदिकालीन वास्तु :–

आदिकाल में शिकारियों और मछुआरों ने पहाड़ी गुफाओं में शरण ली होगी। ये गुफाएँ ही शायद मानव निवास के प्राचीनतम रूप रहे हैं। किसान वृक्षों के झुरमुटों मे रहते और सरकंडे घास आदि के झौपड़े बनाते रहे होंगे। इन्ही गुफाओं और डेरो में बाद के वास्तु विकास के बीज मिलते हैं। मिस्र के पुराने मकानों के नमूने साक्षी है कि अनगढ द्वारा चट्टानी दीवारों और छतों वाली प्राकृतिक गुफाओं से ही पत्थर की दीवारें उठाने और परपटियों की छत रखने का विचार उत्पन्न हुआ। झुरमुटों के अनुरूप झौपड़े बने, जिनकी दीवारें सटाकर गाड़ी हुई

शाखाओं से और छत घास से बनाई गई। इस प्रकार के एक मंजिले और दुमंजिले झोपड़े अब भी आदिवासी बनाते है। चमड़े के डेरे भी अरब के बद्दू और अन्य धूमन्तू जातियाँ काम में लाती है।

चीनी वास्तु :-

चीनी वास्तु में बौद्ध और मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट हैं। भारत के तोरणों की भाँति पत्थर या लकड़ी के द्वार, चीनी वास्तु की विशेषता है एक दूसरे के ऊपर अनेक छतें बनाकर ऊँची इमारतों में भी चौड़ाई का आभास पैदा किया जाता है। पत्थर भी वहाँ मिलता है, फिर भी इमारतों में लकड़ी और ईंट का प्रयोग प्रायः हुआ है, पीकिंग में महामकर मंन्दिर (1420) और ग्रीष्म प्रसाद का निद्रामग्न बुद्ध मंन्दिर तथा 17 डाटों वाला संगमरमर का पुलनानकिन में पगोडा (1412) कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

जापानी वास्तु :-

जापानी वास्तु का मूल चीन में है फिर भी नक्काशी और अलंकरण की बारीकी इसकी अपनी विशेषता है अनेक बौद्ध मन्दिर और पगोडा देश भर में फैले है। क्युटो में मिकाड़ो का महल और किंकाकूंजी तथा जिंकाकूंजी और नगोया में शुकिनरोसराय उल्लेखनीय है।

पाश्चात्य वास्तु :-

भारत में सिंधु घाटी सभ्यता के बाद मिस्र यूनान और रोम का नाम लिया जाता है। पाश्चात्य वास्तुकला में ये तीन देश अग्रणी रहे। मिस्र में घर अस्थायी निवास समझे जाते थे और कब्रेंस्थायी। इसी विचारधारा के पोषण सम्राटों के लिए निर्मित अति विशाल भारी भरकम पिरामिडों और मन्दिरों में मिलता है। इसके विपरीत यूनानी मन्दिर जनता के लिए बने। साहित्य संगीत और कला की उन्नति के साथ–साथ रंगमंच क्रीड़ागप और मल्लशालाएँ भी विकसित हुई, संगमरमर के प्रयोग से कृतियों में सफाई और बारीकी आई। यूनानियों ने भारतीय वास्तु की भाँति ही, किन्तु बहुत पहले ही स्वतंत्र रूप से आयोनिक और कोरिंथियन नामक विशिष्ट शैलियाँ विकसित की थी।

रोमन वास्तु में साम्राज्य की शान शौकत झलकती है। मन्दिरों के अतिरिक्त सड़कों, पुलो आदि अनेक जनोपयोगी निर्माण कार्यो में रोमन शैली का समावेश हुआ। इस प्रकार रोमन वास्तु सारे यूरोप में फैला और यूरोपीय वास्तु का आधार बना। रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही इस महानद्य सभ्यता और वास्तुकला का अध्याय भी समाप्त हो गया। कुछ काल पश्चात आठवीं शती ई0 में बड़े–बड़े गिरजाघर बने, जिनमें ''रोमनेस्क'' नाम से उत्तरकालीन रोमन वास्तु का पुनरूत्थान हुआ। गिरजों का जनजीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा और इन्ही के अंतर्गत शिक्षा संस्थाएँ पुस्तकालय, संग्रहालय और चित्रशालाएँ स्थापित हुई। महत्वपूर्ण निर्माण सिद्धांतों के अनुसार उस समय तक की यूरोपीय वास्तुकला की 3 शैलियाँ 1. स्तंभ और धरने वाली यूनानी शैली 2. स्तंभ और अर्धवृत्त डाट वाली रोमन या मिश्रित शैली 3. नोकदार डाटो वाली गॉथिक याचापीय शैली है।

वास्तु शैलियों के विकास में फिर कुछ विराम आया। इसी बीच पुनरूद्धार शैली का पथ प्रशस्त करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। बारूद के आविष्कार से समर पद्धतियाँ और किलो के विन्यास बदल गये। नई दुनिया की खोज हो चुकी थी। सन् 1453 ई0 में कुस्तुंतुनिया के पतन के बाद यूरोप में यूनानियों के आप्रवास का भी प्रभाव पड़ा। इटली के ही समृद्ध और व्यापारिक नगर फलोरेंस में एक प्रतिद्वंद्वी शैली का जन्म हुआ। नए गिरजाघरों और राजमहलों में गॉथिक युग की नुकीली डाटे, प्रतिच्छेदी मेहराबे और ऊर्ध्वाधर लक्षण नहीं, बल्कि

रोमन शैली के गुबंद ही परिष्कृत रूपों में अपनाए गए। पुनरूद्वार का यह आंदोलन इटली से फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, नीदरलैंड और इंग्लैड तक फैला।

अमरीकी वास्तु :–

अमरीकी वास्तु के विकास में 3 चरण स्पष्ट है पहला उपनिवेशीय काल (1775/83) इसमें यूरोपीय वास्तु से मिलता जुलता ही निर्माण हुआ। दूसरा आधुनिक काल (1893) तक। इसमें राजधानियों के महत्वकांक्षासूचक और स्मारकीय भवन बने। 19वीं शैली की यूरोप की ''यूनानी चेतना'' भी वहाँ पहुँची। तीसरा अर्वाचीन काल (1893 से अब तक) जिसमें यूरोपीय ''शैली संघर्ष'' की भाँति ही यहाँ भी कोई एक दो शैलियाँ युग का प्रतिनिधित्व करती हुई नहीं की जा सकती। सामाजिक स्थिति से प्रभावित निवासों में उपयोगिता लक्षी शैली स्पष्ट है, जबकि गिरजाघरों में वही गॉथिक शैली समादृत है। हाँ कुछ न कुछ मौलिकता का समावेश सभी जगह अवश्य देखने को मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि केवल 2–3 शताब्दियों में ही जितना द्रुत परिवर्तन यहाँ हुआ है, उतना संसार में कहीं नहीं हुआ।

आधुनिक यूरोपीय वास्तु :–

उन्नीसवीं शती में वास्तु शैलियों में, वास्तुओं की व्यक्तिगत रूचि के कारण अनेक परिवर्तन हुए और एक ''शैली संघर्ष'' ही उपस्थित हो गया। किन्तु वास्तुकला आज भी सामयिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। यह संग्रहालयों, पाठशालाओं, पुस्तकालयों, पठन केन्द्रो, चिकित्सालयों, विद्यालयों, चित्रशालाओं एवं कला भवनों तथा वैज्ञानिक एवं जन–कल्याण संस्थानों के निर्माण से स्पष्ट है। बीसवीं सदी में पुनरूद्धार शैली सार्वजनिक भवनों और मार्गों आदि के लिए, तथा गॉथिक शैली गिरजाघरों और शिक्षालयों के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होती है।

भारतीय वास्तु :–

प्राचीन वास्तु :–

भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गम्भीर भाव भी व्यक्त होते हैं भवन को बाहर से कभी–कभी लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से संबध क्या, वास्तव में, आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है।

मध्यकालीन मुस्लिम वास्तु :–

वास्तुकला पर मुस्लिमों के आक्रमण का जितना प्रभाव भारत में पड़ा उतना अन्यत्र कहीं नहीं क्योंकि जिस सभ्यता से मुस्लिम सभ्यता की टक्कर हुई, किसी से भी उसका इतना विरोध नहीं था जितना भारतीय सभ्यता से। भारतीय सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों की तुलना में मुस्लिम सभ्यता बिल्कुल नहीं तो थी ही, उसके मौलिक सिद्धान्त भिन्न थे। दोनों का संघर्ष यथार्थवाद का आदर्शवाद से व्यक्त का अव्यक्त से संघर्ष था, जिसका प्रमाण मस्जिद और मन्दिर के भेद में स्पष्ट है। मस्जिदें खुली हुई होती है, उनका केंद्र सुदूर मक्का की दिशा में होता है, जबकि मन्दिर रहस्य का घर होता है। जिसका केन्द्र अनेक दीवारों एवं गलियारों से घिरा हुआ बीच का देव स्थान होता है। मस्जिद की दीवारें सादी या पवित्र आयतों से उत्कीर्ण होती हैं, उनमें मानव आकृतियों का चित्रण होता है, जबकि मन्दिरों की दीवारों में मूर्तिकला और मानव कृति चित्रण उच्चतम शिखर पर पहुँचा, पर लिखाई का नाम न था।

तकनीकी विकास एवं वास्तु का विकास :-

1. झूला– खंभे, रस्सियाँ और खूंटे, जिनका विकास अभी–1900 ई0 में ही हुआ, जब तार के रस्से और इस्पात की जंजीरे उपलब्ध हुईं।
2. खंभे और सरदल – पत्थर के और लकड़ी के। इनमें भी विशेष अंतर हाल में ही पड़ा, जब इस्पात और कंक्रीट का प्रयोग हुआ।
3. गोलडाट – किसी दीवार में बनाया हुआ छेद या चट्टान अथवा कठोर मिट्टी में काटा हुआ रास्ता। यह गुफाओं में पाई जाती है।
4. गढ़ी डाट – फन्नी के आकार के पत्थर से बनाई हुई होती है। इसकी मजबूती क्षैतिज ठेल रोकने की क्षमता पर निर्भर रहती है।
5. टोडा या कॉर्निस–पत्थर या लकड़ी का यह निकला हुआ भाग सीमित ही होता था। यह इस्पात, कंक्रीट और कैंचियाँ लगाकर बहुत बढ़ाया जा सकता है।
6. टोडे निकालकर शिखर बनाने से केवल ऊर्ध्वाधर दाब पड़ती है, क्षैतिज ठेल बिल्कुल नहीं पड़ता है। हिन्दु मन्दिरों के शिखर ऐसे ही होते थे।
7. टोडे निकालते हुए गोल छल्लो से गुंबद बनाने से भी केवल ऊर्ध्वाधर दाब पड़ती है। पश्चिम एशिया में यह पद्धति प्रचलित थी। मुस्लिम शैली की डाट के सिद्धान्त का आधार बनी।

संदर्भ :-

1. वास्तुकला का इतिहास।
2. आदिकालीन वास्तु।
3. चीनी वास्तु।
4. जापानी वास्तु।
5. पाश्चात्य वास्तु।
6. अमरीकी वास्तु।
    1. उपनिवेशीय काल (1775 – 83)
    2. आधुनिक काल – 1893 तक
    3. अर्वाचीन काल – 1893 से अब तक

    भारतीय वास्तु –प्राचीन वास्तु, मध्यकालीन मुस्लिम वास्तु।

ई–मेल– fariyalkhan088@gmail.com

मोबाईल 9315306634

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 274-278

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

'कृष्णा सोबती' साहित्य में स्त्री का नया रूप : उनकी रचनाओं के अनुवाद पक्ष की सार्थकता

टीना

पीएचडी शोधार्थी, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नु, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली।

शोध सार :–

साहित्य का अपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि साहित्य ही वह दर्पण है जिसके माध्यम से समाज के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि दृष्टिकोण को समाज के सामने लाया जाता है। साहित्य में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि यथार्थ मुद्दों को विशेष रूप से शामिल किया जाता है। स्त्री–विमर्श का मुद्दा समकालीन साहित्य का एक बड़ा महत्वपूर्ण विषय है। सदियों से ही नारी का शोषण होता रहा है, उस पर अत्याचार होता रहा है, उसे बेडियों में बांधा गया है, बंधनों में जकड़ा गया है। स्त्रियों के प्रति शोषण और दमन के व्यवहार ने स्त्री–चेतना को जगाया और स्त्री–विमर्श को जन्म दिया। इसी समकालीन साहित्य के स्त्री–विमर्श में हम 'कृष्णा सोबती' द्वारा रचित रचनाओं को भी शामिल करते हैं।

कृष्णा सोबती ने एक नए स्त्री समाज की कल्पना की है और उनके साहित्य की स्त्री कमजोर, बंधनों में बंधी, बेचारी स्त्री नहीं है बल्कि वह है सशक्त, मजबूत, अपनी बात को रखने वाली, अपने निज और अहंकार की रक्षक : एक सुदृढ़ नारी शक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करती हुई स्त्री है। इस प्रकार इस शोधालेख में कृष्णा सोबती की कुछ रचनाओं के सुदृढ़ और सशक्त नारी पात्रों का चित्रण किया गया है और उनके द्वारा नारी के एक नए और जागरूक रूप को उजागर किया गया है। इस आलेख में हम कृष्णा सोबती द्वारा रचित नारी के एक नए रूप को पाते हैं तथा उनकी रचनाओं के अनुवाद पाठ की सार्थकता और सफलता के बारे में भी चर्चा करेंगे।

प्रमुख शब्द :– समकालीन साहित्य, स्त्री–विमर्श, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण, रचनाकार 'कृष्णा सोबती, नारी का स्वतंत्र–स्वछंद रूप, आधुनिक स्त्री–विमर्श, स्त्री का बोल्ड रूप, अनुवाद।

समकालीन साहित्य :–

समकालीन साहित्य वर्तमान साहित्य का द्योतक है। वर्तमान या यथार्थ की घटनाओं और प्रसंगों का कथा में होना समकालीन साहित्य की पहचान है। समकालीन साहित्य में द्वितीय विश्व युद्ध के अंत और वर्तमान के बीच के कार्य शामिल हैं। समकालीन शब्द का अर्थ है वर्तमान में जीना। समकालीन साहित्य में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से आज तक लिखे गए साहित्य को शामिल किया जाता है। समकालीन साहित्य की रचनाओं में समाज

के सामाजिक और राजनैतिक विषयों को लिया जाता है। इस साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया जाता है जिसमें सामाजिक–आर्थिक मुद्दे शामिल होते हैं। समकालीन साहित्य का अपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि समकालीन साहित्य ही वह दर्पण है जिसके माध्यम से समाज के सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण को समाज के सामने लाया जाता है। समाज में फैली सामाजिक–राजनैतिक समस्याओं, उनके कारण, उनके निवारण आदि को समकालीन साहित्य के माध्यम से ही समाज के सामने लाया जाता है।

समकालीन साहित्य का एक बड़ा महत्वपूर्ण विषय है– स्त्री–विमर्श। स्त्री–विमर्श को अंग्रेजी में फैमिनिज्म कहते हैं। स्त्री–विमर्श का मुद्दा सदियों से ही साहित्य का एक मुख्य विषय रहा है। स्त्रियों के ऊपर कई समय से अत्याचार होता आया है, उनका शोषण होता रहा है इसीलिए साहित्य का एक मुख्य विषय स्त्री–विमर्श रहा है। लंबे समय से स्त्रियों के प्रति शोषण और दमन के व्यवहार ने स्त्री–चेतना को जगाया और स्त्री–विमर्श को जन्म दिया। स्व की रक्षा के लिए सजगता, जागरूकता और अपने अधिकारों के प्रति चेतना तथा अस्मिता और अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए स्त्री–विमर्श आवश्यक रहा है। स्त्री–विमर्श का यह विषय प्रखर जोड़ लेकर समकालीन साहित्य में रचा गया और जिसकी सीमा प्रखरतर होती गई। बहुत से रचनाकारों ने समकालीन मुद्दों को लेकर स्त्री–विमर्श पर चर्चा की, रचनाएं लिखी जिसमें स्त्रियों से संबंधित समस्याओं और समाधानों को उजागर किया गया। इन्हीं रचनाकारों में एक विशेष रचनाकार का नाम शुमार होता है : 'कृष्णा सोबती जी'।

कृष्णा सोबती साहित्य में स्त्री–विमर्श :–

कृष्णा सोबती का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्य में उत्कृष्ट लेखन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उनके लेखन की सृजना को देखने पर यह प्रतीत होता है जैसे उन्हों।ने अपनी लेखनी में अपना दर्द, वेदना, और अपनी अनुभूतियों को स्वयं अनुभूत करके साहित्य में उकेरा हो। उनके लेखन में संवेदना है, समग्रता है, स्त्री समाज की व्यंजना है, चुनौतियां है, नारी मनःस्थितियों का अंकन है तथा संस्कृति व समाज की व्यापक छाप देखने को मिलती है। कृष्णा जी के कथा साहित्य में आधुनिकता का प्रबल स्वर देखा जा सकता है। इनके कथा साहित्य ने हिन्दी साहित्य के भंडार में व्यापकता प्रदान की है। कृष्णा जी के साहित्य में नारी से जुड़ी भावनाओं को मनोविज्ञान चिंतन से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है तथा इनकी रचनाओं में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं ग्राम्य जीवन आदि से संबंधित विभिन्न पहलुओं को देखा जा सकता है। उन्होंने अपने नारी पात्रों का ऐसा सजीव, निर्भय और वास्तविक चित्रण प्रकट किया है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में साहसी, निर्मम, ममतामयी, अभूतपूर्व नारी पात्रों का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इसी समकालीन साहित्य के स्त्री–विमर्श में हम कृष्णा सोबती द्वारा रचित रचनाओं के स्त्री पात्रों के एक नए रूप को देख सकते हैं। कृष्णा सोबती जी ने अपनी रचनाओं में जिन स्त्री पात्रों का वर्णन किया है वह पुरुष की भांति ही जीना चाहती हैं, अपने मन की बात सुनना चाहती हैं, स्वतंत्र–स्वच्छंद रहना चाहती हैं और अपनी भावनाओं तथा इच्छाओं को पूरा करना चाहती हैं। कृष्णा सोबती जी की रचनाओं में नारी के केवल शोषित, बेडियों से बंधे विवश रूप का ही वर्णन नहीं किया गया है बल्कि स्त्री के एक नए रूप का चित्रण भी मिलता है जो है : स्वतंत्र, स्वाधीन, अपने अधिकारों के प्रति सजग, सचेत, विवशता और सामाजिक बंधनों से मुक्त नारी का एक नया रूप।

कृष्णा सोबती जी की स्त्री–विमर्श की रचनाओं को समकालीन साहित्य के स्त्री–विमर्श में स्थान दिया

जाता है। इनकी रचनाओं में स्त्री–विमर्श के मुद्दे समकालीन विषयों से संबंधित है। कृष्णा जी की रचना 'सूरजमुखी अंधेरे के' की रत्ती पात्र को यदि देखें तो कृष्णा जी ने इस रचना में एक लड़की के बाल मन से लेकर उसके व्यस्क होने तक की मनःस्थितियों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। इस रचना की पात्र रत्ती के साथ बचपन में बलात्कार जैसी घटना घटित हो जाती है और इस भयावह घटना के कारण रत्ती का पूरा जीवन ही जैसे नष्ट हो जाता है। उसका पूरा जीवन तानों में ही बीत जाता है। एक लड़की के ऊपर ऐसा अत्याचार व शोषण होने पर उसे अपनों के प्यार–अपनेपन की बहुत आवश्यकता होती है। परंतु समाज में उसे अपनाया नहीं जाता।

सूरजमुखी के फूल की भांति खिली–खिली, चमक वाली लड़की के जीवन में घटित घटना उसके जीवन में अंधकार भर देती है। फिर भी उसके स्वालंबी, स्वतंत्र और आत्मनिर्भर रूप का वर्णन किया गया है। इसमें वर्णित पात्र को काफी बोल्ड दिखाया गया है। वह प्रेम की तलाश में व्याकुल है। वह कई पुरुषों के प्रस्ताव को ठुकरा देने का साहस रखती है। पात्र को एक अत्यंत आधुनिक सोच वाली स्त्री के रूप में दिखाया गया है। जीवन में कई पुरुष आते हैं परंतु रत्ती उन सभी का प्रस्ताव स्वीकार नहीं करत्ती, किसी को भी स्वयं के अनुकूल नहीं पाती। अंत में वह दिवाकर नामक पुरुष को अपनी स्वच्छंदता से स्वीकार करत्ती है। दिवाकर ने रति के अस्तित्व को पूर्णता प्रदान की। "दिवाकर ने रति को बार–बार चूमा और कोख पर हाथ रख दिया।" (पृ–130) रत्ती स्वयं कहती है, "पहले कभी नहीं। तुमने मेरा शाप धो दिया दिवाकर।" (पृ–130)

इस प्रकार कृष्णा जी ने 'सूरजमुखी अंधेरे के' रचना की इस रत्ती पात्र के माध्यम से स्त्री–विमर्श के स्वाधीन, स्वतंत्र और बोल्ड पात्र को समाज के सामने रखा है।

इसी प्रकार उनकी रचना 'ऐ लड़की' में वर्णित दो पात्रों अम्मू और उनकी बेटी के माध्यम से कथा कही गई है। एक लड़की शादी ना करने का निर्णय लेती है जो कि भारत्तीय समाज में किसी लड़की द्वारा लिया गया एक बड़ा निर्णय है और उसकी मां उस लड़की को कैसे कैसे समझाती है, उलाहना देती है, अपने जीवन के उदाहरण समझाती है परंतु फिर भी वह लड़की अपनी बात पर अडिग रहती है।

एक तरफ अम्मू के माध्यम से समाज में नारी के यथार्थ रूप को दिखाया गया है कि कैसे एक स्त्री समाज और परिवार की मर्यादा में रहती है, घर गृहस्थी के अपने कर्तव्य निभाती है और दूसरी तरफ अम्मू की बेटी के स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वेच्छापूर्ण व्यवहार को दिखाया गया है। वह शादी नहीं करती, अपनी मर्जी से जीती है, परिवार के बंधनों में नहीं बंधना चाहती। उसकी मां के इतना कहने पर भी वह अपने निर्णय पर अडिग रहती है। पुरुषों की तरह अपने फैसले स्वयं लेती है, निडर है, निर्भीक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कैसे एक ही कथा में नारी के दोनों रूपों का वर्णन मिलता है जो कि समकालीन समाज में व्याप्त स्त्री–विमर्श के अंतर्गत आते हैं।

कृष्णा जी की एक अन्य रचना 'मित्रो मरजानी' एक ऐसी रचना है जिसमें गठित स्त्री पात्र के द्वारा नारी के एक नए ही रूप को जन्म दिया गया है। कृष्ण जी ने नारी की वेदना, उसकी प्रकृति, उसके द्वंद का बड़ा ही गहराई से चित्रण किया है। रिचर्ड होगर्ट के अनुसार, "महान कलाकार संपूर्ण मानव का गहराई से चित्रण करता है।" कृष्णा सोबती ने उक्त पंक्तियों को अपनी रचना में उजागर किया है। 'मित्रों मरजानी' की पात्र मित्रों को कृष्णा सोबती जी ने बहुत ही बोल्ड रूप में समाज के सामने रखा है। वह स्त्री न केवल अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक है बल्कि नारी देह के अनुभवों को अभिव्यक्त करने का भी साहस रखती है। वह यौनिकता संबंधी अपनी भावना को भी बिना किसी नैतिक संकोच के जाहिर कर पाती है। मित्रों बिना किसी संकोच के कहती

है, "सात नदियों की पारू, तवे सी काली मेरी मां और मैं गोरी–चिट्टी उसकी कोख पड़ी।.....बहुत हुआ हफ्ते–पखवारे ..... और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास की मछली सी तड़पती हूं।" यहां मित्रों बिना किसी दुराव–छुपाव के, निसंकोच अपनी देह की प्यास के बारे में बता रही है, यह आधुनिक स्त्री–विमर्श के लिए एक बड़ी चुनौती है। इस प्रकार धनवंती पात्र पित्तृसत्तात्मक सत्ता के एजेंट के रूप में कार्य करती है। इस प्रकार देखें तो इस कथा के माध्यम से स्त्री के निर्भीक रूप को दर्शाया गया है। स्त्री केवल मार खाने, उलहाना सहने, अत्याचार सहने के लिए ही नहीं जन्मी बल्कि वह अपने विचारों का मंथन कर सकती है, अपनी इच्छाओं को उजागर कर सकती है, स्वतंत्र रह सकती है, स्वाधीनता के पंखों से विचरण कर सकती है।

कृष्णा सोबती जी के साहित्य में समकालीन समाज की नारी के कई रूपों को दर्शाया गया है परंतु कहीं भी सोबती जी ने अपनी रचनाओं के नारी पात्रों को कमजोर नहीं पड़ने दिया है अपितु उनकी रचनाओं में रचित नारी के पात्र नारी के एक नए और स्वतंत्र–स्वाधीन रूप का वर्णन करते दिखाई देते हैं। उन्होंने समकालीन समाज में स्त्री की दशा और दिशा दोनों का वर्णन किया है।

रचनाओं के अनुवाद पक्ष की सार्थकता :–

अनुवाद का अर्थ है किसी एक भाषा के साहित्य को किसी दूसरी भाषा में अनूदित करना। अनुवाद का अपना ही महत्व होता है। किसी एक कृति जो किसी विशेष भाषा में रची गई हो और किसी विशेष समाज वर्ग के लिए या भाषा–भाषी वर्ग के लिए रची गई हो उसी साहित्य या रचना को अनुवाद के माध्यम से किसी दूसरी भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। अनुवाद का महत्व यह है कि किसी एक भाषा की रचना को किसी दूसरी भाषा वाला व्यकित भी पढ़ व समझ सकता है और उस साहित्य का आनंद ले सकता है। इसे जानकारी और ज्ञान में वृद्धि होती है। इसी क्रम में देखें तो कृष्णा सोबती की रचनाओं का भी अनुवाद किया गया है। उनकी रचनाओं के हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद के माध्यम से उनकी रचनाओं के पाठक वर्ग का दायरा बढ़ा है।

उनकी रचना 'डार से बिछुडी' का अंग्रेजी अनुवाद मीनाक्षी भारद्वाज और स्मिता भारती द्वारा अंग्रेजी में 'Memory's daughter' नाम से किया गया। ''मित्रो मरजानी'' उपन्यास का अनुवाद 'To hell with you Mitro', नाम से 'गीता राजन एवं राजी नरसिंहा' ने हिन्दी से अंग्रेजी भाषा में किया जिसे कथा, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया। 'सूरजमुखी अंधेरे के' उपन्यास का हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद 'पामेला मानसी' द्वारा 'Sunflowers of the dark' नाम से किया गया। 'ऐ लड़की' का अंग्रेजी अनुवाद शिवनाथ जी ने 'Listen Girl' नाम से किया, जिसे 'कथा' नई दिल्ली द्वारा 2002 में प्रकाशित किया गया। शिवनाथ जी डोगरी भाषा के शोधार्थी हैं और साथ–साथ एक लेखक और अनुवादक भी। इसी प्रकार उनकी अन्य रचनाओं का भी अनुवाद भी किया गया है जो साहित्य के दायरे को बढ़ाता है।

निष्कर्ष :–

साहित्य में समाज की कई दशाओं को दर्शाया जाता है जिनका संबंध समाज के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि विषयों से होता है। इसी दिशा में समकालीन साहित्य में स्त्री–विमर्श की यथार्थ स्थिति पर कई साहित्य लिखे गए जिनमें नारी की दशा, समस्याओं, उनकी स्थिति, उनकी विवशता तथा समस्याओं का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में प्रस्तुत शोधालेख में महान लेखिका कृष्णा सोबती कृत तीन रचनाओं, अर्थात 'ऐ लड़की', 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'मित्रो मरजानी', का संदर्भ लेते हुए उनके नारी पात्रों का बड़ी सजीवता और

सजगता से वर्णन किया गया है। कृष्णा सोबती जी ने नारी के एक नए रूप जो स्वयं में सत्ता लिए हुए, स्वयं में अहंकार का दंभ भरते हुए, स्वालंबी और स्वतंत्र विचरित स्त्री का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। समकालीन साहित्य में स्त्री के सकारात्मक और निष्पक्ष पक्ष को उजागर करने वाली लेखिका कृष्णा सोबती जी का समकालीन साहित्य के स्त्री–विमर्श में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

संदर्भ सूची :-

1. कृष्णा सोबती : कृति, कृतिकार और कृतित्व – प्रकाशन : महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पृ0 सं. 15
2. व्यक्तित्व (कृष्णा सोबती) – राजेन्द्र यादव, हिन्दी आलोचना और आज की कहानी – सं0 विद्याधर शुक्ल–पृ. 33 प्रकाशन इलाहबाद, चित्रलेखा प्रकाशन, 1978
3. मित्रो मरजानी–कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1967 में प्रकाशित।
4. ऐ लड़की : कृष्णा सोबती

ई–मेल– tina_soin@yahoo.com

मोबाइल –9871785945

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 279-285

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय कला एवं संस्कृति

डॉ० ऊषा रानी

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग (इक्डोल), हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला–05

सारांश :–

हमारा देश प्रकृति और भौतिक दोनों ही प्रकार से विश्व का एक अद्भुत एवं अनोखा राष्ट्र है। इस देश की संस्कृति और कला, सभ्यता और आचरण सभी कुछ इसकी इस विशेषता को उच्चकोटि बनाने में सफल और सहायक हैं। हमारे देश की संस्कृति और कला विश्व की प्राचीन संस्कृति और कला में से एक है। हमारे देश की कला की यह विशेषता रही है कि हमने अपनी परम्परा को अपनाते हुए नवीनता का समर्थन भी किया।

मानव जीवन में कला का महत्वपूर्ण स्थान है। 'कला' शब्द संस्कृत की कल धातु में कच तथा टाप (क़ल . कच, . टाप) लगाने से बनता है। संस्कृत कोश में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जैसे–किसी वस्तु का खोल, खण्ड, चन्द्रमा की एक रेखा, शोभा, अलंकरण, कुशलता अथवा मेधाविता आदि। किन्तु इतिहास तथा संस्कृति में 'कला' से तात्पर्य सौन्दर्य, सुन्दरता अथवा आनन्द से है। अपने मनोगत भावों को सौन्दर्य के साथ दृश्य रूप में व्यक्त करना ही कला है। भारतीय परम्परा में कला को लोकरंजन का समानार्थी निरूपित किया गया है। चूँकि इसका एक अर्थ कुशलता अथवा मेधाविता भी है। अतः किसी कार्य को सम्यक् रूप से सम्पन करने की प्रक्रिया को भी कला कहा जा सकता है। जिस कौशल द्वारा किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता का संचार हो जाये, वही कला है। भारतीय कला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन तथा गौरवशाली है। वस्तुतः यह कला यहाँ के निवासियों के विचारों को समझने का एक सबल माध्यम है।

आचार्य क्षेमराज के अनुसार "स्वयं (स्व) किसी न किसी वस्तु के माध्यम से व्यक्त करना ही कला है और यह अभिव्यक्ति चित्र, नृत्य, मूर्ति, वाद्य आदि के माध्यम से होती है।" इस प्रकार कला मनुष्य की सौन्दर्य भावना को मूर्तरूप प्रदान करती है। वस्तुतः कला का उद्गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा का ही परिणाम है। प्रत्येक कलात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्द की अभिव्यक्ति होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा इस रूप में उसे अपनी भावनाओं तथा विचारों का प्रत्यक्षीकरण करना पड़ता है। यह प्रत्यक्षीकरण अथवा प्रकटीकरण कला के माध्यम से ही संभव है। प्राचीन भारत में कला को साहित्य और संगीत के समकक्ष मानते हुए मनुष्य के लिये उसे आवश्यक बताया गया है। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में स्पष्टतः लिखा है कि साहित्य, संगीत तथा कला से हीन मनुष्य पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु के समान है :–

"साहित्य संगीत कला विहीनः।
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।।"

संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है। संस्कृति विश्व के प्रति अनंत मैत्री की भावना है। संस्कृति जीवन की विधि है। जो भोजन हम खाते हैं, जो कपड़े पहनते हैं, जो भाषा बोलते हैं, जो भाषा हम लिखते हैं और जिस भगवान की पूजा करते हैं, ये सभी सभ्यता कहलाते हैं। तथापि इनसे संस्कृति भी सूचित होती है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृति उस विधि का प्रतीक है जिसके आधार पर हम सोचते हैं, और कार्य करते हैं। इसमें वे अमूर्त एवं अभौतिक भाव और विचार भी सम्मिलित हैं जो हमें एक परिवार और समाज के सदस्य होने के नाते उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं। एक सामाज के सदस्य के रूप में मानवों की सभी उपलब्धियाँ उसकी संस्कृति से प्रेरित कही जा सकती हैं। कला, संगीत, साहित्य, वास्तुविज्ञान, शिल्पकला, दर्शन, धर्म और विज्ञान सभी संस्कृति के प्रकट पक्ष माने जाते हैं। तथापि संस्कृति में रीतिरिवाज, परम्पराएँ, पर्व, जीने के तरीके, और जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यक्ति विशेष का अपना दृष्टिकोण भी सम्मिलित हैं। संस्कृति मानव जनित मानसिक पर्यावरण से सम्बंध रखती है जिसमें सभी अभौतिक उत्पाद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान किये जाते हैं। समाज–वैज्ञानिकों में एक सामान्य सहमति है कि संस्कृति में मनुष्यों द्वारा प्राप्त सभी आन्तरिक और बाह्य व्यवहारों के तरीके समाहित हैं। ये चिह्नों द्वारा भी स्थानान्तरित किए जा सकते हैं, जिनमें मानवसमूहों की विशिष्ट उपलब्धियाँ भी समाहित हैं। वस्तुतः संस्कृति का मूल केन्द्र बिन्दु उन सूक्ष्म विचारों में निहित है जो एक समूह में ऐतिहासिक रूप से उनसे सम्बद्ध मूल्यों सहित विवेचित होते रहे हैं।

संस्कृति किसी समाज के वे सूक्ष्म संस्कार हैं, जिनके माध्यम से लोग परस्पर सम्प्रेषण करते हैं, विचार करते हैं और जीवन के विषय में अपनी अभिवृत्तियों और ज्ञान को दिशा देते हैं। संस्कृति हमारे जीने और सोचने की विधि में हमारी अन्तःस्थ प्रकृति को अभिव्यक्त है। यह हमारे साहित्य में, धार्मिक कार्यों में, मनोरंजन और आनन्द प्राप्त करने के तरीकों में भी देखी जा सकती हैं। संस्कृति के दो भिन्न उप–विभाग कहे जा सकते हैं– भौतिक और अभौतिक। भौतिक संस्कृति उन विषयों से जुड़ी है जो हमारी सभ्यता कहलाती हैं, जिससे हमारे जीवन के भौतिक पक्षों से सम्बद्ध बनते हैं, जैसे हमारी वेशभूषा, भोजन, घरेलू सामान आदि। अभौतिक संस्कृति का सम्बध विचारों, आदर्शों, भावनाओं और विश्वासों से जुड़ा है। भारतीय संस्कृति का श्रेष्ट गुण है रहस्यवादी भावना और समन्वय की प्रवृति रहस्यवादी भावना के कारण आत्मा परमात्मा आदि के सूक्ष्म चिन्तन को लेकर भारतीय दर्शन शास्त्र की अनेक शाखाओं का प्रचार हुआ. समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण भारतीय जीवन में ज्ञान, भक्ति, कर्म और धर्म का शील, सत्य एवं सदाचार का ऐसा समन्वय हुआ कि विभिन्न धार्मिक मान्यताओं और मतवादों के प्रचलित होने पर भी यहाँ के जीवन में वैमनस्य की स्थति नहीं आई है। यहाँ तक की विदेशी आक्रांता जातियाँ भी यहाँ आकर भारतीय संस्कारों को अपनाने लगीं।

भारतीय कला की कुछ ऐसी विशेषताएं है जो इसे अन्य देशों की कलाओं से पृथक् करती हैं। इसकी सर्वप्रथम विशेषता के रूप में निरन्तरता अथवा अविच्छिन्नता को रखा जा सकता है। लगभग पाँच सहस्त्र वर्ष पुरानी सैन्धव सभ्यता की कलाकृतियों से लेकर बारहवीं शती तक की कलाकृतियों में एक अविच्छिन्न कलात्मक परम्परा प्रवाहित होती हुई दिखाई पड़ती है। भारतीय कला के विभिन्न तत्वों, जैसे नगर विन्यास, स्तम्भ युक्त भवन निर्माण, मूर्ति निर्माण आदि का जो रूप हमें भारत की इस प्राचीनतम सभ्यता में दिखाई देता है उसी के आधार पर कालान्तर में वास्तु तथा तक्षण का सम्यक् विकास हुआ।

भारतीय संस्कृति का प्रधान तत्व धार्मिकता अथवा अध्यात्मिकता की प्रबल भावना है जिसने उसके सभी

पक्षों को प्रभावित किया है। कला भी इसका अपवाद नहीं है। इसके सभी पक्षों–वास्तु या स्थापत्य, तक्षण, चित्रकला आदि के ऊपर धर्म का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दू जैन, बौद्ध आदि धर्मों से सम्बन्धित मन्दिरों, मूर्तियों तथा चित्रों का निर्माण कलाकारों द्वारा किया गया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें लौकिक विषयों की उपेक्षा की गयी। धार्मिक रचनाओं के साथ ही साथ भारतीय कलाकारों ने लौकिक जीवन से सम्बन्धित मूर्तियों अथवा चित्रों का निर्माण भी बहुतायत में किया है।

इस प्रकार धार्मिकता तथा लौकिकता का सुन्दर समन्वय हमें भारतीय कला में देखने को मिलता है। भारतीय कला में अभिव्यक्ति की प्रधानता दिखाई देती है। कलाकारों ने अपनी कुशलता का प्रदर्शन शरीर का यथार्थ चित्रण करने अथवा सौन्दर्य को उभारने में नहीं किया है। इसके स्थान पर आन्तरिक भावों को उभारने का प्रयास ही अधिक हुआ है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण हमें विशुद्ध भारतीय शैली में बनी बुद्ध मूर्तियों में देखने को मिलता है। जहाँ गन्धार शैली की मूर्तियों में बौद्धिकता एवं शारीरिक सौन्दर्य की प्रधानता है, वहाँ गुप्तकालीन मूर्तियों में आध्यात्मिकता एवं भावुकता है।

भारतीय कलाकारों ने बुद्ध की मूर्तियाँ बनाते समय उनके मुखमण्डल पर शान्ति, गम्भीरता एवं अलौकिक आनन्द को उभारने की ओर ही विशेष ध्यान दिया है तथा इसमें उसे अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय कलाकारों का आदर्श अत्यन्त ऊँचा था। उन्होंने कला को इन्द्रिय सुख की प्राप्ति का साधन न मानकर परमानन्द की प्राप्ति का साधन स्वीकार किया था। उनकी दृष्टि में रूप या सौन्दर्य पापवृत्तियों को उकसाने का साधन नहीं था अपितु इसका उद्देश्य चितवृत्तियों को ऊंचा उठाना था।

भारतीय कला का एक विशिष्ट तत्व प्रतीकात्मकता है। इसमें कुछ प्रतीकों के माध्यम से अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त कर दिया गया है। कुषाण युग के पूर्व महात्मा बुद्ध का अंकन प्रतीकों के माध्यम से ही किया गया है। पद्‌म, चक्र, हंस, मिथुन, स्वस्तिक आदि प्रतीकों के माध्यम से विभिन्न भावनाओं को व्यक्त किया गया है। पद्‌म–प्राण या जीवन का, चक्र–काल या गति का तथा स्वस्तिक–सूर्य सहित चारों दिशाओं का प्रतीक माना गया है। अशोक के सारनाथ सिंहशीर्ष स्तम्भ की फलक पर उत्कीर्ण चार पशुओं–गज, अश्व, बैल तथा सिंह–के माध्यम से क्रमशः महात्मा बुद्ध के विचार, जन्म, गृहत्याग तथा सार्वभौम सत्ता के भावों को व्यक्त किया गया है। भारतीय कला में कई अनेक शुभ अथवा मंगलसूचक प्रतीक भी है।

भारतीय कलाकार भौतिक यश तथा वैभव के प्रति उदासीन थे। लगता है इसी कारण उन्होंने अपनी कृतियों में कहीं भी अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। भारतीय संस्कृति में अभिव्यक्त समन्वय की प्रवृत्ति भी कलात्मक कृतियों के माध्यम से मूर्तवान हो उठी है। सुकुमारता का गम्भीरता के साथ, रमणीयता का संयम के साथ, अध्यात्म का सौन्दर्य के साथ तथा यथार्थ का आदर्श के साथ अत्यन्त सुन्दर समन्वय हमें इस कला में दिखाई देता है। सुप्रसिद्ध कलाविद् हेवेल ने "आदर्शवादिता, रहस्यवादिता, प्रतीकात्मकता तथा पारलौकिकता को भारतीय कला का सारतत्व निरूपित किया है।"

भारत की कला राष्ट्रीय एकता को स्थूल रूप प्रकट करने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। समूचे देश की कलात्मक विशेषतायें प्रायः एक जैसी हैं। मूर्तियों में समान लक्षण तथा मुद्रायें देखने को मिलती हैं। विभिन्न देवी–देवताओं की मूर्तियों को देखने के बाद ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी देशव्यापी संस्था द्वारा तैयार करवाई गयी हैं। पर्वतों को काटकर बनवाये गये मंदिरों अथवा पाषाण निर्मित मन्दिरों में यद्यपि कुछ स्थानीय विभिन्नतायें

हैं, तथापि उनकी सामान्य शैली एक ही प्रकार की है। इनके माध्यम से भारतीय एकता की भावना साकार ही उठती है। इस प्रकार भारतीय कला राष्ट्रीय एकता की संदेशवाहिका है।

भारतीय कला की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें अलंकरण की प्रधानता–दिखाई देती है। अति प्राचीनकाल से ही कलाकारों ने अपनी कृतियों को विविध प्रकार से अलंकृत करने का प्रयास किया है। अलंकरणों का उद्देश्य सौन्दर्य को बढ़ाना है। भारतीय कला में सर्वागीणता दिखाई देती है। शब्दों में इसमें राजा तथा सामान्य जन दोनों का चित्रण मुक्त रूप से किया गया है। यदि मौर्यकाल की कला दरबारी तो शुंग काल की कला लोक जीवन से सम्बन्धित है। विभिन्न कालों की कला–कृतियों में सामान्य जन–जीवन की मनोरम झांकी सुरक्षित है।

यदि भारतीय कलाकार ने कुलीन वर्ग की रुचि के लिये विशाल एवं सुन्दर कृतियों का निर्माण किया है तो सामान्य जनता के लिये रुचिकर रचनायें भी गढ़ी हैं। इस प्रकार वी० एस० अग्रवाल के शब्दों में, "भारतीय कला देश के विचार, धर्म, तत्वज्ञान तथा संस्कृति का दर्पण है।" भारतीय जन–जीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। भारतीय कला की विशेषता के रूप में सार्वभौमिकता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता का उल्लेख किया जा सकता है । इसके तत्व देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर दक्षिणी–पूर्वी एशिया से लेकर मध्य एशिया तक के विभिन्न स्थानों में अत्यन्त प्राचीनकाल में ही फैल गये। प्रसिद्ध कलाविद् आनन्द कुमारस्वामी ने तो दक्षिणी–पूर्वी एशिया की कला को भारतीय कला का ही एक अंग स्वीकार किया है। इसी प्रकार मध्य एशिया की मूर्तियों तथा स्तूपों पर भी गान्धार कला का प्रभाव देखा जा सकता है।

भारतीय कला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भारतीय चित्रकारी के प्रारंभिक उदाहरण प्रागैतिहासिक काल के हैं, जब मानव गुफाओं की दीवारों पर चित्रकारी किया करता था। भीमबेटका की गुफाओं में की गई चित्रकारी ५५०० ई.पू. से भी ज्यादा पुरानी है। ७वीं शताब्दी में अजंता और एलोरा गुफाओं की चित्रकारी भारतीय चित्रकारी का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। प्रागतिहासिक काल में भारतीयों ने जंगली जानवरों बारहसिंघा, भालू, हाथी आदि के चित्र बनाना सीख लिया था। भारतीय कला 'संस्कृति प्रधान' होने से 'धर्मप्रधान' हो गयी है। वास्तव में धर्म ही भारतीय कला का प्राण है। भारतीय कला धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं से सदा अनुप्राणित रही है। किन्तु भारतीय कलाकारों ने प्रत्येक युग में 'धार्मिक कृतियों' के साथ–साथ लौकिक एवं धर्मेतर कृतियों का भी सृजन किया है क्योंकि भारतीय सामाजिक जीवन में इन्हें भी समान रूप से महत्त्व दिया गया था। अतः भारतीय कला को 'सामान्य जीवन की सच्ची दिग्दर्शिका' भी कहा जा सकता है।

भारतीय चित्रकारी में भारतीय संस्कृति की भांति ही प्राचीनकाल से लेकर आज तक एक विशेष प्रकार की एकता के दर्शन होते हैं। प्राचीन व मध्यकाल के दौरान भारतीय चित्रकारी मुख्य रूप से धार्मिक भावना से प्रेरित थी, लेकिन आधुनिक काल तक आते–आते यह काफी हद तक लौकिक जीवन का निरुपण करती है। आज भारतीय चित्रकारी लोकजीवन के विषय उठाकर उन्हें मूर्त कर रही है। प्राचीन शिल्पियों और स्थापतियों ने अपना नाम और परिचय अधिकांशतः गुप्त रखा क्योंकि सृजनकर्ता के बजाय सृजन को महत्त्व दिया जाता था। इस कारण अधिकांश कलाकृतियाँ 'अनाम' हैं।

भारतीय कला शाश्वत सत्य का प्रतीक है क्योंकि श्सत्यं शिवं सुन्दरम्श् की भावना से युक्त होने के कारण उसमें नित्य नवीनता दिखती है– क्षणे क्षणे यद् नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः (जो क्षण–क्षण नवीन होता रहे, यही रमणीयता है।) भारतीय कला में प्रतीकात्मकता का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कला के माध्यम से सूक्ष्म

धार्मिक एवं दार्शनिक भावों को 'स्थूलरूप' प्रदान करके जनसामान्य के लिये सरस, सरल और सुग्राह्य बनाया गया है।

भारतीय कला भारतीय संस्कृति की संवाहिका है। कला और संस्कृति का आपसी रिश्ता काफी गहरा है। कला संस्कृति की प्रवक्ता होती है। कला के माध्यम से ही संस्कृति हमारे जीवन में अभिव्यक्ति पाती है। कला अपने सांस्कृतिक सरोकारों के साथ आगे बढ़ती है। इसकी अभिव्यक्ति कला के विविध रूपों (संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला, स्थापत्य कला, सिनेमा, फोटोग्राफी, साहित्य आदि) में जीवंत होती है। रामधारी सिंह दिनकर नें संस्कृति के चार अध्याय के उपसंहार में लिखते हुए कहा है कि, "प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने आप में पूर्ण होती है। उसके सभी अंश और सभी पहलू एक दूसरे पर अवलम्बित और सबके सब किसी केंद्र से संलज्न होते हैं। संस्कृतियां जब बदलती हैं, तब खान–पान,रहन–सहन और पोशाक भले ही बदल जाएं, किंतु उनका मन नहीं बदलता, सोचने की पद्धति नहीं बदलती और जीवन को देखने का दृष्टिकोण उनका एक ही रहता है।" उपरोक्त से हमें संस्कृति की परिभाषा की एक सूक्ष्म झलक मिलती है।

रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, "संस्कृति मानव समाज में उस तरह व्याप्त है, जिस तरह फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता।" अर्थात कोई संस्कृति युग–युगान्तर में निर्मित होती है। नृतित्वशास्त्री टॉयलर के अनुसार, "संस्कृति में वह समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, विधि, प्रथा तथा अन्य क्षमताओं और आदतों के समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में उपार्जित करता है।" टीएस इलियट के अनुसार, "शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं के आस्पादन आदि के अतिरिक्त किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएं व कार्य जो उसे विशिष्ट बनाते हैं, उसकी संस्कृति के अंग हैं।" उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृति किसी भी समाज की परंपरा से मिली भौतिक व अभौतिक विरासत का नाम है। कला, संस्कृति का हिस्सा होती है और कला के माध्यम से कोई भी संस्कृति अपनी अभिव्यक्ति पाती है। अतः हम कला एवं संस्कृति को इसी रूप में देखते हैं।

आजादी के बाद से कला एवं संस्कृति के लोकप्रियकरण हुआ है। अभिजात्य वर्गों तक सिमटी कला को आम लोगों की स्वीकार्यता मिली। जिसके फलस्वरूप इसका तेजी से विकास संभव हो सका। संस्कृति को साथ लेकर चले बिना किसी देश का वास्तविक विकास संभव नही है। भारत एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत वाला देश रहा है। जिसकी कीर्ति आज भी सारे विश्व में अपनी संपूर्ण आभा के साथ विद्यमान है। अखबार और पत्रिकाएं किसी देश और समाज की जीवंत धडकनों स्पंदन का दस्तावेज होते हैं। अखबारों ने भारत की वैभवशाली सांस्कृतिक विरासत को सहेजने के साथ–साथ आम जनमानस तक इसे सही स्वरूप में पहुंचाने का भी काम पूरी तत्परता और लगन के साथ किया है।

भारतीय संस्कृति के विविध आयामों में व्याप्त मानवीय एवं रसात्मक तत्त्व उसके कला–रूपों में प्रकट हुए हैं। कला का प्राण है रसात्मकता। रस अथवा आनन्द। हमारे देश की कला–संस्कृति से मोहित होकर ही विदेशियों ने हमारे देश पर हमला किया। हमारे देश की कला की यह विशेषता रही है कि हमने अपनी परम्परा को अपनाते हुए नवीनता का समर्थन भी किया। इस प्रकार से हमारी कलाकृतियाँ आज भी इस रूप में दिखाई पड़ती है। हमारी कलाएँ ही इस तथ्य का प्रमाण देती हैं कि हमारे शासक और राष्ट्रनायक भी अपनी संस्कृति और सभ्यता के ही समर्थक और हिमायती रहे हैं। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाने में तनिक देर

नहीं लगाई। उन्होंने अपने अखण्ड राज वैभव को मिटाने या धूल धूसरित होने की तनिक भी चिन्ता नहीं की। इस तरह उन्होंने अपनी कला संस्कृति की सबसे बढ़कर चिन्ता की।

हम यह देखते हैं कि हमारे देश पर मुसलमानों ने जब हमला किया, तब उनके मन में इस देश की संस्कृति और कला के प्रति एक विशेष आकर्षण की भावना ही तो थी। मुसलमानों के धीरे–धीरे जमते हुए प्रभाव के फलस्वरूप हमारी भारतीय कला ने अपनी प्राचीनता की छाप तो छोड़ी नहीं। इसके साथ ही साथ इसने मुस्लिम संस्कृति और कला को अपनाकर उसे ऐसा अद्‌भुत रूप दिया कि यह हर विदेशी के लिए एक मनमोहक विषय केन्द्र बन गया। फतेहपुर सीकरी के मनमोहक इमारतें, आगरे का ताजमहल, माण्डू के प्रसिद्ध किले में स्थित हिंडोला महल, जहाज महल, जबलपुर, खजुराहो, उज्जैन, पंचमढ़ी, अजन्ता एलोरा की गुफाएं तथा मूर्तियाँ आदि हमारी भारतीय कला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यही नहीं हमारे देश के कोने–कोने में बिखरे मंदिरों की कलाकृतियाँ भी हमारी भारतीय कला के अच्छे नमूने हैं।

भारतीय नृत्य कला के अन्तर्गत ताँडव नृत्य की विभिन्न शैलियाँ आज विकसित होकर न केवल विदेशियों को आकर्षित करती हैं, अपितु नृत्य कला के क्षेत्र में अपना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। कथक नृत्य, भरत नाटयम, मणिपुर नृत्य, भांगड़ा नृत्य, घुमर गरवानृत्य, नौटंकी आदि भारतीय नृत्य कला की विशिष्ट कोटियाँ हैं जो हमें गर्वित और स्वाभिमानी होने का सुअवसर प्रदान करती हैं। नृत्य और नाटक का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। नाटय नृत्य का विकास इसी आधार पर हुआ है। आज हमारे देश में नाटय नृत्य की जितनी कलाएँ विकसित हुई हैं, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। नृत्य का नाटय को महत्वपूर्ण बनाने में अद्‌भुत योगदान है। नाटय नृत्य के द्वारा हमारे कलाकार हमारे देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का ऊँचा और अमर गान गाया करते हैं इसे विदेशों के अनेकानेक हमलों ने समाप्त करने की अपनी हार स्वीकार कर ली थी। इस तथ्य को किसी शायर ने बड़े ही आकर्षक रूप से व्यक्त किया था :–

"यूनान–ओ–मिस्र–ओ–रोमा सब मिट गए जहाँ से, बाकी मगर है अब तक नाम–ओ–निशां हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, सदियों रहा है दुश्मन दौर–ए–जमाँ हमारा।"

अर्थात् हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति विश्व के सर्वाधिक प्राचीन देशों यूनान, मिस्र, रोम से कम नहीं थी। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि ये सभी देश अपनी पराधीनता के कारण अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति को आज खो चुके हैं जबकि हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति बार बार विदेशी हमले के बावजूद भी ज्यों की त्यों आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि हमारी संस्कृति और विभिन्नता में होती हुई भी जितना एकता का आधार लिए हुए है उतना और कोई संस्कृति कला नहीं।

हमारी भारतीय कला नकलनवीस न होती हुई भी नकलनवीस से मजबूत है। यहाँ का नागरिक विदेशी खान पान, रहन सहन, बोलचाल, दर्शन आदि को अपनाने की कला में जितना तेज और कुशल है। इतनी और कोई विदेशी कला नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए एक भारतीय जितनी साफ और आसानी से विदेशी भाषा को बोल सकता है, अनुकरण कर सकता है और रूप धारण कर सकता है, उतना कोई विदेशी भारतीयता का नकलनवीस नहीं बन सकता है।

निष्कर्ष :–

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय कला चाहे वह नृत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला आदि जीवन की

कोई भी कला हो, सब की सब अनुपम और अद्‌भुत हैं। इसके परिणास्वरूप यह विश्व को आकर्षित करती रही है। किसी भी देश के विकास में कला का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यह साझा दृष्टिकोण, मूल्य, प्रथा एवं एक निश्चित लक्ष्य को दिखाता है। सभी आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य गतिविधियों में संस्कृति एवं रचनात्मकता का समावेश होता है। विविधताओं का देश, भारत अपनी विभिन्न संस्कृतियों के लिए जाना जाता है।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. आचार्य क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदय स्पंदसंदोह।
2. भर्तृहरि, नीतिशतक।
3. डॉ० रघुवीर सिंह बोकन, भारतीय संस्कृति का स्वरूप।
4. वही।
5. आनन्द कुमारस्वामी, इंट्रोडक्शन टु इंडियन आर्ट।
6. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय।
7. डॉ० रघुवीर सिंह बोकन, सुमित्रानंदन पंत के काव्य में सांस्कृतिक चेतना।
8. वही।
9. अल्लामा इकबाल, बांग–ए–दरा।

ईमेल – drraniusha@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 286-291

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

शाहजहाँ कालीन स्थापत्य कला आगरा के विशेष सन्दर्भ में

उजमा तबस्सुम

शोधार्थी, चित्रकला विभाग, गोविन्द गुरु जनजातीय विश्वविद्यालय, बांसवाड़ा,राजस्थान

डॉ. दीपक सालवी

शोध निर्देशक एवं सहायक आचार्य, चित्रकला विभाग, राजकीय मीरा महाविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान।

प्रस्तावना :–

जैसाकि हम जानते हैं कि भवन निर्माण की कला को स्थापत्य कला कहते हैं। समय व तकनीक के साथ–साथ मानव ने विभिन्न वास्तु रचनाओं का निर्माण किया है। 'स्थापत्य' फ्रेन्च भाषा का शब्द है। जिसका अर्थ है (बिम) भारत में वास्तु शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के वस् धातु से हुई है। जिसका अर्थ होता है– (बसाना) अर्थात वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करता हैं। किन्तु भारतीय सन्दर्भ में वास्तुकला शब्द का प्रयोग अत्यंत विस्तृत अर्थ में हुआ है। दृश्यकलाओं में चित्रकला व मूर्तिकला दोनों को ही वास्तुकला के अन्तर्गत रखा गया है। भारतीय परम्परा में मूर्ति व चित्र निर्माण प्रमुख रुप से वास्तु कृतियों पर ही निर्भर रहा है।

भारतीय वास्तुकला का महान स्त्रोत धर्म ही रहा हैं और प्राचीन मन्दिरों आदि के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि हम तीनों कलाओं को एक साथ ही देखतें है।

भारतीय वास्तुकला ने सौन्दर्य को अपना लक्ष्य नहीं बनाया है। वरन् सौन्दर्य के साथ–साथ "सत्यम शिवम" को भी अभिव्यक्त किया गया हैं। वास्तुकला की जानकारी हमें निम्न ग्रंथो से मिलती है। जैसे :–

1. पुराण आदि संकलन रुप ग्रन्थ।
2. शैवागम ग्रन्थ।
3. वास्तुकला प्रतिपादक ग्रन्थ।

वास्तुकला का वर्णन ऋग्वेद में भी किया गया है। "मानसार" में भी वास्तु–शिल्प का अत्यन्त विशद एवं विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

भारत में समय के साथ–साथ विभिन्न राजवंशो ने शासन किया है। इन्होंने अपने लिए विभिन्न भवनों जैसे –मकबरों, मस्जिदों, मंदिरों, दुर्गों का निर्माण करवाया जो वर्तमान में प्राचीन धरोहरों के रुप में विद्यमान हैं।

प्रत्येक ऐतिहासिक स्थापत्य कला में कुछ संकल्पनाएं और विशिष्टताएँ दिखाई देती हैं। जैसें– ईसाइयों में सच्ची–सादगी और गौरव व्यक्त करने वाले गिरजाघरों के निर्माण के प्रति उत्साह गोथिक निर्माताओं में यांत्रिकी का प्रयोग, बौद्ध और हिन्दु स्थापत्यकला में आध्यात्मिक एवं मुस्लिम स्थापत्य कला में अकल्पनीय धन सम्पदा, विशाल भूखण्ड पर इसका प्रभाव झलकता है।

जैसाकि हम जानते है कि स्थापत्य कला एक शैली है जो औपनिवेशिक देशों में कॉलोनियों या भवनों हेतु प्रयोग की गई है तथा इसमे मूल देश की कला का मिश्रण है। भारत में भी औपनिवेशिक स्थापत्य कला सरकारी भवनों, मस्जिदों, भव्य इमारतों के रुप में दिखाई देती है। आधुनिक भारत में विक्टोरिया के भवनों का निर्माण हुआ था। इस समय की शैलीं में इस्पात व ईंटों वाले गुम्बदों का निर्माण किया गया हैं। भारत में गुप्तकाल से मन्दिरों का निर्माण शुरु हुआ। इस शैली में तीन कलाएँ थी।

1. नागर शैली 2. बेसर शैली, 3. द्रविड शैली

वैसे तो भारत में वास्तु कला के उदाहरण पुरे भारतवर्ष में यत्र –तत्र देखने को मिलते है लेकिन इस्लामिक वास्तुकला के उदाहरणों को देखने व समझनें का प्रयास करते है। भारत में मुगल कला की शुरुआत बाबर के प्रवेश के समय ही हो गई थी। बाबर का जन्म 14 फरवरी 1483 को फरगना प्रांत में हुआ था। दौंलत खां व आलम खां के निमंत्रण पर बाबर भारत आया था। बाबर के पश्चात हुमायू, अकबर, जहॉगीर और शाहजहाँ ने क्रमशः भारत की सत्ता सम्भाली। जहाँगीर का काल मुगल चित्रकला का (स्वर्ण) काल कहा जाता है। जहाँगीर ने स्थापत्य कला में शीशमहल व चश्मेनूर का निर्माण करवाया। हुमायूँ अपने शासन काल में वास्तुकला की तरफ विशेष ध्यान नहीं दे पाया था। हुमायूँ ने दीन–ए–पनाह नामक महल व मस्जिदों का निर्माण करवाया था। ये मस्जिदें आगरा व फिरोजाबाद में थीं हुमायूँ से सम्बन्धित एक प्रसिद्व इमारत हुमायूँ का मकबरा जिसका निर्माण हुमायूँ की दूसरी पत्नी हाजी बेगम द्वारा सन् 1564 में कराया गया था। यह मकबरा वास्तुकला विशेषज्ञ मिर्ज़ा ग्यास की देख–रेख में होने के कारण इस पर ईरानी प्रभाव रहा। इतिहासकारों ने इस इमारत के गुम्बद की खूब प्रशंसा की। लईंक अहमद का इस इमारत के बारे में कहना है कि :–

"ताजमहल को हम यदि एक वफादार आशिक का खिराज़ कहते हैं। तो हुमायूँ के मकबरे को एक वफादार पत्नी की महबूबाना पेशकश कहना पड़ेगा।"

वास्तव में मुगल स्थापत्यकला अकबर के समय से प्रारम्भ होती है। इस समय की कला हिन्दु व मुस्लिम शैलियों का मिश्रण थीं। अकबर के समय में निर्मित इमारतों में आगरा का लालकिला सबसे प्रसिद्व है। इस किले का निर्माण सन् 1565 ईस्वी में कासिम खां की देख–रेख में प्रारम्भ हुआ था इसके निर्माण में लगभग 15 वर्ष लगें यह किला पूर्ण रुप से लाल पत्थर से बना हुआ हैं। इस पर हिन्दु व ईरानी कला की छाप दिखाई देतीं है। किले की दीवार 70 फीट उँची है। इस किले के चार दरवाज़ें हैं। मुख्य दरवाजा दिल्ली दरवाज़ा के नाम से प्रसिद्व हैं। इसके विषय में पर्सी ब्राउन ने लिखा है कि :–

"यह दरवाजा भारत में सर्वाधिक प्रभावपूर्ण दरवाज़ों में से एक हैं।"

शाहजहाँ का काल स्थापत्य कला का स्वर्ण काल माना जाता है। शाहजहाँ ने चित्रकला के स्थान पर स्थापत्य कला को अधिक महत्व दिया था और इसकी प्रेरणा उसे अपनी पत्नी मुमताज से मिली जिसके लिए शाहजहाँ ने ताजमहल जैसी भव्य इमारत का निर्माण करवाया शाहजहाँ ने अपने जीवन काल में कई भवनों का निर्माण करवाया। शाहजहाँ चित्रकला के साथ–साथ वास्तुकला प्रेमी भी था।

शाहजहाँ के शासन काल में आयें विदेशी यात्री :–

1. जीन बैप्टिस्ट टेवर्नियर
2. फ्रेंसिस बर्नियर

शाहजहाँ के शासन में स्थापत्य कला की यात्रा (आगरा के विशेष संदर्भ में)

1. **ताजमहल :-**

पूरे विश्व के वास्तुकला के इतिहास में ताजमहल को सौन्दर्य की प्रतिकृति माना जाता रहा है और यह भव्य इमारत जो कि मकराना के सफेद संगमरमर से बनी है। जोकि भारत की शौभा बढ़ाती है। आगरा का ताजमहल हिन्दुस्तान के उतर प्रदेश राज्य के आगरा शहर में स्थित है। यह एक मकबरा के रुप में जाना जाता है। जिसे शाहजहाँ ने अपनी प्रिय पत्नी मुमताज महल की याद में बनवाया था। आगरा के ताजमहल को युनेस्को की विश्व धरोहर सूची में शामिल किया गया है। जो कि दुनिया के सात अजूबो में सातवें स्थान पर अपना मुकाम बनायें हुए हैं।

इस भव्य इमारत को देखने के बाद सबको अपना पहला प्रेम याद आ जाता है और वह भी अपनी प्रेमिकाके लिए ऐसी इमारत बनाने के सपने देखने लग जाते हैं। जो भी युगल जोडा इस इमारत को देखने आता है इस इमारत को निहारते हुए व्यक्ति अपनी पत्नी या प्रेमिका को ऐसी इमारत बनाने का सपना दिखाता है। क्योंकि प्रेमिका अपने प्रेमी को ऐसी इमारत बनाने की लिए कहती है। जिससे उनका प्रेम और गहरा हो जाता है। जो भी पर्यटक विश्वभर से भारत घुमने आते है। वे सभी आगरा में इस प्यार की निशानी को देखे बिना नहीं जाते हैं।

ताजमहल को वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना माना जाता है। यह इमारत फारसी, तुर्की, भारतीय व इस्लामी वास्तुकला का मिश्रण है। ताजमहल को भारत की इस्लामी कला का रत्न माना जाता है। ताजमहल की सम्पूर्ण इमारत संगमरमर से बनी हुई है इस इमारत का निर्माण सन् 1631 ई को यमुना नदी के किनारें हुआ था। उस समय इसको बनाने में लगभग 9 करोड़ खर्च हुए इस इमारत के प्रधान रुपांकनकर्ता उस्ताद अहमद लाहौरी थे। तथा प्रधान मिस्त्री उस्ताद ईसा थे।

इस भव्य इमारत में बना मुमताज व शहाजहाँ का मकबरा ताजमहल का केन्द्र बिन्दु है। इस इमारत को एक वर्गाकार रुप में बनाया गया हैं। यह इमारत सम्पूर्ण रुप से भारत देश के राजस्थान राज्य के मकराना नामक स्थान से लाये गये संगमरमर से बनाई गई है। इमारत के चारों किनारों पर चार मीनारें बनाई गईं हैं यह मीनारें सम्पूर्ण भवन को आपस में जोड़े रखती हैं। इमारत के मुख्य कक्ष में शाहजहाँ व मुमताज को दफनाया गया है। इन दोनों की कब्रो को मकबरे के रुप में जाना जाता है। ताजमहल का सबसे सुन्दर हिस्सा संगमरमर से बना गुम्बद हैं। गुम्बद की ऊंचाई लगभग 35 मीटर है। गुम्बद के दोनो तरफ गुम्बदनुमा छतरियां भी बनी है।

ताजमहल का बाहरी भाग मुगल वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है जैसे जैसे सतह का क्षेत्रफल बदलता है। बड़ें पिश्ताक का क्षेत्र छोटे से अधिक होता है और उसका अलंकरण भी उसी अनुपात में बदलता है। यहाँ पर इस्लाम धर्म के मानवतारोही आकृतियों के प्रतिबन्ध का पूर्ण पालन किया गया है। यहां पर केवल फूल पत्तियां बनाई गई है। इस इमारत की मुख्य बात यह है कि इसके चारो तरफ कुरान की आयतें लिखी गई है। ताजमहल के निर्माण में विश्व प्रसिद्व मकराना का सफेद संगमरमर लगा है इस संगमरमर को लाने के लिए सेकड़ों की संख्या में हाथी मंगवायें गये थे यह हाथी अपने जीवन काल में केवल 1 चक्कर पुरा कर पाये थे।

लेनपूल ने ताजमहल के बारे में लिखा है। कि" ताजमहल संगमरमर के रुप में वह स्वपन है जिसकी योजना ईश्वर ने तैयार की तथा निर्माण स्वर्णकारों द्वारा किया गया है।"

हावेल :– ने ताजमहल के बारे में कहा की " यह भारतीय नारी की साकार प्रतिमा है। तथा कहा कि यह एक ऐसा महान विचार है जो स्थापत्य कला से नहीं बल्कि मूर्तिकला से संबंधित है।"

विश्व प्रसिद्व आगरा का ताजमहल

2. दीवानें–आम :–

यह शाहजहाँ द्वारा संगमरमर से बनाई गई पहली इमारत है। इस इमारत में तख्ते ताउस या मयूर सिंहासन रखा गया हैं। दीवानें आम में शाही दरबार लगता था।

दीवाने ए आम

3. दीवाने ए खास :–

इस इमारत का निर्माण 1637 ई में हुई था। इसमें गुप्त मंत्रणा होती थी। इसका प्रयोग विशिष्ट लोगों के लिए किया जाता था। विदेशी राजदूत पदाधिकारी और राजाओं की खातिरदारी इसी में की जाती थी। दीवाने ए खास सत्ता का मुख्य केन्द्र हुआ करता था।

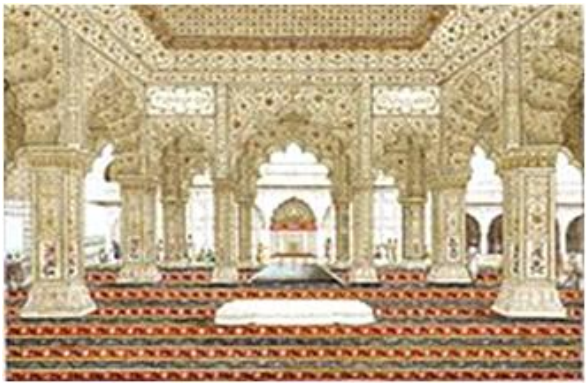

दीवाने ए खास

4. मोती मस्जिद :-

मोती मस्जिद का निर्माण 1654 में जहांआरा के सम्मान में किया गया था। यह इमारत पूर्ण रुप से संगमरमर से बनी हैं। यह आगरा के किले की सबसे सुन्दर ईमारत है। इसका निर्माण शहाजहाँ द्वारा करवाया गया था।

मोती मस्जिद आगरा

5. मुसम्मन बुर्ज :-

इसे शाह बुर्ज भी कहा जाता है। ये छः मंजिल का है। गोपनीय आदेश यहॉ से ही जारी किये जाते थे। शाहजहा ने अपने अन्तिम दिन इसी बुर्ज से ताजमहल को निहारते हुए गुजारे थे।

मुसम्मल बुर्ज आगरा

6. शीश महल :-

शीश महल आगरा में स्थित है। जिसका उपयोग महिलाओं द्वारा हमाम एवं परिधान कक्ष के रुप में किया जाता है। इस का निर्माण मुगल बादशाह शाहजहाँ ने सन् 1637 ईस्वी में एक तुर्की हमाम के रुप में कराया था। यह महल इतना सुन्दर हैकि यहाँ फिल्म मुगल ए आजम का गीत जब " प्यार किया तो डरना क्या भी शूट किया गया था।"

7. नगीना मस्जिद आगरा :-

यह मस्जिद आगरा के किले में स्थित है। जिसे शाहजहाँ ने शाही इबादतगाह के रुप में बनवाया गया था। साथ ही यहाँ नमाज़ पढ़ने के लिए महिलाओं के लिए भी अलग से इंतजाम किए जाते थे। कहा जाता है। कि यह खूबसूरती में ताजमहल से सुन्दर है।

8. मच्छी भवन आगरा :-

मच्छी भवन का निर्माण शाहजहाँ ने करवाया था। ऐसा कहा जाता हैं कि इसका इस्तेमाल सम्राट के लिए सोने की मछलियों को पालने के लिए किया जाता है। मच्छी भवन भी आगरा में ही स्थित है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :-

1. सक्सेना बनारसी प्रसाद हिस्ट्री ऑफ शाहजहाँ ऑफ देहली (इलाहबाद द इण्डियन प्रेस लि.) 1932
2. स्टॉल बी 1995, आगरा एण्ड फतेंहपुर सीकरी, मिलेनियम।
3. लल जॉन 1992, ताजमहल टाइगर इंटरनेशनल प्रेस।
4. गैस्कौइन बैम्बर 1971, द ग्रेट मुगल्स हार्पर रो।
5. भारतीय संस्कृति के मूल आधार, डॉ ए के मित्तल, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 1998।
6. Travels in India, Jean baptiste, 1995।
7. बर्नियर, बर्नियर की भारत यात्रा, संस्करण 1997
8. लईक अहमद, भारतीय संस्कृति के मूल आधार पुस्तक, पृष्ठ संख्या 181
9. डॉ ए के मित्तल, भारतीय संस्कृति के मूल आधार, पृष्ठ संख्या 182
10. Travels in India, jean baptiste, P. No. 12
11. गंगा प्रसाद गुप्त, बर्नियर की भारत यात्रा, पृष्ठ संख्या 04 प्रथम संस्करण 2001

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 292-295

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

हरियाणा का लोक कला वैभव

डॉ. वंदना वर्मा

एसोसिएट प्रो., चित्रकला विभाग, जेकेपी पीजी कॉलेज, मुजफ्फरनगर यू.पी.।

कोई भी कला जो सीधे तौर पर आम आदमी से जुड़ी होती है उसे लोक कला के रूप में जाना जाता है। लोक कला का महत्व इसलिए नहीं है क्योंकि यह आम लोगों की कला, उनकी रुचियों और विचारधाराओं को दर्शाती है, बल्कि इसलिए कि लोक कला का इतिहास हमारी सांस्कृतिक भव्यता का इतिहास है, संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि लोक कला की अभिव्यक्ति है आम लोग और एक छोटे सांस्कृतिक वर्ग की अभिव्यक्ति। लोक कला का निहितार्थ किसी गांव या कस्बे की कला नहीं है बल्कि यह किसी भी शहर या शहर की कला है जिसका व्यावहारिक ज्ञान की नींव अकादमिक कला की औपचारिक शिक्षा पर नहीं है लोक कला जीवन की सहज प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। जो लोग सुसंस्कृत और सभ्य माने जाने वाले लोगों के बजाय अधिक सरल और प्राकृतिक जीवन जीते हैं, यह तथ्य ग्रामीण लोगों पर अधिक लागू होता है, इसलिए, बार–बार, इस कला को डॉ मंदाना मर्मा को ग्रामीण लोगों की कला माना जाता है, लेकिन वास्तव में एसा नही है।

मनुष्य की जन्मजात रचनात्मकता ने मनुष्य की अंतर्निहित आवश्यकताओं को आत्मसात् करके लोक कला का निर्माण किया है। मानव जीवन के प्रसार और परिवर्तन के साथ–साथ लोक कला का भी प्रसार हुआ है और अनुपातिक रूप से परिवर्तित हुआ है।

हरियाणा का नाम तुरंत एक ऐसे राज्य की छवि को जोड़ता है जो आश्चर्यजनक रूप से पुरातनता और प्रचुरता दोनों को जोड़ता है हरियाणा की वैदिक भूमि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का पालना रही है। भारतीय परंपराएं इस क्षेत्र को उत्तरी वेदी के निर्माण के मैट्रिक्स के रूप में मानती हैं जहां ब्रह्मा ने प्रदर्शन किया था। प्राचीन बलिदान और ब्रह्मांड का निर्माण किया। हरियाणा महाभारत की भूमि है, जहां कुरुक्षेत्र के महाकाव्य युद्ध में पांडव और कौरव भिड़ गए थे, यह जीवन, कर्तव्य और मृत्यु पर प्रसिद्ध भारतीय ग्रंथ गीता की भूमि भी है। मनुस्मृति में हरियाणा के क्षेत्र का उल्लेख ब्रह्मवर्त के रूप में किया गया है। हम हरियाणा में रुचि के स्थानों से आसानी से मोहित हो जाते हैं और आध्यात्मिकता की भावना हमारे दिल में स्वतः ही उमड़ पड़ती है और हमारे शरीर का हर अंग बंद हो जाता है।

हमारी संस्कृति 'सत्यं शिवम सुंदरम' (सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर सुंदर है) के दर्शन से प्रेरित है, जिसे सार्वभौमिक रूप से धर्म, काम, मोक्ष और अर्थ की सराहना की जाती है, जो हमारी संस्कृति का सार है। आस्तिकता। संतों और संतों के ध्यान की भूमि के हर दाने में आतिथ्य, और उदारता भरी हुई है। इस भूमि के तीर्थयात्री, उपवास और त्यौहार आपसी सौहार्द, प्रेम, उत्साह, आनंद, मस्ती, आनंद पंचकूला को भाई–बहनों के

परम सुखों में तेजी से बदलते प्रकृति का प्रसार करते हैं। ऋतु–चक्र और जीवन चक्र हममें जीवन शक्ति और चेतना का संचार करते प्रतीत होते हैं इस महान आदरणीय राज्य को आदर्श राज्य के रूप में जाना जाता है।

हरियाणा राज्य 44212 वर्ग किमी के क्षेत्र में फैला है। भारतीय संघ के उत्तरी क्षेत्र का हिस्सा है। यह पूर्व में उत्तर प्रदेश से पश्चिम में पंजाब, उत्तर में हिमाचल प्रदेश और दक्षिण में राजस्थान के विशाल विस्तार से घिरा हुआ है।

हरियाणा की प्रशासनिक सीमाएँ समय–समय पर राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव के अनुसार बदलती रही हैं, लेकिन राज्य की भौगोलिक और प्राकृतिक सीमाएँ जस की तस बनी हुई हैं। ये उत्तर में शिवालिक पहाड़ियाँ हैं, और पूर्व में यमुना नदी दक्षिण–पश्चिमी सीमा अरावली पहाड़ियों की श्रेणी द्वारा प्रदान की जाती है, जो दक्षिणी डेल्स और गुड़गांव जिले से होकर अलवर नदी तक चलती है घग्गर पश्चिम में सीमा है।

हरियाणा का वर्तमान राज्य 1 नवंबर 1966 को पंजाब के द्विभाषी राज्य के विभाजन के परिणामस्वरूप गठित किया गया था, राज्य में 19 जिले गुड़गांव शामिल हैं। फरीदाबाद, रोहतक, महेंद्रगढ़, हिसार, सिरसा, करनाल, जींद, अंबाला, ब्लूवान। कुरुक्षेत्र, सोनीपत, पानीपत, झज्जर रेवाड़ी, फेचाबाद। कैथल, यमुनानगर और पंचकूला।

हरियाणा के नाम की उत्पत्ति विभिन्न स्रोतों से हुई है और इसे सर्वल तरीके से समझाया गया है। एक मत के अनुसार हरियाणा, की उत्पत्ति 'हनयाली' ले हरियाली से हुई है, जो इस बात की ओर इशारा करती है कि एक समय में यह एक समृद्ध और उपजाऊ भूमि थी।

'हरियाणा में अधिकांश लोग उम्र के लिए छोटे गांवों और कस्बों में रह रहे हैं। इस राज्य में 6955 गांव और 106 कस्बे हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार, हरियाणा की कुल जनसंख्या 21 मिलियन 20 हजार थी जो अब तक पहुंच गई है। 2008 की जनगणना के अनुसार 25 मिलियन' मध्ययुगीन काल के दौरान यह दिल्ली सबा का एक हिस्सा था, अंग्रेजों ने इसे पहले बंगाल प्रेसीडेंसी (1803–1833) और बाद में 1858 तक एनडब्ल्यू प्रांतों को टैग किया। विद्रोह के बाद पूरे हरियाणा क्षेत्र को पंजाब का हिस्सा बना दिया गया। 1947 में हमारी स्वतंत्रता पर, जब पंजाब का विभाजन हुआ, हरियाणा पूर्वी पंजाब के नए राज्य का एक हिस्सा बन गया।

इस क्षेत्र की बहुसंख्यक आबादी वैष्णव धर्म की अनुयायी है, हिंदू धार्मिक भावनाओं को फैलाने के लिए व्यापक रचनात्मक अभियान के एक हिस्से के रूप में नए मंदिरों का निर्माण किया गया था। मंदिरों की दीवारों को देवी–देवताओं के सुंदर चित्रों से सजाना शुरू कर दिया गया था, इसलिए धीरे–धीरे जनहित के कारण, दीवार की पेंटिंग न केवल धार्मिक प्रेरणा का स्रोत बनी रही, बल्कि स्थापत्य सौंदर्यीकरण और कलात्मक स्वभाव का अविभाज्य हिस्सा भी माना जाता है, नतीजतन हवेलियों और मंदिरों को चित्रों से सजाना शुरू कर दिया गया था और घरों में चित्रों की उपस्थिति को सबसे अनुकूल माना जाता था।

हरियाणा में ये पेंटिंग कुछ पुरानी हवेलियों और मंदिरों में पाई जाती हैं जो अपनी तरह की असाधारण और गणना योग्य हैं। धार्मिक, सामाजिक और सजावटी पेंटिंग।

लोक कला और हस्तशिल्प के बीच गहरा संबंध है, ये कलाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और कभी–कभी इन दोनों के बीच अंतर करना लगभग मुश्किल होता है। एक और दुविधा यह है कि श्रेणी हस्तशिल्प को लोक शिल्प में रखा जाए या लोक शिल्प में और इन कलाओं की व्यापक जांच करना इस शोध का उद्देश्य है।

प्रत्येक विशेष क्षेत्र लोक कला की एक विशेष भूमि से प्रभावित होता है उदाहरण के लिए, हरियाणा में 'सांझी' 'नवरात्र' के सबसे शुभ सप्ताह के दौरान प्रमुखता में है, और 'सांझ' की रचना को एक अवसर या त्योहार के रूप में मनाया जाता है। इसे दिन में पीसकर बनाया जाता है और फिर मिट्टी के लेप को देवी के आकार में दीवार पर चिपका दिया जाता है। इस 'सांझी' का आकार गांवों में बढ़ता है।

लोक कला का एक बड़ा हिस्सा आपस में जुड़ा हुआ है हिंदू त्योहार यहां मनाए जाने वाले सभी त्योहारों की अपनी विशेषताएं हैं कि वे प्रत्येक अवसर पर एक विशेष प्रकार की पेंटिंग बनाते हैं जो केवल उस त्योहार से संबंधित होती हैं। यह इन लोगों के त्योहारों के महत्व को चित्रित करने की परंपरा है।

इन लोक कलाओं से संबंधित प्रत्येक लोक कथा ज्ञान का भंडार है लोक कथाओं से संबंधित सभी लोक कलाएं ऐसे विचारों को समाहित करती हैं जो हम मामले में सीखते हैं और जिनसे हम अपने सामाजिक जीवन से संबंधित बहुत सारी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

हरियाणा में लोगों के कपड़े आम तौर पर साधारण होते हैं, जिसमें धोती, शर्ट, पगड़ी और एक जोड़ी जूते (पाटन) शामिल होते हैं, एक कंबल या चादर आवरण के रूप में कार्य करता है। जाट, अहीर, राजपूत के लिए पगड़ी (खंडवा) की एक अलग शैली है। बामा या ब्राह्मण विभिन्न समुदायों की पोशाक में भी कुछ अंतर है, विशेष रूप से महिलाओं के बीच अजात महिला की पूरी पोशाक, थल, घग्गरी, शर्ट, और एक मुद्रित ओरहनी (आगे और कंधों पर लिपटा हुआ कपड़ा) होता है। घग्गरी शायद ही कभी बछड़ों के नीचे गिरती है। अहीर महिला को हमेशा उसके लहंगे, या पेटीकोट, अंगिया (एक तंग ब्लाउज) और ओरहनी से पहचाना जा सकता है। उसकी ओर्नी जाट महिला की तुलना में चौड़ी है क्योंकि वह इसे अपने पेट को ढंकने के लिए भी लगाती है।

यह आमतौर पर लाल या पीले रंग का होता है, जिसे पतझड़ के साथ मालिकों और झालरों से सजाया जाता है। राजपूत महिला की पोशाक अहीर महिला की तरह मुस्कुराती है, लेकिन ओरहनी वह चांदी की फ्रिंज के साथ सफेद हो सकती है लेकिन बिना गिरे। धोती और साड़ी ब्राह्मणों और अग्रवाल महिलाओं के बीच पसंदीदा परिधान हैं।

एक महिला को कम से कम तीन अलग–अलग कपड़ों की आवश्यकता होगी, एक ग्राइंडस्टोन पर काम करने के लिए। दूसरा खेत के लिए, और दूसरा कुएं से पानी निकालने के लिए। आखिरी वाला सबसे अच्छा है, क्योंकि यह अवसर स्वाद प्रदर्शित करने और दूसरों से मान्यता प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। कपड़े पारिवारिक स्थिति का संकेत देते हैं।

हरियाणा, कमल भूमि, वैदिक साहित्य का जन्म स्थान, वह स्थान जहाँ भगवान कृष्ण ने गीता का सुसमाचार दिया था, न केवल अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के लिए जाना जाता है, बल्कि अपनी समृद्ध लोककथाओं के लिए भी एक जिला स्थान है। यह आर्य–द्रविड़ संश्लेषण का स्थान है सरसवान का प्राचीन मार्ग अपनी टांग पर बैठकर विद्या का केंद्र था, विद्वानों और विचारकों ने वैदिक संस्कृति के रूप में जानी जाने वाली सबसे उन्नत सांस्कृतिक अवधारणा को आकार दिया। इस प्राचीन भूमि पर ब्रह्म वार्ता, आर्य वार्ता और बाद में 'कुरुक्षेत्र' के रूप में जाना जाता है।

इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को लोककथाओं के माध्यम से सदियों से संरक्षित किया गया है। इस क्षेत्र में प्रचलित किंवदंतियां, गाथागीत, अनुष्ठान गाथागीत, लोक कथाएं और हजारों लोक गीत वास्तव में इसकी

सांस्कृतिक विरासत का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हरियाणा में प्रचलित मनोरंजन के कई लोक रूप हैं मनोरंजन के कई विविध माध्यम इसके लोगों द्वारा संरक्षित हैं।

आज हमारी आधुनिक दुनिया में आधुनिक कलाकार इन्हीं लोक तत्वों के प्रभाव में अपनी कला का निर्माण कर रहे हैं। उदाहरण के लिए डॉ एचएन मिश्रा, शीला शर्मा, शशांक सिंह, सीडी मिस्त्री। एन. चंद्रा, शेखर राव आदि।

सन्दर्भ :-

1. हरिगंधा, 2009 नवंबर, पृष्ठ 3–4
2. हरियाणा, डीसी वर्मा, सुखबीर सिंह, पृष्ठ 1.
3. अई बी आई डी, पृष्ठ – 13
4. हरिगंधा, 2009 नवंबर, पृष्ठ 40
5. हरियाणा, डीसी वर्मा, सुखबीर सिंह, पी. नौवीं
6. अई बी आई डी, पृष्ठ – 104
7. अई बी आई डी, पृष्ठ – 120

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 296-302

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण

डॉ. वेदप्रकाश

सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष – भूगोल

किसान (पी०जी०) कॉलेज सिम्भावली, जनपद हापुड़ (उत्तर प्रदेश)–245207

सारांश :-

वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण वैश्विक स्तर पर ज्वलंत मुद्दा बनगया है। पर्यावरण को सुरक्षित एवं संरक्षित रखना संपूर्ण विश्व के लिए एक संयुक्त मुद्दा है। पर्यावरण का अर्थ है, परि आवरण अर्थात चारों ओर से घिरा हुआ। पर्यावरण में जल मंडल, थल मंडल और वायु मंडल सम्मिलित है। अगर इनमें से कोई एक घटक भी असंतुलित होता है तो वह पर्यावरण को प्रभावित करता है। अगर पर्यावरण प्रभावित होता है तो धरती पर मौजूद जीवन आवश्यक रूप से प्रभावित होगा। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को वैदिक काल से ही अत्यधिक महत्व दिया गया है।वेदों में कहा गया है कि मनुष्य शरीर पृथ्वी, जल, अंतरिक्ष, अग्नि और वायु जैसे पांच तत्वों से निर्मित है। यदि इनमें से एक भी तत्व दूषित होता है तो इसका प्रभाव मानव जीवन पर अवश्य पड़ेगा।

यही कारण है कि प्राचीन काल से ही हमारे पूर्वजों ने प्रकृति को देवी–देवताओं का स्थान दिया है। सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, वायु व नदियों को देवी–देवताओं के रूप में पूजा जाता था। जड़ी–बूटियों और वनस्पतियों को औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। पेड़ों जैसे पीपल, वटवृक्ष व केला को आज भी पूजा जाता है। पेड़ों को लगाना पुत्र प्राप्ति के समान माना गया है परंतु समय परिवर्तन के साथ–साथ सब कुछ परिवर्तित होता गया। हम सब आधुनिकता के पथ पर अग्रसर हो गए। पूर्वजों की ओर से बताए गए मूल्य और संस्कार हमें अंधविश्वास लगने लगे। हम विकास और तकनीक पर गर्व करने लगे। औद्योगीकरण एवं असंख्य वाहनों के आवागमन के फलस्वरूप वायुमंडल पूर्ण रुप से दूषित हो चुका है। फसलों की पैदावार में वृद्धि करने के लिए उर्वरक एवं कीटनाशकों का अत्यधिक प्रयोग किया जाने लगा। परिणामस्वरूप मृदा के साथ–साथ उसमें उत्पन्न होने वाले खाद्यान्न भी विषैले होने लगे हैं। उद्योगों से उत्पन्न अनावश्यक विषैले पदार्थों से नदियां भी प्रदूषित हो चुकी हैं। भूजल स्तर निम्न हो चुका है। कुल मिलाकर आज के समय में हम अन्न, जल व वायु को प्रदूषित कर चुके हैं। अधिकतर जंगल मैदानों में परिवर्तित हो चुके हैं। वन्य प्राणियों का जीवन संकट में है। बहुत सी प्रजातियां हमेशा के लिए लुप्त हो चुकी हैं।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि पर्यावरण के सभी घटक असंतुलित एवं प्रदूषित हो चुके हैं। हम आने वाली पीढ़ी के लिए एक ऐसा ग्रह छोड़कर जा रहे हैं जिसमें जल, वायु और मृदा संपूर्ण रूप से प्रदूषित होंगे और संसाधन समाप्त हो चुके होंगे। इस सबके लिए मात्र मानव जाति ही जिम्मेदार है। जनमानस में जागृति लाने

के लिए राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कई अभियान चलाए जा रहे हैं। चिपको आंदोलन, जंगल बचाओ आंदोलन व नर्मदा बचाओ आंदोलन प्रमुख रहे हैं। समय–समय पर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण संरक्षण एवं जलवायु परिवर्तन पर सम्मेलन होते रहते हैं और इनमें अधिकतर देशों के प्रमुख हिस्सा लेते हैं परंतु पर्यावरण संरक्षण के लिए यह सब पर्याप्त नहीं है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को योगदान देना होगा, इसलिए एक जिम्मेदार नागरिक एवं एक सतर्क प्रहरी की भूमिका निभानी होगी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने हमें पुनः वेदों का रुख करने के लिए कहा था। वह यह कहना चाहते थे कि वेद हमारी हर समस्या का समाधान करने में सक्षम हैं। हमें प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों का सम्मान करना होगा। जंगलों को बचाना होगा, अधिक से अधिक पौधे लगाने होंगेतभी धरती पर जीवन संभव रहेगा। आओ सभी मिलकर प्रतिज्ञा लें कि हम पर्यावरण संरक्षण में पूर्ण योगदान देंगे।

पृष्ठभूमि :–

भारत दुनिया का एक खूबसूरत देश है। जहां पर अनेक प्रकार की वनस्पतियां जीव जंतु निवास करते हैं। यहां की सुंदर व सदाबहार नदियां प्रकृति की सुंदरता को बढ़ाती है, प्राचीन काल से ही यहां पर ऋषि मुनि और मानव ने पर्यावरण की रक्षा की है, पर्यावरण हमारे चारों तरफ या आसपास का वातावरण है, जिसमें हम निवास करते हैं, पूरे सौरमंडल में केवल पृथ्वी ही एकमात्र ग्रह है, जिस पर जीवन पाया जाता है अर्थात जीव पाए जाते हैं। जीव जगत का निर्माण पांच तत्वों से मिलकर हुआ है यह तत्व है पृथ्वी, अग्नि, आकाश, वायु एवं जल आदि। प्राचीन काल से ही इन पांच तत्वों को देवी एवं देवताओं की श्रेणी में रखा गया है। आज मनुष्य ने अपने निजी फायदे के लिए इस धरती मां का विदोहन कर डाला ज्यादा फसलें एवं अधिक पैदावार के लालच में रासायनिक खाद एवं कीटनाशक के भरपूर प्रयोग के कारण पर्यावरण को दूषित कर दिया है। जिसके कारण प्राकृतिक संसाधनों में कमी प्राकृतिक असंतुलन एवं पर्यावरण असंतुलन के कारण पृथ्वी के प्राकृतिक स्वरूप एवं स्वभाव में परिवर्तन हो गया है। यह सब मानव की देन है।

पर्यावरण अर्थात हमारे आसपास पाए जाने वाला या वातावरण जिसे हम पर्यावरण कहते हैं पर्यावरण शब्द का सही अर्थ परिवेश होता है। जिसमें अनेक कारक प्रकाश, ताप, मृदा तथा जल आदि शामिल है। आज पर्यावरण केवल विकासशील देश की ही नहीं वरन सारे विश्व की समस्या है। जो कि सबसे महत्वपूर्ण पृथ्वी है और उस पर रहने वाले सारे जीवधारी पर्यावरण में हुए किसी भी बदलाव से अवश्य ही प्रभावित होते हैं, कहने को तो हमारे चारों ओर का वायुमंडल जिसमें हम रहते हैं। और अन्य जीवधारी सब मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। पर्यायवाची भौतिक एवं जैविक व्यवस्था से ही रहते हैं बढ़ते हैं और अपनी शक्तियों का विकास करते हैं। प्रकृति अपनी ओर से सभी शक्तियों का अनुपात हमेशा ठीक बनाए रखने की भरसक चेष्टा करती है, लेकिन मानव प्रकृति को छेड़छाड़ कर उसकी मूल संरचना में दखलंदाजी की है जिसके फलस्वरूप की बिगड़ती दशा संपूर्ण विश्व के लिए एक गंभीर समस्या का रूप धारण कर चुकी है जिसका समाधान हम सब को मिलकर करना होगा।

पर्यावरण एवं मनुष्य में संबंध :–

मनुष्य एवं पर्यावरण के मध्य सहरू संबंधों के विषय में भूगोलवेताओ के अलग–अलग दृष्टिकोण है। एक और यह माना जाता है कि मनुष्य को इस वातावरण में अन्य जीव–जंतुओं के भांति प्राकृतिक निर्देशकों का

अनुपालन करना चाहिए वही दूसरी ओर यह माना जाता है कि मनुष्य विकसित प्राणी है और वह कुशाग्र बुद्धि से पर्यावरण के विभिन्न घटकों को अपने अनुकूल बना सकता है और संसाधनों का अधिकाधिक दोहन कर सकता है। मानव पर्यावरण के मुद्दे से संबंधों का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोण से किया जाता है।

ग्रिफिथ टेलर ने अपनी पुस्तक '20वी शताब्दी में भूगोल ष्में स्पष्ट है इस तथ्य पर बल दिया गया है कि पर्यावरण नियंत्रण की अपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन इसके द्वारा निर्धारित समय में भी नहीं बांधा जा सकता अर्थात वास्तव में न तो प्रकृति का ही मनुष्य पर पूर्ण नियंत्रण है और ना ही मनुष्य प्रकृति का विजेता। दोनों का एक दूसरे से क्रियात्मक संबंध है। हमारे बड़े बुजुर्ग कहा करते हैं कि घर का वातावरण जैसा होगा उसका प्रभाव बच्चों पर वैसा ही पड़ता है। ठीक उसी प्रकार हम किस वातावरण में रहते हैं। उसका प्रभाव भी हमारे स्वास्थ्य पर पड़ता है। हमारे पर्यावरण का वातावरण स्वच्छ और सुंदर होगा तो हमारा स्वास्थ्य और शरीर भी स्वस्थ और सुंदर होगा और यदि हमारा पर्यावरण दूषित होगा तो हमारा शरीर भी रोगों से ग्रसित रहेगा और स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहेगा।

हमारे वेदों में वर्णित है कि प्रथम सुख निरोगी काया अर्थात यदि हमारा शरीर स्वस्थ है, तो उससे बड़ा कोई सुख नहीं है जीवन का सच्चा सुख अच्छे स्वास्थ्य में निहित है। शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति ही पृथ्वी पर हर परिस्थिति में जीवन यापन एवं योग्य वातावरण का निर्माण कर सकता है। स्वस्थ व्यक्ति ही कठिन से कठिन काम को अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करके आसान बना सकता है। पृथ्वी पर मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जिसे ईश्वर ने मस्तिष्क रूपी उपहार प्रदान किया है। इसलिए समय–समय पर हमारे विद्वानों ने अपने अपने विचारों को हमारे साथ साझा किया है जिससे कि मनुष्य अपने आप को और प्रकृति को बनाए रखें।

हमारी संस्कृति हमारा पूर्वज :–

आज परिधान से लेकर खान–पान, ज्ञान से लेकर सम्मान, उत्पादन से लेकर उपभोग विकास से लेकर विनाश और समझने से लेकर विचारने तक सभी कुछ पश्चिमी तौर–तरीकों से ग्रस्त है। यद्यपि हमें विश्व का सबसे बड़ा तथा श्रेष्ठ लोकतंत्र होने का गौरव प्राप्त है और विश्व के अनेक देशों की संस्कृति हमारे पूर्वजों व विद्वानों के उपदेशों से सिंचित तथा पोषित हुई तथा दुनिया को हमने संस्कृति, सभ्यता की नसीहत दी फिर भी आज दुर्भाग्यवश अपने घर में ही हमारी संस्कृति परापेक्षी तथा विखण्डित होकर रह गयी। आज हम यदि बच्चों से यह कहते हैं कि पेड़ों, नदियों, तालाबों, पहाड़ों, गुफाओं, कन्दराओं, घाटियों के किनारे बैठकर हमारे ऋषियों, तपस्वियों, चिन्तकों, साधु–सन्तों ने ज्ञान अर्जन किया और धार्मिक ग्रन्थों की रचना की तथा देश–विदेशों में भ्रमण करके भारतीय चिन्तकों ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति से विश्व जनसमुदाय को अवगत कराया तो खेद की बात है कि उन्हें विश्वास ही नहीं होता और यह सब उन्हें एक कहानी सी लगने लगती है। यद्यपि दोष उनका नहीं है। इसके लिये दोषी हम हैं, उन्हें परिवेश ही नहीं दिया गया, जहाँ उन्हें नैतिक शिक्षा से परिचित कराया जाता।

संस्कृति तथा विज्ञान :–

संस्कृति तथा विज्ञान का आपस में अविच्छेद सम्बन्ध है अर्थात यह एक दूसरे के पूरक हैं। यदि संस्कृति मानव के हृदय को परिष्कार, परोपकार, समाज सेवा, सहयोग सहानुभूति प्रदान करती है, तो विज्ञान मानव को बाह्य रूप से मजबूती प्रदान करता है। संस्कृति की सफलता देश के लोगों की निपुणता, नेतृत्व, संयम, उत्कण्ठा

तथा इसे सामाजिक हितों के अनुकूल बनाने पर निर्भर करती है। जिस जनसमुदाय में अपने देश की समस्याओं को सुलझाने की प्रबल इच्छा हो और वे उदासीन तथा अदृष्ट न हो, बल्कि स्वतः सामुदायिक कार्यकलाप में अभिक्रम करने की श्रेष्ठ तथा क्रियाशील क्षमता रखते हों, तो उस देश अथवा स्थान की संस्कृति मानवतावादी, सृजनात्मक, परार्थवादी अवश्य होगी। भारतीय संस्कृति पर्यावरण–संरक्षण में महत्त्वपूर्ण तथा सकारात्मक भूमिका रखती है। मानव तथा प्रकृति के बीच अटूट रिश्ता कायम किया गया है। जो पूर्णतः वैज्ञानिक तथा संतुलित है।

हमारे शास्त्रों में पेड़, पौधों, पुष्पों, पहाड़, झरने, पशु–पक्षियों, जंगली–जानवरों, नदियाँ, सरोवन, वन, मिट्टी, घाटियों यहाँ तक कि पत्थर भी पूज्य हैं और उनके प्रति स्नेह तथा सम्मान की बात बतलायी गयी है। बुद्धिजीवियों का यह चिन्तन पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये सार्थक तथा संरक्षण के लिये बहुमूल्य हैं।

भारतीय संस्कृति और पर्यावरण चिंतन :–

भारत की जनता का एक बहुत बड़ा वर्ग आज भी अपनी संस्कृति को पूज्य तथा विश्वसनीय मानता है। हमारे देश में अनेक तीर्थ स्थानों को पवित्र तथा त्योहारों को मनाने की परम्परा आज भी विद्यमान है। जहाँ हर दिन, सप्ताह, महीना, साल सांस्कृतिक मान्यताओं से ओत–प्रोत है वहाँ सभी दिन तथा त्योहार तीर्थ प्राकृतिक संसाधनों से सम्बन्धित है। नगाधिराज हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक तीर्थों की शृंखला सी बनी हुई है। इस पवित्र वातावरण में मनुष्य प्रवेश करके निष्पाप हो जाता है। इस तरह की यात्रा के पीछे यह प्रावधान रखा गया, कि मानव विभिन्न जगहों की भौगोलिकता, पर्यावरण का ज्ञान, मनोरंजन के स्थल, अभ्यारण्य, अरण्य, सरोवर, झीलों के शुभ दर्शन कर सकते हैं। इससे लोगों के रहन–सहन जीवनचर्या और जीवन–यापन करने के तौर–तरीकों का बोध होता है और अनेकता में एकता का आभास मिलता है साथ ही मानव नैसर्गिक सौन्दर्यता से प्रभावित होता है और उसे मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है।

हमारी संस्कृति पर्यावरण संरक्षण प्रधान रही है, जो प्रदूषण पर उपराम लगाती है और आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करती है और यह स्पष्ट करती है कि मानव के प्राणों की सुरक्षा तथा पवित्रता की सुरक्षा प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा पर निर्भर करती है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जिस मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति हो जाती है तो वह अल्प साधनों से अपने हितों की पूर्ति कर सकता है, वह हर तरह से सामाजिक तथा आर्थिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। ऊँच–नीच के भेदभाव से ऊपर उठ जाता है। आज जरूरत इस बात की है कि मानव अपनी शक्ति को देशहित में सुदृढ़ बनाए और नैतिक मूल्यों को समझे तथा नैतिक अनुशासन से नियमबद्ध हो, तभी उसकी भौतिकतावादी प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकता है। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इस तरह के कार्य को सम्पन्न करने के लिये किसी विशेष अध्ययन तथा चिन्तन की आवश्यकता नहीं होती है।

पर्यावरण संरक्षण तथा शास्त्र :–

रामायण, महाभारत, गीता, वायु–पुराण, स्कन्दपुराण, भविष्य पुराण, वराहपुराण, ब्रह्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, गरुणपुराण, श्री विष्णुपुराण, भागवतपुराण, श्रीदेवी भागवत पुराण वेद, उपनिषद तथा कुरान बाईविल, श्रीगुरु ग्रन्थ तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ, पेड़–पौधे, जीव–जन्तुओं पर दया करने की सीख देते हैं। यदि ध्यान से इन शास्त्रों की बातों को पढ़ा तथा सुना जाय तो मानव से इनका सम्बन्ध अन्तरंग है और इनके विनाश की बात

तो सोची भी नहीं जा सकती। मानसिक शान्ति, शारीरिक सुख, इन सबकी पूर्ति के साधन प्राकृतिक सम्पदा ही है। गेहूँ, जौ, तिल, चना, चन्दन, लाल पुष्प, केसर, खस, कमल, ताम्बूल, श्वेतपुष्प, बांस, मिट्टी, फल, तुलसी, हल्दी, पीत–पुष्प, शहद इलाइची, सौंफ, उड़द, काले–पुष्प, सरसों के फूल, मुलेठी देवदारू, बिल्व वृक्ष की छाल, आम, पला, खैर, पीपल, गूलर, दूब, कुश आदि।

उपरोक्त सभी को संरक्षित रखने के उद्देश्य से इन्हें किसी दिन, त्योहार, देवी–देवताओं की पूजा–अर्चना से जोड़ा गया है। औषधि के रूप में फलों तथा जड़ी–बूटियों की रक्षा करने की बात कही गयी है और इन्हें घरों के निकटस्थ लगाकर पर्यावरण को स्वच्छ रखने की सलाह दी गयी है। जैसे– अंगूर, केला, अनार, सेव, जामुन, प्याज, लहसुन, गाजर, मूली, नींबू, अदरक, आंवला, घिया, बादाम, आम, टमाटर, अखरोट, अजवाइन, अन्नानास, असगन्द, गिलोय, तम्बाकू, तरबूज, तुलसी, दालचीनी धनिया, पुदिना, संतरा, पान, पीपल, बबूल, ब्राह्मीबूटी, काली मिर्च, लाल मिर्च, लौंग, हरड़, बहेड़ा आदि अनेक बूटियों का प्रयोग करने से मनुष्य निरोग रह सकता है।

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में शुद्ध वायु, शुद्ध पानी, शुद्ध मिट्टी इन चीजों को मुख्य आधार मानकर चिकित्सा की जाती है और असाध्य रोगों का इलाज इनसे कर दिया जाता है। गंगा, यमुना, झीलें, सरोवर, तालाब, झरने, नाले के पानी से नहाने पर निष्पाप तथा चर्म रोग दूर हो जाते हैं। ऐसा इसलिए कि मनुष्य इनकी साफ–सफाई तथा उचित रख–रखाव की व्यवस्था को बनाये रखे। वन्य जीव–जन्तुओं का भी हमारे शास्त्रों में बहुत अच्छी तरह से वर्णन प्रस्तुत किया गया है ज्ञान तथा नैतिक शिक्षा पर आधारित पंचतंत्र की कथायें जातक कथायें अनेक ग्रन्थ जीव–जन्तुओं की उपमा से भरे पड़े हैं। इनमें से कई को देवी–देवताओं के वाहन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। माँ श्री दुर्गा का वाहन शेर, श्री शिव भगवान जी वाहन बेल, श्री इन्द्र जी का एरावत हाथी, श्री गणेश जी का चूहा, सर्प, हंस, हनुमान जी भालू आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। वन्य प्राणियों के प्रति प्रेम तथा आदर की भावना के बाद भी आज अनेक प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं, जो जीव–जन्तु बचे हैं सरकार इनके संरक्षण के लिये अत्यधिक चिन्तित है। इसलिए चौदह आरक्षित जीव मण्डलों की स्थापना की गयी है। समस्त जीव मण्डलों को एक दूसरे से जोड़ने के लिये सरकार एक राष्ट्रीय नीति बनाने पर विचार कर रही है। जानवरों की खाल तथा हड्डियों और चोरी छिपे इनका वध करने वालों को कड़ी सजा दी जानी चाहिए। फर के पर्स, टोपी, कोट, हड्डियों से बने दवाओं पर पाबन्दी तथा इनका विकल्प खोजने के लिये अनुसंधान किये जाने चाहिए।

भारतीय संस्कृति और पर्यावरण संरक्षण :-

पर्यावरण संरक्षण का विषय हमारी संस्कृति में प्राचीनकाल से देखने में आता है। हिन्दू धर्म में प्रकृति पूजन किसी ना किसी रूप में पर्यावरण संरक्षण से जुड़ा हुआ है। सनातन परम्परा में पेड़–पौधों, नदी–पर्वत, अग्नि–वायु सहित प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ मानव का आत्मीय संबंध रहा है। वृक्ष की तुलना संतान के साथ की गई है तो नदी को मां स्वरूप माना गया है. वही पहाड़ और वायु को देवता के रूप में माना गया हैं। प्राचीन भारत के वैज्ञानिक ऋषि–मुनियों को पर्यावरण संरक्षण और मानव के स्वभाव की गहरी जानकारी थी. वे जानते थे कि मानव अपने क्षणिक लाभ के लिए गंभीर भूल कर सकता है. अपना ही भारी नुकसान कर सकता है. इसलिए उन्होंने पर्यावरण के विभिन्न घटकों के साथ मानव के संबंध विकसित कर दिए. ताकि मनुष्य को पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुंचाने से रोका जा सके। यह सब होने के बाद भी विश्व के अन्य देशो की भांति भारत में भी भौतिक

विकास की दौड़ में पर्यावरण का दोहन हो रहा है। लेकिन, यह भी सच है कि यदिये परंपराएं न होतीं तो स्थिति और अधिक गंभीर होती। सनातन परंपराओं ने कहीं न कहीं प्रकृति का संरक्षण किया है, हिन्दू धर्म का प्रकृति के साथ कितना गहरा रिश्ता है। इसे इस बात से समझा जा सकता है, कि दुनिया के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद का प्रथम मंत्र ही अग्नि की स्तुति में रचा गया है।

हमारे ऋषि जानते थे कि पृथ्वी का आधार जल और जंगल है. इसलिए हमारे धर्म मे वृक्ष को देवता मानकर पूजा करने का विधान है. वृक्षों की पूजा करने के विधान के कारण हिन्दू स्वभाव से वृक्षों का संरक्षक हो जाता है। हिंदू संस्कृति में घर में तुलसी का पौधा लगाने का महत्व भी आज इस कोरोना काल में हम सब की जानकारी में आ गया है। तुलसी का पौधा मनुष्य को सबसे अधिक प्राणवायु ऑक्सीजन देता है. तुलसी के पौधे में अनेक औषधीय गुण भी मौजूद हैं। पीपल को देवता मानकर भी उसकी पूजा नियमित इसीलिए की जाती है क्योंकि वह भी अधिक मात्रा में ऑक्सीजन देता है। परिवार की महिलाएं भी अपने बच्चों को समझाती है कि रात में पेड़–पौधे को छूना नहीं चाहिए। वे सो जाते हैं, उन्हें परेशान करना ठीक बात नहीं. वह गृहिणी परम्परावश ऐसा करती है। उसे इसका वैज्ञानिक कारण नहीं मालूम। रात में पेड़ कार्बन डाइऑक्सीजन छोड़ते हैं। इसलिए दिनभर पेड़ की छांव में बिता देने वाले मनुष्य रात में पेड़ों के नीचे सोते नहीं हैं। देवों के देव महादेव तो बिल्व–पत्र और धतूरे से ही प्रसन्न होते हैं। यदि कोई शिवभक्त है तो उसे बिल्वपत्र और धतूरे के पेड़–पौधों की रक्षा करनी ही पड़ेगी। वट पूर्णिमा पर्व मनाना है तो वटवृक्ष धरती पर बचाने ही होंगे।

इसी प्रकार ज्ञान के देवी सरस्वती का सम्बन्ध पीले फूलो से, धन–सम्पदा की देवी लक्ष्मी का कमल और गुलाब के फूलो से सम्बन्ध विकसित किया गया। हिन्दू धर्म के प्रत्येक देवी–देवता पशु–पक्षी और पेड़–पौधों से लेकर प्रकृति के विभिन्न अवयवों के संरक्षण का संदेश देते हैं। जल का भी हिन्दू धर्म में बहुत महत्व है। प्रारम्भ में ज्यादातर आबादी नदी के किनारे पर निवास करती थी। ऐसे गांव/नगर जो नदी किनारे नहीं थे वहां मानव ने तालाब और कुँए बनाए थे. बिना जल के गांव–नगर के अस्तित्व की कल्पना नहीं हो सकती, हिन्दुओं के चार वेदों में से एक अथर्ववेद में बताया गया है कि आवास के समीप शुद्ध जलयुक्त जलाशय होना चाहिए। जल ही जीवन है यही कारण है कि जलस्रोतों को बचाए रखने के लिए हमारे ऋषियों ने इन्हें सम्मान दिया। पूर्वजों ने सभी नदियों को मां के सामान माना है। हिन्दू धर्म में अनेक अवसर पर नदियों, तालाबों और सागरों की उपासना की जाती है। भगवान श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा का विधान इसलिए शुरू कराया था क्योंकि गोवर्धन पर्वत पर अनेक औषधि के पेड़–पौधे थे, मथुरा के गोपालकों के गोधन के भोजन–पानी का इंतजाम उसी पर्वत पर था।

मथुरा–वृन्दावन इंतजाम उसी पर्वत पर था। मथुरा–वृन्दावन सहित पूरे देश में दीपावली के बाद गोवर्धन पूजा धूमधाम से की जाती है। इसी तरह हमारे महर्षियों ने जीव–जन्तुओं के महत्व को पहचानकर उनकी भी देवरूप में अर्चना की है। मनुष्य और पशु परस्पर एक–दूसरे पर निर्भर हैं। हिन्दू धर्म में गाय, कुत्ता, बिल्ली, चूहा, हाथी, शेर और यहां तक की विषधर नागराज को भी पूजनीय बताया है। चींटियों को भी बहुत से हिन्दू आटा डालते हैं। चिडियों और कौओं के लिए घर की मुंडेर पर दाना–पानी रखा जाता है। पितृपक्ष में तो काक को बाकायदा निमंत्रित करके दाना–पानी खिलाया जाता है। हमारा देश उत्सवों का देश हैं। देश में मनाये जाने वाले उत्सवों का भी किसी न किसी रूप में पर्यावरण से सम्बन्ध हैं मकर संक्रान्ति, वसंत पंचमी, महाशिव रात्रि, होली, नवरात्र, गुड़ी पड़वा, वट पूर्णिमा, ओणम्, दीपावली, कार्तिक पूर्णिमा, छठ पूजा, शरद पूर्णिमा, अन्नकूट, देव प्रबोधिनी

एकादशी, हरियाली तीज, गंगा दशहरा आदि सब पर्वों में पर्यावरण का सम्बन्ध हम सब के ध्यान में आता ही हैं। पर्यावरण मानव जीवन के साथ सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक रूप से किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ हैं। इसलिए पर्यावरण संरक्षण के प्रति हमारी जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती हैं।

निष्कर्ष :-

मानव संस्कृति का संबंध ज्ञान, कर्म तथा रचना से है और इसका संवर्धन निरंतर बना रहे। इसलिए किसी भी संस्कृति का संस्कार सम्पन्न होना अति आवश्यक होता है। विश्व की प्राचीनतम् संस्कृति भारतीय सनातन हिन्दू संस्कृति में पर्यावरण को देवतुल्य स्थान दिया गया है। यही कारण है कि पर्यावरण के सभी अंगों जैसे जल, वायु, भूमि को देवताओं से जोड़ा गया हैं। मनुष्य पांच तत्वों जल, अग्नि, आकाश, पृथ्वी और वायु से मिलकर बना है और वैदिक काल से इन तत्वों के देवता मान कर इनकी रक्षा का करने का निर्देश मिलता है। भारतीय संस्कृति पर्यावरण–संरक्षण में महत्त्वपूर्ण तथा सकारात्मक भूमिका रखती है। मानव तथा प्रकृति के बीच अटूट रिश्ता कायम किया गया है जो पूर्णतः वैज्ञानिक तथा संतुलित है। हमारे शास्त्रों में पेड़, पौधों, पुष्पों, पहाड़, झरने, पशु–पक्षियों, जंगली–जानवरों, नदियाँ, सरोवन, वन, मिट्टी, घाटियों यहाँ तक कि पत्थर भी पूज्य हैं और उनके प्रति स्नेह तथा सम्मान की बात बतलायी गयी है। बुद्धिजीवियों का यह चिन्तन पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये सार्थक तथा संरक्षण के लिये बहुमूल्य हैं। मनुष्य नास्तिक हो या आस्तिक, धार्मिक हो या अधार्मिक क्या फरक पड़ता है? लेकिन पर्यावरण हमारे चारों ओर है। हवा, भोजन, पेड़–पौधे, पानी, जीव–जन्तु का महत्व जितना आस्तिक के लिये है, उतना ही नास्तिक के लिये भी है। प्राकृतिक विपदायें आने से पहले यह नहीं पूछती हैं कि कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक. जब प्रदूषण की आँधी आती है। वह सब अपने में समेटकर ले जाती है। कहने का अभिप्राय है कि पर्यावरण का संरक्षण करना हमारा नैतिक दायित्व है क्योंकि संरक्षण करना अपने आपको जीवन देना है। पर्यावरण की कोई भौगोलिक तथा राजनैतिक सीमा नहीं होती है। यह विश्व–व्यापी है हम सभी का कर्तव्य है कि हम इसकी सुरक्षा करें। ताकि पृथ्वी पर जीवन मुस्कुराता और खिलखिलाते रहें।

संदर्भ सूची :-

1. पर्यावरण अध्ययन – डॉ. बी. एल. तेली विश्व भारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. पर्यावरण भूगोल – डॉ. सविंदर सिंह प्रयाग पुस्तक भवन इलाहाबाद।
3. भौतिक भूगोल – डॉ. सुरेश चंद्र बंसल, डॉ. पंकज कुमार चौहान, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ।
4. भौतिक भूगोल – डॉ. चतुर्भुज मांमोरिया, डॉ. रतन जोशी, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
5. पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी – दृष्टि पब्लिकेशन डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली।
6. पर्यावरण भूगोल का स्वरूप – सविंदर सिंह, प्रवालिका पब्लिकेशन, इलाहाबाद।
7. पर्यावरण और मानव जीवन – डॉ सुमन गुप्ता, लोकप्रिय विज्ञापन सीरीज।
8. आधुनिक जीवन और पर्यावरण – दामोदर शर्मा, हरीश चंद्रव्यास।
9. पर्यावरण – डी.आर. खुल्लर, जे.एस. सी. राव।
10. पर्यावरण दर्शन – डॉ. ओम प्रकाश अग्रवाल।
11. पर्यावरण भूगोल – खान वसीम अहमद, रजत प्रकाश, नई दिल्ली 2015
12. पर्यावरण भूगोल– बंसल विद्यासागर, रितु पब्लिकेशन जयपुर 2012
13. प्राकृतिक संसाधन एवं पर्यावरण –गुलाटी, रमेश, प्रियंका पब्लिकेशन हाउस, जयपुर, 2014
14. पर्यावरण अध्ययन– त्रिवेदी, पी.सी. गुप्ता, गरिमा, अविष्कार पब्लिकेशन, जयपुर, 2005
15. अविष्कार मासिक विज्ञान पत्रिका मार्च 2013, 2020

Email- 2011vaad@gmail.com, मो०न० 9411611360, 9412427184

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 303-304

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

CATHARSIS IN ART & CULTURE

Dr. Vinita Swarnkar

Assistant Professor, Psychology. J.Y.C.G. College Raipur, Chhattisgarh

ABSTRACT :-

Catharsis is a form of therapy provided by art and culture practiced by its people. People are normally stressed because of life's demand .Where an optimal amount of stress is necessary for a human growth the increased amount of stress can cause various mental health issues. Usually with impossible life's demands people disregard mental health as they don't have time for it.Then we can see art and culture coming for our rescue (catharsis , to be precise).No matter how busy and stressed out we are , we are always excited to celebrate our festivals as we know they are going to bring us joy , peace, belongingness, love, hope and lal the possible positive feelings.The magic behind it is CATHARSIS.

KEYWORDS :

Catharsis, Therapy, Emotional Release, Culture and Art

INTRODUCTION :-

Catharsis is a powerful emotional release, that when successful is accompanied by cognitive insight and positive change. This term comes from Greek catharsis meaning "purification" or "cleaning". Catharsis involves both the powerful emotional component in which strong feelings are felt and expressed, as well as a cognitive component in which the individual gain new insight.Freud also believed that catharsis could play an important role in releasing symptoms and distress.

Catharsis can take place during the course of therapy, but it can also occur during other moments as well. Some examples of how catharsis might take place includes :

 # TALKING WITH FRIEND :-

Our culture and almost every culture provide an occasion or two that gather family, friends, relative, neighbor every known and sometimes strangers too .It may be Christmas dinner, community lunch, Diwali milan, Eidmilan, Iftar in Ramadan, Punjabi langar, community langar and many more, are part of culture, which serves the purpose of group therapy somewhat. People see, others facing their life's challenges and learn from their experience. Sometimes these togetherness provide comfort or anger outburst, both of which facilitates acting out the unconscious pent up emotional bagage.Which

is the aim of Catharsis.

 # LISTENING TO MUSIC :-

Music and songs when combined effectively can release emotional component of its listeners. Music hold every feeling, sad song make people cry and happy song can cheer up , motivational songs can bost up or horror music can creep you out.

 # CREATING OR VIEWING ART : -

Colours play very magical role when it comes to healing. Hindu festival of Holi is well known for its catharsis quality. Friends or enemies, younger or older ,besties or nemesis gather to play colours, dance , music, drinks and share food. Although Indian culture does not appreciate physical touch (greetings with namaste rather than handshake is the best example) but on this occasion everyone is allowed to rub colour on others or at least on their forehead. Some other cultures celebrate it with tomatoes. Dance and music, colour, food and beverages are the main ingredients of such occasions that encourages people to release their emotions , people can talk things off , see and hug their loved ones, paly game of colour, dance with them, share food etc.

Festival such as Diwali and Onam have a culture of rangoli(rangoli is an art of creating beautiful patterns with colourfull powder), previously it was just pattern drawing but now artist are creating rangoli to express their emotions (on various topics) .Art is able to dipict any emotion. It is a kind of colour therapy to artistic introvert population. If you want to cry and feeling incapable of it, try watching a movie that have sad emotional content (movie are actually work of art having catharsis quality of every possible emotion) and if it make you cry like a baby then therapeutic goal is achieved.

 # EXERCISE :-

Yoga is iconic for Indian culture.It a sort of legecy we acquire from our ancestors. It can not only cure physical ad mental problems but also have ability of catharsis. Every other culture have such form of excercise routine though but people visit India to learn YOGA for its catharsis quality. There are other behaviour therapies like , muscle relaxing massage , breathing excercise and guided meditations that have such quality too.

REFRENCE :-

Catharsis in art : Google art and culture , catharsis in psychology, catharsis definition, use : Google.com ,good therapy/ catharsis: www. goodtherapy.org.wisdom of psychology professors in the form of lectures, friends from different cultures.

Email : sdrvinita@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 305-307

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

संस्कृति और सभ्यता में अंतर

सपना पाटोदिया

शोधार्थी, समाज शास्त्र विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।

संस्कृति :-

संस्कृति समाज की जीवन विधि है और इस रूप में यह आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के बाद पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। कुछ विचारक संपूर्ण सामाजिक विरासत को संस्कृति मानते हैं, जबकि अनेक विचारक अभौतिक विरासत को ही संस्कृति मानते हैं। वास्तव में संस्कृति मानवीय समाज की आंतरिक अभिव्यक्ति है। हम जो कुछ है वह हमारी संस्कृति है। मोटे तौर पर संस्कृति लोगों के विचार और व्यवहार का प्रतिमान है। संस्कृति में मूल्यों, विश्वासों, आचार संबंधी नियमों, सामाजिक प्रतिमानों, राजनैतिक व आर्थिक संगठनों का समावेश रहता है। संस्कृति के ये प्रतिमान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में औपचारिक व अनौपचारिक प्रक्रियाओं द्वारा हस्तांतरित होते रहते हैं। संस्कृति का अर्थ होता है विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति। यह परिमार्जन की एक प्रक्रिया है। संस्कारों को सम्पन्न करके ही एक मानव सामाजिक प्राणी बनता है। बोलचाल की भाषा में संस्कृति के भौतिक पक्ष जैसे–वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक उपलिब्धयाँ सभ्यता के रूप में जानी जाती है और संस्कृति के रूप में जानी जाती है और संस्कृति के अभौतिक पक्ष में सामाजिक जीवन की उपलब्धियाँ जैसे–कला, संगीत, भाषा, दर्शन शास्त्र, धर्म तथा विज्ञान आदि सम्मिलित है। संस्कृति के अंतर्गत भौतिक व अभौतिक तत्वों की वह जटिल संपूर्णता सम्मिलित होती है जिसे हम समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करते हैं तथा जिसके मध्य हमारा संपूर्ण जीवन व्यतीत होता है। संस्कृति का संबंध संस्कारों से है।

संस्कृति की परिभाषा :-

शब्द 'संस्कृति' दुनिया के 'संस्कृति' का लैटिन मूल है, जो किसी चीज की खेती या परिष्कृत करने को संदर्भित करता है। इस तरह से यह प्रशंसा और सम्मान प्रदान करता है। बेहतर शब्दों में, संस्कृति लोगों को जीने का तरीका है, जो उनकी बोली जाने वाली भाषा, उनके द्वारा खाए जाने वाले भोजन, उनके द्वारा पहने जाने वाले कपड़े और उनके द्वारा पालन की जाने वाली या पूजा में परिलक्षित होती है। यह उस तरीके को व्यक्त करता है जिसमें कोई सोचता और करता है। संस्कृति में कला, ज्ञान, विश्वास, रीति–रिवाज, परंपराएँ, नैतिकता, त्यौहार, मूल्य, दृष्टिकोण आदि शामिल है, जो एक व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप में विरासत में मिली है। यह साहित्य, संगीत, नृत्य रूपों, धार्मिक प्रथाओं, भोजन की आदतों, दूसरों को अभिवादन करने के तरीके, मनोरंजन और आनंद में देखा जा सकता है। अलग–अलग जगहों पर अलग–अलग संस्कृतियाँ पाई जा सकती है, क्योंकि यह एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न होती है।

सभ्यता :–

अंग्रेजी भाषा के 'Civilized' शब्द की उत्पति लैटिन भाषा के 'Civitas' और 'Civis' से हुई है। जिसका अर्थ 'नगर' या 'नगर निवासी' हैं। जो एक स्थान पर स्थायी रूप से रहते तथा शिक्षित है और जिनका व्यवहार जटिल है।

सभ्यता मानव के सामाजिक एवं भौतिक विकास को बताती है। इससे मानव के प्रारंभिक विकास का पता चलता है। अतीत से लेकर वर्तमान तक मनुष्य ने जो संपूर्ण उन्नति की है चाहे वो भौतिक, मानसिक या आध्यात्मिक रूप से हो उसे हम 'सभ्यता कहते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य द्वारा प्रकृति से प्राप्त साधनों और अपने मस्तिश्क का उपयोग कर जो भौतिक प्रगति की है, उसे सभ्यता कहा जा सकता है। सभ्यताएँ परिवर्तनशील और प्रगतिशील होती है, प्राचीन काल में मानव जंगली जीवन जीते थे। प्रारम्भ में मानव सदी, गर्मी, बरसात को सहन करता हुआ जंगलों में रहता था। कालांतर में इनसे बचने के लिए गुफाओं और कच्ची झोपड़ियों में रहना शुरू किया तथा वर्तमान में बड़ी–बड़ी ईमारतों को देखा जा सकता है। वर्तमान में कार, ट्रेन, एयरोप्लेन आदि आविष्कार देखे जा सकते हैं यही नहीं अब तो इंसान मंगल ग्रह और चाँद पर बसने की योजना बना रहा है। मानव के जीवन स्तर में इसी परिवर्तन को सभ्यता कहा जा सकता है। मनुष्य की जीवन यात्रा को सरल बनाने वाली आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक उपलब्धियाँ सभ्यता है। ये मनुष्य की प्रत्यक्ष और भौतिक उपलब्धियाँ है। ऐतिहासिक रूप से, 'एक सभ्यता' को अक्सर एक बड़ी और 'अधिक उन्नत' संस्कृति के रूप में समझा जाता है।

संस्कृति और सभ्यता में अंतर :–

1. सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है, जबकि संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है।
2. भोजन, परिधान, मोटर आदि भौतिक पदार्थ सभ्यता के उपकरण है। परन्तु भोजन करने, वस्त्र पहनने की कला मोटर चलाने और महल बनाने का कौशल संस्कृति है।
3. हमारी सभ्यता वह है जिसका हम उपयोग करते है। हमारी संस्कृति वह है जो हम है।
4. सभ्यता को मापना सरल है क्योंकि इसका संबंध भौतिक वस्तुओं की उपयोगिता से है। जबकि संस्कृति की माप संभव नहीं है। मूल्यों में भिन्नता के कारण ऐसा कोई सर्वमान्य पैमाना नहीं है जिसके आधार पर किसी संस्कृति को मापा जा सके और एक की तुलना में दूसरों को अच्छी या बुरी कहा जा सके।
5. सभ्यता सदैव आगे बढ़ती है अर्थात् उन्नतिशील है और वह एक दिशा में उस समय तक निरंतर प्रगति करता है। सभ्यता की प्रत्येक उपलब्धि का पूरा–पूरा लाभ उठाने तथा उसमें सुधार का कार्य तब तक जारी रहता है जब तक कि उसमें श्रेष्ठ कोई नया आविष्कार न हो जाए। परन्तु संस्कृति के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि संस्कृति की प्रगति की कोई दिशा निर्धारित नहीं है।
6. सभ्यता बाहरी व्यवस्था तथा साधनों को निरूपित करती है। जबकि संस्कृति हमारी आंतरिक प्रकृति को व्यक्त करती है।
7. सभ्यता का संबंध भौतिक पदार्थों से है। संस्कृति का संबंध कला तथा बुद्धि से है।
8. सभ्यता का विकास अल्पकाल में भी संभव है। जबकि संस्कृति का निर्माण लंबी परंपरा के कारण होता है।

9. सभ्यता में परिवर्तन व सुधार संस्कृति की अपेक्षा सरल है क्योंकि सभ्यता का संबंध भौतिक वस्तुओं से है जिसमें नवीन आविष्कारों एवं खोजों के कारण परिवर्तन एवं सुधार सरल है। जबकि संस्कृति का संबंध व्यक्ति के विचारों, आंतरिक गुणों एवं मनोभावों से है। अतः कठिन परिश्रम के बिना संस्कृति में परिवर्तन एवं सुधार संभव नहीं है।
10. सभ्यता में गहराई का अभाव होता है उसका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, किन्तु संस्कृति से नहीं।
11. सभ्यता साधन है जबकि संस्कृति साध्य है। साध्य का तात्पर्य लक्ष्य से है। जिसमें असीम संतुष्टि की प्राप्ति के लिए जो विधि अपनाई जाती है, उसे साधन करते हैं।
12. सभ्यता नाशवान है इसकी सामग्री नष्ट–भ्रष्ट हो सकती है। संस्कृति की सामग्री प्रवाहमान है।
13. सभ्यता का संबंध शरीर से है। संस्कार का संबंध आत्मा से है।
14. सभ्यता मूर्त है जबकि संस्कृति अमूर्त है।
15. सभ्यता में रैखिक परिवर्तन होता है जबकि संस्कृति में चक्रीय।

सारांश :–

संस्कृति और सभ्यता आपस में बहुत घनिष्ट रूप से जुड़ी होती है। सभ्यता और संस्कृत दोनों हमें विचारों, आदर्शों, मूल्यों और एक सभ्य और भव्य जीवन जीने के तरीके प्रदान करते हैं।

संदर्भ सूची :–

1. डॉ. शर्मा डी. डी. व प्रोफेसर गुप्ता एम. एल (2016) 'समाज शास्त्र' उत्तर प्रदेश, साहित्य पब्लिशिंग हाऊस।
2. डॉ. मुखर्जी रवीन्द्रनाथ, 'समाजशास्त्र' 2014 विवेक पब्लिशिंग, दिल्ली।
3. ओझा एस. के. 'समाजशास्त्र' 2018 अरिहन्त पब्लिकेशन लिमिटेड।
4. https://wonderhindi.com
5. https://www.livehindustan.com
6. https://pasandhai.in
7. https://www.kailasheducation.com
8. https://divyhindi.com
9. https://mysides.in
10. https://bharatdiscovery.org
11. https://hi.gadget.info.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 308-312

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण

अनिता

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।

प्रस्तावना :–

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का भला एक विशेष महत्व है। मानव की सम्पूर्ण सभ्यता व संस्कृति प्रकृति के संरक्षण में ही पुष्पित, पल्लवित, और विकसित हुई है। पर्यावरण में रहकर ही व्यक्ति ने अपने चारो तरफ के जीव–जन्तुओं व अन्य प्राणियों के साथ गहरे सम्बन्ध किए है और इसी की वजह से पर्यावरण व मानव का संबंध धनिष्ठ होता है। पर्यावरण के अन्दर प्रकृति के सभी तत्व, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल, ऋतुएं, पर्वत, नदियाँ, तड़ाग वृक्ष, पहाड़, वनस्पति, ग्रह नक्षत्र– दिशाएं एक तरह अखिल ब्राम्हाण्ड ही समाहित हो जाता है। भारतीय संस्कृति को समाज का वह संस्कार माना गया जिनके माध्यम से लोग आपस में विचारों का सप्रेषण करते है।

मुख्य तौर से संस्कार के दो रूप माने जाते है :–

1. भौतिक 2. अभौतिक

भौतिक संस्कृति के दौरान हमारे जीवन के विभिन्न पक्षों को रखा जाता है। जैसे खान–पान, वेशभूषा, घरेलू सामान आदि आते है।

अभौतिक संस्कृति का संबंध आदर्शों, भावनाओं, विचारों व विश्वासों से होता है। संस्कृति की वजह से ही दो जगहों के पर्यावरण में परिवर्तन देखा जाता है। और प्रत्येक देश पा समाज अपनी संस्कृतिक की वजह से ही इसर देश या समाज में अपनी संस्कृति की वजह से ही दूसरे देश या समाज में अपनी जगह पाता है। समय के अनुसार हमें हमारे पर्यावरण में जो बदलाव नजर आता है उसी से प्रभावित होकर संस्कृति में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। हमने भी अपने पूर्वजों से जो ग्रहण किया है उसमें नवीन भाव व विचारों को समाहित करके आने वाली पीढ़ी के लिए नई परम्परा व संस्कृति का निर्माण किया हैं।

संस्कृति –

संस्कृति मानव जाति को अपने पूर्वजों से विरासत के रूप में प्राप्त होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी नवीन संशोधन होते हुए आगे बढ़ती रहती है। देखा जाए तो संस्कृति शब्द दिखने मे जितना छोटा हैं अर्थ में उतना ही व्यापक है। इसे शब्दों के दायरे में गठन करना बहुत कठिन है। पर इसे विस्तृत रूप से जानने से पहले प्रारंभ में इसका शाब्दिक अर्थ समझना अति आवश्यक है विभिन्न रचनाकारों व शब्दकोशों के अन्तर्गत इसे अलग–अलग रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, "मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है।'[1]

2. रामधारी सिंह दिनकर, "संस्कृति जीवन का तरीका है। यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी है यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार करते हैं. वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति यह चीज मानी जाती है जी हमारे जीवन को लादे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है।"[2]

3. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, "संस्कृति का संबंध व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन को रचनात्मक दृष्टि या गति प्रदान करने वाले जीवन मूल्यों से है।'[3]

4. डॉ० राधाकृष्णन, "संस्कृति विवेक बुद्धि का जीवन को भली प्रकार जान लेने का नाम संस्कृति हैं।"[4]

5. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत, "संस्कृति और प्रकृति परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। प्रकृति अतिशय उपया श्रेष्ठता का आधार ही संस्कार या संस्कृति है।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं में संस्कृति को विस्तृत रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृति का संबंध प्रकृति से बताया गया है। मनुष्य के चारों ओर का वातावरण जिसमें उसकी क्रियाएं भी शामिल होती हैं. संस्कृति कहलाती है। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन प्रकृति के साथ जुड़ा है। यह प्रकृति ही संस्कृति होती है। इससे अलग मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं होता। यह व्यक्ति में मनुष्यता की पहचान कराती है। यह सभी के हित से जुड़ी है। किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि सभी के लिए होती है। मानव जीवन को सुख–समृद्धि से भरने में संस्कृति की मुख्य भूमिका होती है।

पर्यावरण (Environment) –

"पर्यावरण शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है चारों तरफ का या कवच पर्यावरण को अंग्रेजी में एनवायरमेंट (Environment) कहा गया है, जिसे कंच से लिया गया है, जिसका अर्थ घेरना अर्थात् जो घेरे हुए है। वास्तव में पर्यावरण एक ऐसी वृहद् व्यवस्था है, जो कि निरंतर परिवर्तनशील है। पर्यावरण में उन सारे तत्त्वों का समावेश है जो जीव–जंतु, पेड़–पौधे एवं मानव जगत का संचालन करते हैं।"[6]

वर्तमान युग में पर्यावरण का अध्ययन प्रकृति वैज्ञानिकों तक ही सीमित नहीं है। अपितु पर्यावरण के विभिन्न घटकों का असीमित दोहन एवं पारिस्थितिक तंत्र के साथ समस्त संसाधनों की सुरक्षा के प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। अतः प्राकृतिक उपकरणों एवं मानवीय क्रियाकलापों के हर पहलू को पर्यावरण से जोड़कर देखा जाने लगा है। इस तरह पर्यावरण अध्ययन को प्रकृति बहुविषयी एवं बहुआयामी बन गई है। पर्यावरण उन सभी दशाओं, प्रणालियों तथा प्रभावों का योग है जो जीवों व उनकी प्रजातियों के विकास, जीवन एवं मृत्यु को प्रभावित करते हैं।

1. (विश्व शब्दकोश) 'समस्त जीवधारियों और उनके संपूर्ण वातावरण के संबंधों का अध्ययन पर्यावरण कहलाता है।'[7]

2. 'जलमंडल (Hydrosphere), स्थलमंडल (Lithosphere) तथा (Atmosphere) मिलकर जीवमंडल (Biosphere) का निर्माण करते हैं। इस जीवमंडल की वायुमंडल ही कुछ वैज्ञानिक पर्यावरण भी कहते हैं।'[8]

3. 'प्रभावकारी दशाओं वाला वह संपूर्ण योग पर्यावरण कहलाता है, जिसमें जीव–जंत रहते।"[9] (टॉसले)

4. 'मनुष्य के संबंध में पर्यावरण से अभिप्राय भूतल पर मानव के चारों ओर फैले उन सभी भौतिक स्वरूपों से है, जिनसे वह निरंतर प्रभावित होते रहता है। "[10] (डॉ. डेविस 'द अर्थ एंड मेन' में)

हिंदू मान्यताओं के अनुसार पर्यावरण एवं पुरुष के संयोग से जीवन विकसित हुआ पर्यावरण मे पृथ्वी को मां व आकाश को पिता की संज्ञा दी गई है। संतानोत्पति में पिता का योग तो होता है परन्तु उसे गर्भ मे एवं बाद में पालक–पोषण का जो कार्य मां करती है उसी के अनुरूप प्रकृति में प्राणी जगत का पालन भी मां पृथ्वी करती है। कभी–कभी दैविक आपदाओं व प्रकृति जन्य बदलाव के कारण मानवीय क्रिया–कलापों के कारण प्रकृति का नियमित चक्र अस्त व्यस्त हो जाता है, जिससे पर्यावरण में असन्तुलन पैदा हो जाता है। इस पर्यावरणीय असन्तुलन की वजह से अनेक ऐसी विसंगति पैदा होती है जिसके कारण बड़ी से बड़ी सभ्यता संस्कृति में अचानक बदलाव आ जाता है। वर्तमान मे देखा जाए तो पेड़–पौधो एव पशु पक्षियों की कई प्रजातियाँ समाप्त हो चुकी है या समाप्त होने के कगार पर है, जिनका प्राचीनकाल में हमारी संस्कृति व पर्यावरण से गहरा सम्बन्ध था।

वर्तमान परिस्थितियां मानव जाति के लिए कठिन चुनौती के रूप में प्रस्तुत है। क्योंकि जिस तेज गति के साथ वह पेड़ों को काट–काटकर भूमि को बंजर बना रहा हैं और कल,कारखानों को स्थापित कर वायु पानी व भूमि को दूषित करके पर्यावरण को जो नुकसान पहुंचा रहा है। उसकी वजह से भारतीय सभ्यता व संस्कृति को भी बड़े पैमाने पर हानि पहुँच रही है।

प्राकृतिक आपदा भयंकर, तूफान, भूकंप, ज्वालमुखी का फटना अति या अनावृष्टि का होना पूरे पर्यावरण के लिए खतरनाक है, इसके साथ ही संस्कृति के लिए भी उतना ही घातक है। सभ्यता को जिन चिह्नों द्वारा आज भी पहचाना जाता है उन चिह्नों ने आधुनिक सभ्यता को सोचने पर विवश कर दिया। कला, साहित्य, संगीत, वास्तुकला भवन निर्माण तथा हस्तशिल्प से लेकर कुछ वैज्ञानिक उपलब्धियां ऐसी भी है। जिन्हें आज का वैज्ञानिक युग आश्चर्य से देखता है।

"आज पूरे विश्व के वैज्ञानिक परंपरागत ऊर्जा के स्त्रोतों की कमी एवं उससे उत्पन्न प्रदूषण को रोकने के लिए ऊर्जा के वैकल्पिक स्त्रोतों को उपयोग में लाने के लिए हुए है। जिनसे न प्रदूषण वृद्धि की संभावना है और न उनके समाप्त होने की। इसके लिए शोध एवं विकास कार्यों में तीव्रता आई है और दूसरी ओर आज के परम्परागत स्रोतों की उपयोगिता को समझते हुए ऊर्जा को पूर्ण क्षमता, मितव्ययता, उपयोगिता और वैज्ञानिक कुशलता के साथ प्रयोग में लाने की आवश्यकता पर भी बल दिया जा रहा हैं।'[11]

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का महत्व– भारतीय संस्कृति मे पर्यावरण का विशेष महत्त्व हैं। पर्यावरण संस्कृति को विभिन्न तरीकों से प्रभावित मे करता है। प्रत्येक संस्कृति में खान–पान, रहन–सहन ज्ञान से लेकर सम्मान, उत्पादन से लेकर उपभोग विचारों को समझने तक हर वस्तु में अलग–अलग तौर तरीकों से मिली–जुली है। भारतीय संस्कृति मे पर्यावरण अपनी सकारात्मक भूमिका निभाता है। मानव और प्रकृति के बीच गहन सम्बन्ध है। शास्त्रों के अनुसार हमारे यहां पेड़–पौधे मे भी देवताओं का वास माना जाता है, एवं उनकी पूजा की जाती है। हमारे यहाँ पत्थर का भी देवता स्वरूप माना जाता है। हमारी यह आस्था हमें संस्कृति के प्रति हमारे सम्मान को प्रकट करती है।

प्रकृति का हमारे साथ हमेशा से ही विशेष महत्व रहा है प्रकृति के विषय मे कहा गया है– इमानि पंचमहाभूतानि पृथिवी, वायुः, आकाश, आप ज्योतिषी।

ब्रह्मांड का निर्माण वेदो के अनुसार पाँच तत्वो के योग से माना गया हैं। जिनमें पृथ्वी, वायु, आकाश, जल एवं अग्नि सम्मिलित है। वेदो के अनुसार ही पृथ्वी को माता और आकाश को पिता तुल्य समझा गया है।

भारतीय संस्कृति का आधार वैदिक युग रहा है और उसका मूल स्त्रोत है वेद। वेदो को पढ़ने से ही ज्ञात होता है, वेदिक काल में पर्यावरण का विशेष महत्व था लोगों का उनके प्रति रुझान था। वे उसकी रक्षा करते थे। प्रकृति को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाई जाती थी। प्राचीन काल में भूमि को ईश्वर के समान पूजा जाता था। वेदों में इसका वर्णन स्पष्ट मिलता है–भूमि जिसकी पाद स्थानीय और अंतरिक्ष उदर के समान है और द्युलोक जिसका मस्तक है, उन सबसे बड़े ब्रह्म को नमस्कार है।

वेदों में प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध एक–दूसरे पर आधारित है। दोनो एक–दूसरे के बिना अधूरे है। पर्यावरण को सुरक्षित रखन हमारा कर्तव्य है। मानव और पर्यावरण का उललेख वेदों मे इस प्रकार किया गया है कि मानव सुख–सुविधा और समृद्धि की अभिलाषा के कारण प्रकृति का विनाश भी कर रहा है। यूं तो मनुष्य अपने लिए पृथ्वी लोक, धुलोक और अन्य शक्तियो की इच्छा करता है लेकिन प्रकृति के प्रति वह लापरवाही भी करता दिखाई देता है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति ने प्रकृति के लिए खतरे बढ़ा दिए हैं।

भारतीय संस्कृति मे वट, पीपल, तुलसी, आँवला आदि वृक्षों की पूजा की जाती है क्योंकि इनके विषय मे धारणा है कि ये पौधे प्रर्याप्त मात्रा मे आक्सीजन छोड़ते है। ये पौधे वाष्प विसर्जन द्वारा वातावरण मे नमी बनाए रखते है जिससे वर्षा होतीहै जो कृषि के लिए विशेष रूप से सहायक हैतथा जो मृदा संरक्षण को रोकते हैं।

पर्यावरण में शुद्धता के लिए वेदों मेंअग्निहोत्र का भी वर्णन एवं विशेष महत्व बताया गया है। इसका कार्य है वायुमण्डल में फैले जहरीले विषाणुओं का अवशोषण करके अग्निहोत्र वातावरण को स्वच्छ एवं शुद्धता प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण की शुद्धता के लिए अग्निहोत्र की विशेषता को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जहाँ सब स्त्री पुरुष एक मन रह कर पुण्यात्मा पुरुषार्थी होकर अग्निहोत्र करते हैं– कुकृतामग्निहोत्रहुतां अर्थात् वेद मंत्रों से अग्नि में मिष्ट सुगन्ध द्रव्य चढ़ा कर वायु शुद्धि करते है और अग्नि विद्या द्वारा अग्नि नौका, अग्नियान विमान रचते हैं, वहाँ सुमति के निवास से सब जन आनन्द भोगते हैं। यह वायुमण्डल को शुद्ध करता है।

वेदों में पर्यावरण के संरक्षण के महत्व के लिए मानव में सत्य, संकल्प, ज्ञान, तप एवं त्याग जैसे गुणों का होना भी आवश्यक है। भारतीय संस्कृति का महत्व तभी स्पष्ट होता है जब वहां के नागरिकों के अंदर गुण विद्यमान होंगे तभी वह पर्यावरण को शुद्ध बना पाएंगे। स्थलमंडल को पृथ्वी का ठोस भाग माना जाता है। ब्रह्मांड का 29 प्रतिशत भाग भूमि पर रहता है। पृथ्वी तो रसायनों का घर माना जाता है। स्वच्छ पर्यावरण केवल मानव जाति के लिए आवश्यक नहीं होता बल्कि वह कृषि एवं भूमि के लिए भी आवश्यक माना जाता है। अथर्ववेद के 12वें खण्ड के प्रथम सूक्त में पृथ्वी का महत्व स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि : माता भूमिः पुत्रो अहं पृथित्याः।

अर्थात् सभी प्राणियों को पृथ्वी का पुत्र कहा गया है। बढ़ती जनसंख्या की खाद्य समस्या मिट्टी के प्रदूषण से फैली है जो मानव जाति के लिए सर्वथा हानिकारक बनी रहेगी। हमें वेदों में निहित भावना को अपने जीवन का आधार मानकर पर्यावरण का संरक्षण करना चाहिए।

स्थल मण्डल के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए हरिकृष्ण निगम लिखते हैं कि–"भूतल के निचले स्तर में रासायनिक द्रव्य या औद्योगिक उत्सृत की मिलावट बढ़ती जा रही है। प्रमाणिक कचरा, तेजाबी वर्षा और वायुमंडल में लगातार बढ़ रही कार्बन डाइऑक्साइड के परिणामस्वरुप मनुष्य के लिए नया प्रदूषण संकट पैदा हो चुका है। ग्रीन हाउस प्रभाव वायुमंडल में ओजोन का बढ़ता छेद, समुद्री जल का शनै– शनै उष्ण होना और उसमें बार–बार तेल और रासायनिक बहिःस्त्राव होना, अब ये किताबी बातें नहीं रह गई।"[12]

स्थल मंडल की तरह जलमंडल एवं वायुमंडल का भी अपना विशेष महत्व है। पृथ्वी का लगभग तीन चौथाई भाग जल है। वेदों में कहा गया है कि पृथ्वी पर जल निरन्तर बहता रहे तो वर्षा भी होगी जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ेगी। वायुमंडल का भी अपना विशेष महत्व है। व्यक्ति वायु के बिना एक पल भी नहीं रह सकता है। पर्यावरण के तीनों मंडलों का प्राणी जगत के जीवन के लिए उपयोगी है। ये तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इन तीनों से ऊर्जा प्राप्त कर हम पर्यावरण का संरक्षण कर पाएंगे तथा हमारी भूमि को शुद्ध एवं स्वच्छ बना पाएंगे। किसी भी देश की संस्कृति का महत्व उसके पर्यावरण पर ही आधारित होता है जहां का पर्यावरण शुद्ध है वहां की संस्कृति को भी अनुपम माना जाता है।

डॉ० रामसजन पाण्डेय लिखते हैं कि, "संस्कृति एक अनवरत प्रभाव है। वस्तु भौतिकता से संपृक्त होती है, यह सापेक्षिकता की स्थिति में संस्कृति होती है और उससे निरपेक्ष भी तथा निरपेक्ष स्थिति में वह भौतिकता से उपरत होकर उच्च मानवीय मूल्यों की सम्प्रासरिका होती है इसलिए संस्कृति को जीवन मूल्यों का सम्परेषिका– सधारिका कहा गया है।"[13]

निष्कर्ष : प्राचीन भारतीय धर्ममूल्यों, ऋषि–मुनियों ने पर्यावरण के संरक्षण के लिए संवेदनशीलता का संदेश दिया है। उन्होंने जन–जन तक पर्यावरण के महत्व के बारे में महत्वपूर्ण कार्य किए हैं जिससे भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का संबंध बना रहे और यह संबंध शुद्ध एवं स्वस्थ हो। उन्होंने बताया है कि पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए हमें प्रकृति का विशेष ध्यान रखना होगा। हम प्रकृति के घटकों का दुरुपयोग न करके उनका सदुपयोग करेंगे तभी हम उनका संरक्षण कर पाएंगे। अतः भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का हमेशा ही महत्व रहा है और रहेगा तभी हमारी भारतीय संस्कृति फले और फुलेगी, क्योंकि मानव एवं प्रकृति का घनिष्ठ संबंध है न तो मानव ही प्रकृति के बिना रह सकता है और प्रकृति का सुधार भी मानव पर आधारित है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :-

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ० संख्या 68
2. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ संख्या 53
3. डॉ० हरीश चंद्र वर्मा, साहित्य चिंतन के नए आयाम, पृष्ठ संख्या 113
4. डॉ० भक्तराज शास्त्री, आधुनिक हिंदी काव्य और संस्कृति, पृष्ठ संख्या 79
5. डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल, संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ संख्या 1
6. के. एल. तिवारी, एस. के. यादव, पर्यावरण विज्ञान, पृ० संख्या3
7. वही 8. वहीं 9. वहीं
10. वहीं, पृ० संख्या 2
11. https://m_hindi.indiawaterportal.org
12. हरिकृष्ण निगम, नई सहस्त्रादि आज के प्रश्न और सम्भावित समाधान, पृ० संख्या 55
13. डॉ. रामसजन पाण्डेय, संस्कृति और सौन्दर्य, पृ० 10–11

Ph. 9817323108,
Email : annisharma1251@gmail.com

www.bohalshodhmanjusha.com
Impact Factor : 5.642

Bohal Shodh Manjusha ISSN : 2395-7115
November 2022 Page No. : 313-314

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

भारतीय व्रत–त्योहारों का सास्कृतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ. माया दुबे
भोपाल, मध्य प्रदेश।

भारत त्योहारों का देश है। 12 महीने कोई न कोई त्योहार मनाते है। सास्कृतिक दृष्टि से भी ये त्योहार अपना अलग महत्व रखते है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक चिन्तन–मनन की भावना मूल है, जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव संस्कारों मे बंधा है। 16 संस्कार, आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ चतुष्टय, सभी संस्कारों को पुष्ट करते है। नामकरण, मुन्डन, जनेऊ, समावर्तन, विवाह और अन्त में अन्तिम संस्कार। सभी का जीवन यापन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ वैज्ञानिक ढ़ंग से जीवनयापन के लिए बनाया गया है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास ये चार आश्रम मानव जीवन को चार भागों में बांटकर वैज्ञानिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है। इतना सुन्दर जीवन का विभाजन तथा व्याख्या कही और नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक चिन्तन–नमन तथा वैज्ञानिक सोच का सुन्दर सम्मिश्रण है।

जहाँ तक भारतीय व्रत–त्योहारों का सास्कृतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, बहुत ही अद्भुत है। हम सभी जानते है समाज में सभी वर्ग के लोग रहते है, सभी ग्यानी नही है, उनके साथ कैसे सामंजस्य बैठाया जायें इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमारे ग्यानी मनीषियों ने व्रत को धर्म एवं पर्यावरण संरक्षण के साथ जोड़ दिया।

लोग खाना बनाने के लिए वृक्षों को न काट दे, मानव बहुत लालची प्राणी है, उसकी दोहन की हवस बहुत ज्यादा है, यही कारण है जो आज महामारी के रूप में झेलनी पड़ रही है। ये बात हमारे मनीषियों ने समझ लिया था, इसीलिए कुछ वृक्षो को देव वृक्ष की संग्या से अभिहित किया–पीपल, बरगद, आम, वेल, नीम, आंवला, आदि।

इन्हें काटने पर पुत्र हत्या का दोष लगेगा, इसप्रकार धार्मिक रूढ़ियाँ और मान्यताओं के आधार पर वृक्ष की कटाई रोकने का कार्य किया गया। वैज्ञानिक दृष्टिकोण हम सभी जानते है वृक्ष आक्सीजन के स्रोत है, जीवन के लिए कितने जरूरी है। इन्हें किसी तरह बचाना है, व्रत मे वृक्ष की पूजा–अर्चना का विधान इसी लिए किया गया है।

एक–एक वृक्ष को अलग–अलग देवी–देवताओं से जोङ कर उन्हें संरक्षित रखते का प्रयास किया गया है। अतः भारतीय व्रत–त्योहारों के पीछे गूढ वैज्ञानिक भावना छिपी है, अरबों की आबादी वाला देश धर्म के माध्यम से लोगों को विज्ञान से जोड़ता है, व्रत–त्योहारों के द्वारा।

चैत्र से लेकर फाल्गुन तक, प्रतिमाह आने वाले व्रत ऐसे ही नही है, सबके पीछे वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। चैत्र माह मे जब मौसम बदलता है, मनुष्य की जठराग्नि कमजोर हो जाती है, तब नौ दिन का नवरात्रि व्रत से पाचन क्रिया सही की जाती है, आध्यात्मिक चिन्तन बढ़ता है, मन एवं शरीर दोनों का संतुलन बनता है। सावन–भादों के व्रत–त्योहारों का सीधा सम्बन्ध प्रकृति संरक्षण से है।

सावन सोमवार प्रकृति के देवता शिव को समर्पित है। वेल, तुलसी, शमी के पौधों का दान, रोपण प्रकृति की सुरक्षा के लिए जरूरी है। चौथ, छठ, सन्तान सप्तमी, अष्टमी का व्रत पुत्र की सुरक्षा से जोड़कर, प्रकृति संरक्षण ही है। क्वार मे पुनः मौसम बदलने पर नौ दिन का वैज्ञानिक रूप से व्रत शुद्धि करण के लिए, कार्तिक में घर की रंगाई–पुताई से वारिस में आये कीड़ों से घर की सफाई होती है, स्वच्छतापूर्ण वातावरण हो जाता है, लक्ष्मी पूजन मे नये अनाज का उल्लास मनाया जाता है। होली मन की कुन्ठाओं को दूर करने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण लिए है। मानव बन्धन मे कुन्ठित हो जाता है, इसलिए रंग–उत्सव के माध्यम से एक दिन खुलकर रंग–गुलाल, उड़ाता है। गाँव में गाली गाने की परम्परा है, देवर–भौजाई की हँसी–ठिठोली होती है। इस प्रकार मानव की जो आदिम वृत्ति है पशुवत बिना रोक–टोंक का जीवन। होली के पर्व के बहाने मनाते है, कितनी वैज्ञानिक सोच है। कुन्ठा बिहिन होने की भी भारतीय त्योहार मे व्यवस्था है।

इस प्रकार जब हम चिन्तन करेगे तो भारतीय सभी व्रत–त्योहारों, में गंभीर चिंतन, जीवन–पद्धति के दर्शन होगे। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक चिन्तन–नमन तथा वैज्ञानिक सोच का सुन्दर सम्मिश्रण है।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्।। ऋ० १/८९/२

ISSN : 2395-7115

बोहल शोध मञ्जूषा

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED & REFEREED
MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES RESEARCH JOURNAL

Publisher : Gugan Ram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

Table 2

Methodology for University and College Teachers for calculating Academic/Research Score

(Assessment must be based on evidence produced by the teacher such as: copy of publications, project sanction letter, utilization and completion certificates issued by the University and acknowledgements for patent filing and approval letters, students' Ph.D. award letter, etc,.)

S.N.	Academic/Research Activity	Faculty of Sciences /Engineering / Agriculture / Medical /Veterinary Sciences	Faculty of Languages / Humanities / Arts / Social Sciences / Library /Education / Physical Education / Commerce / Management & other related disciplines
1.	**Research Papers in Peer-Reviewed or UGC listed Journals**	08 per paper	10 per paper
2.	**Publications (other than Research papers)**		
	(a) Books authored which are published by ;		
	International publishers	12	12
	National Publishers	10	10
	Chapter in Edited Book	05	05
	Editor of Book by International Publisher	10	10
	Editor of Book by National Publisher	08	08
	(b) Translation works in Indian and Foreign Languages by qualified faculties		
	Chapter or Research paper	03	03
	Book	08	08
3.	**Creation of ICT mediated Teaching Learning pedagogy and content and development of new and innovative courses and curricula**		
	(a) Development of Innovative pedagogy	05	05
	(b) Design of new curricula and courses	02 per curricula/course	02 per curricula/course

PRINTED MATTER/PRINTING BOOK CLAUSE 121 (A) P & T GUIDE

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक गुगनराम सोसायटी रजि. के लिए डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट ने मनभावन प्रिन्टर्ज, भिवानी से छपवाकर गीना प्रकाशन, 202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड भिवानी-127021 (हरि.) से वितरित की।

ISSN 2395:7115